

## अकादेमी के अन्य हिन्दी-प्रकाशन

( मूल भाषाओं के नाम कोष्ठक में अंकित हैं )

१. भारतीय कविता (१९५३)	(भारत की १४ भाषाओं की कविताओं का लिप्यन्तर और अनुवाद)	५.००
२. केरल सिंह (मलयालम)	का० मा० पण्डितकर	३.००
३. भगवान् बुद्ध (मराठी)	धर्मनिन्द कोसम्बी	५.००
४. कांदीद् (फ्रेंच)	वाल्तेयर	२.००
५. दो सेर धान (मलयालम)	तकपी शिवशंकर पिल्लै	२.००
६. मिट्टी का पुतला (उड़िया)	कालिन्दीचरण पाणिग्राही	२.००
७. आरण्यक (बंगला)	विभूतिभूषण बघोपाध्याय	४.००
८. गोंजी की कहानी (जापानी)	मुरासा की शिकाबू	४.५०
९. आरोग्य निकेतन (बंगला)	ताराशंकर बघोपाध्याय	६.००
१०. अमृत संतान (उड़िया)	गोपीनाथ महान्ती	१२.००
११. आदमखोर (पंजाबी)	नानकगिह	५.००
१२. वैदिक सस्कृति का विकास (मराठी)	लक्ष्मण शास्त्री जोशी	५.५०
१३. क्या यही सभ्यता है? (बंगला)	भाइकेल मधुसूदन दत्त	१.५०
१४. नारायण राव (तेलुगु)	अडवि बापिराजू	६.००
१५. आज का भारतीय साहित्य (भारत की १६ भाषाओं के साहित्य का परिचय)		७.००
१६. जीवो (गुजराती)	पद्मात्मान पटेल	४.५०
१७. भग्नमूर्ति (मराठी)	अनिल	१.००
१८. एकोत्तर शती (बंगला)	रवीन्द्रनाथ ठाकुर	८.००
१९. चिलिका (उड़िया)	राधानाथ राय	१.५०
२०. मिरातुल अहस (उर्दू)	नज़ीर अहमद	५.००
२१. छेँ बीघा जमीन (उड़िया)	फकीर मोहन सेनापति	३.००
२२. मीरी बिरिया (असमिया)	रजनीकान्त बरदलै	२.००
२३. मट्टुघारे (मलयालम)	तकपी शिवशंकर पिल्लै	३.५०

# का सामाजिक इतिहास

मूल तेलुगु लेखक  
सुरवरम् प्रताप रेड्डी

अनुवादक  
भार० वैकट राव,



साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली

**Andhra Ka Samajik Itihās** Translation in Hindi of the Telugu  
'Andhrula Sanghika Charitramu' by Suravaram Pratap Reddi  
*Sahitya Akademi, New Delhi (1959). Price : Rs 6.00*

प्रकाशक :

© साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली

एकाधिकारी वितरक :

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि०, दिल्ली

मुद्रक :

श्री गोपीनाथ सेठ,  
नवीन प्रेस, दिल्ली

मूल्य :

छं रुपये

## क्रम

भूमिका	१
द्वितीय संस्करण	१७
हमारे दावे-परदावे	२१
पूर्व-चानुसंध युग	२५
कार्त्तवीर्य युग	४५
रेड्डी राजाओं का युग	१०८
विजयनगर साम्राज्य-काल	२१०
विजयनगर राज	२६७
सन् १६६० से १७५७ तक	३७२
सन् १७५७ से १८५७ तक	३६६
हिन्दुस्तानी तलवार	४३३



## भूमिका

“हिन्दू जाति प्राचीन काल से आध्यात्मिक विचार-मागर में ही गते लगी रही है। उसने सांसारिक विषयों में कभी कोई सरोकार नहीं रखा। इसीलिए हिन्दुस्तान में इतिहास को लेखवद्ध करने की प्रथा ही नहीं रही।” पाश्चात्य विद्वानों द्वारा हम पर इस प्रकार के लाक्षणिक प्रायः ही लगाये जाते रहे हैं। किन्तु बाद में उन्हींके अनुमन्धानों से हमें अनगिनत ऐतिहासिक ग्रन्थों की उपलब्धि हुई। अनेक पुस्तकों का पता तो उन विद्वानों को आज तक भी नहीं लग सका है। मुस्लिम विजेताओं ने यहाँ के मन्दिरों, विद्यापीठों और पुस्तकालयों को नष्ट-ध्रष्ट करके यहाँ की पुस्तकें भी आग के हवाले कर दी थीं। इस प्रकार हमारे इतिहास को अपार हानि पहुँची है।

पाश्चात्य लेखकों ने आज तक जितने भी इतिहास लिखे हैं, वे राजाओं और सम्राटों की कहानियाँ-मात्र हैं। अष्टम हैनरी की सात पत्नियाँ थीं, तीस वर्षीय युद्ध अमुक-अमुक तिथियों में लड़ा गया, इस की साम्राज्ञी कैथरिन के इतने उपपति थे, हिन्दुस्तान के इतिहास में सन १७४८ ईसवी महत्त्वपूर्ण है, इत्यादि-इत्यादि। अपने इतिहासों में वे प्रायः ऐसी ही बातें लिखेंगे और इनमें कोई भूल उन्हें स्वीकार्य नहीं होगी। पर प्रश्न तो यह है कि इन बातों में हमें क्या लाभ? राजाओं-महाराजाओं के युद्धों, पद्धतियों और उत्पातों ने तो समाज की हानि ही की है, कोई लाभ नहीं। इस तथ्य को पाश्चात्य पंडितों ने अभी-अभी पहचाना है। अब वे सामाजिक इतिहास को अधिक महत्त्व देने लगे हैं।

इतिहास के लिखने की सही पद्धति भी यही है ।

राजाओं और सम्राटों के इतिहास का हमारे साथ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है । पर सामाजिक इतिहास पूर्णतया हम ही से सम्बद्ध है । यह हमारे पूर्वजों का वह इतिहास है जो हमें बताता है कि हमारे दादे-परदादे कैसे लोग थे, हमारी नानियाँ-दादियाँ कैसे रहने पहनती थीं, हमारे पुरखे किन-किन देवताओं को पूजते थे, उनकी मान्यताएँ क्या थीं, कैसे खेल-नूद या नाच-गानों में उनका मनोरञ्जन होता था, राजा-महाराजा जब लूट-मार मचाते तो वे अपनी जान-माल की रक्षा कैसे करते थे, देश में अवाल पड़ने पर अपने प्राण कैसे बचाते थे, किन रोगों का क्या इलाज करते थे, किन कलाओं में उनकी अभिरुचि थी, किन देशों से उनके व्यापार-सम्बन्ध थे, आदि-आदि । अपने पूर्वजों के सम्बन्ध में ये और ऐसी अनक बातें जानने की उत्सुकता हमें होती है । आने वाली पीढ़ियाँ हमारे बारे में भी ऐसी ही बातें जानना चाहेगी ।

माराण यह कि सामाजिक इतिहास ही हमारा सच्चा इतिहास है । इसमें हमारा भी स्थान है । अलाउद्दीन गिलजी, औरंगज़ेब या आसफ-जाह के इतिहास से हमारा यह इतिहास गौण कैसे गिना जा सकता है ? उनकी तरह उत्पात न मचाने के कारण हम तो शायद उनमें लाग दरजा भन्ने हैं ।

सामाजिक इतिहास मानव-मात्र का इतिहास है । जनता का इतिहास है । हमारी अपनी कहानी है । यह तो हमें सामाजिक इतिहास ही बता मन्ता है कि अमुक प्रती में जन-साधारण का जीवन कैसा रहा ? यह तो हमें सामाजिक इतिहास ही बता मन्ता है कि अमुक पीढ़ी के हमारे पुरखों के घर-बार, गान-पान, रहन-सहन, वेश-भूषा, खेल-नूद, नाच-गान आदि क्या और कैसे थे, उन्होंने कैसे-कैसे सुख भोगे, क्या-क्या दुःख भोगे, हमारे लिए क्या-क्या अच्छादर्याँ-बुरादर्याँ छोड़ गए आदि । और ये ही वे बातें हैं जो हमारे जीवन के निर्माण में महायक होती हैं ।

अंगरेजों ने अपने देश का सामाजिक इतिहास आज से कोई दो सौ साल पहले ही लिख डाला था। तब से अब तक इस विषय पर बहुत-से व्यक्तियों ने कितनी ही सारी पुस्तकें लिखी हैं। इन पुस्तकों में इस बात को प्रकट करने वाले ऐसे कितने ही चित्र भरे पड़े हैं कि पांच सौ पढ़ने के उनके पुराने कैंसे लोग ये, उनके उद्यम क्या थे, आदि। उन्होंने अपनी जानि के ही नहीं, ममार-भर की अन्य जानियों के इतिहास भी प्रकाशित किये हैं। भारत के भील आदि आदिम जातियों के बारे में, अफ्रीका के काफ़िरो आदि के बारे में, प्रसन्न महामागर के कनिषप द्वीपों के निवासी नर-भक्षी राष्ट्रों के बारे में, उत्तरी ध्रुव की छमाही रात और छमाही दिन के एक दिवनीय वर्ष-चक्र में जीवन बिताने वाले एस्किमो लोगों के बारे में और ऐसी ही सन-महल जानियों के बारे में जानकारी पाने के लिए हमें उसी 'आग्ल भाषा शारदनीरदेंदु शारदा' की उपासना करनी होगी। अंगरेजी साहित्य में सर्वज्ञता है। उसमें सभी चीजें भरी पड़ी हैं। 'स्टोरी आफ आल नेशन्स' के नाम से नसार की समस्त मानव-जातियों का इतिहास अंगरेजी में ही लिखा गया है। अनेक सचित्र मपुटो में इस महान् ग्रन्थ को प्रकाशित हुए जमाना गुजर चुका है। लेकिन हमने और नहीं तो क्या कम-से-कम उमीको तेलुगु भाषा में प्रकाशित किया ? क्या भारत की किसी और भाषा में उसका अनुवाद हुआ ?

हमारे स्कूलों में छात्रों को जो इतिहास पढ़ाये जाते हैं, उनमें अनेक कल्प भरे पड़े हैं। मानो दूध में ही विषमुष्टि का योग हो। अंगरेजों ने जो इतिहास लिखे, वे अपनी महत्ता और हमारी लज्जा दरमाने हुए लिखे। पहले भी 'फरिश्ता' नाम के मुसलमान लेखक ने अपने इतिहास में भूड की भरमार कर दी थी। बाबर ने भी हिन्दुत्व-विरोधी भावना में लिखा। उस्मानिया विश्वविद्यालय में छोटी बक्षाओं में बी० ए० तब के छात्र श्री हासमी द्वारा लिखी हिन्दू-द्वेष में भरी हिन्दुस्तान की तारीखें पढ़ने आ रहे हैं। स्वधर्माभिमानों हिन्दू-लेखकों ने भी यही ढग अपनाया और निम्न मारा कि हमारे पूर्वज संसार में सर्वश्रेष्ठ थे। ये सभी



इतिहास पक्षपात से भ्रोत-भ्रोत हैं और इनमें से कोई भी हमारे आदर का अधिकारी नहीं। इधर कुछ राष्ट्रीय नेताओं ने उन इतिहासों की आलोचना करके देश का सच्चा इतिहास लिखने के लिए लेखकों को प्रोत्साहित किया है। गुप्त-काल का इतिहास प्रकाशित भी हुआ है। यह एक आदर्श इतिहास है। इसी साल यानी सन् १९४६ ईसवी में प्रकाशित श्री मल्लपल्लि सोमशेखर शर्मा की अंगरेजी पुस्तक 'रेड्डी राज्य-इतिहास' (हिस्ट्री ऑफ रेड्डी किंगडम्स) भी इसी कोटि का ग्रन्थ-रत्न है।

भारत के गोंड, भील, मुण्डा, सथाल, नागा आदि आदिवासियों के सम्बन्ध में भी कई पुस्तकें हैं। यस्टन नामक लेखक ने 'दक्षिण भारत के जात-पात और कबीले' (कास्ट्स एण्ड ट्राइब्स ऑफ साउथ इंडिया) के नाम से एक ग्रन्थ सात भागों में प्रकाशित किया। सिराजुल हसन ने हैदराबाद की जातियों पर एक बड़ी-सी पोथी छपवाई। एक बगाली सज्जन ने 'प्राचीन भारत के कबीले' (ट्राइब्स ऑफ एशेंट इंडिया) नाम की पुस्तक लिखी। इस प्रकार कुछ पुस्तकें प्रकाशित तो हुईं, किन्तु देश के समग्र सामाजिक इतिहास पर कुछ लिखने का कष्ट किसी ने भी नहीं किया।

तेलुगु भाषा में तो सामाजिक इतिहास है ही नहीं। लगता है, कुछ व्यक्ति लिखने का निश्चय कर चुके हैं। चिलुकूर वीरभद्रराव जी ने अपने भ्रान्ध-इतिहास के 'बेलमा वीरलला चरित्र' (बेलम वीरो का इतिहास) नामक अध्याय के आरम्भ में लिखा है:

"भ्रान्ध जाति का सामाजिक इतिहास अलग से प्रकाशित हो रहा है। इसीलिए यहाँ इस विषय में (अर्थात् बेलम जाति के विषय में) विस्तृत चर्चा नहीं की जा रही।"

यह सामाजिक इतिहास उन्होंने शायद लिखा ही नहीं। सम्भवतः लिखने का विचार उनका प्रवश्य था। इन सिद्धहस्त वीरभद्र जी की पुस्तक हमने नहीं देखी। इसी तरह कई और सज्जन भी सामाजिक इतिहास लिखना चाहते थे। 'भ्रान्ध इतिहास अनुसन्धान मण्डल' के मुख-

में श्री नेलदूर वेंटरमण्य्या का एक अंगरेजी निबन्ध मन् १९३८ ई०  
 छपा था। इस पुस्तक का चौथा अध्याय लिखते समय मुझे इस निबन्ध  
 को देखने का अवसर मिला था। उन्होंने भी उन्ही सिद्धान्तों का प्रतिपादन  
 किया था, जिन्हें मैंने अपनी पुस्तक में अपनाया था। श्री मत्तपल्लि  
 ने भी 'रेड्डी राज्य-इतिहास' के सामाजिक इतिहास  
 वाले भाग में इसी पद्धति का अनुसरण किया है। श्री पेंदपाटि एरंनार्यं  
 ने 'मल्हण चरित्र काव्य' की भूमिका में लिखा है :

“कृष्णराय के बाद आन्ध्र जाति का पौरव्य-विकास ज्यों-ज्यों क्षीण  
 होता गया, त्यों-त्यों लोगों की सांस्कृतिक अभिरुचि भी कुण्ठित होती  
 गई। उस समय कोई वैसे उत्कृष्ट काव्य का सृजन तो नहीं हुआ, पर जो  
 भी हुआ, वह उस काल के सामाजिक जीवन तथा जनता की रुचियों का  
 वास्तविक प्रतिबिम्ब है। इस दृष्टि से देखने पर यह बात हमारे लिए  
 स्पष्ट हो जायगी कि रचना चाहे जिस किसी भी कवि की क्यों न हो,  
 उसे सुरक्षित रखना हमारा पावन कर्तव्य है।”

हमारे पूर्वजों के सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में बहुतों ने, विशेषत  
 'क्रीडाभिराममु' के आधार पर निबन्ध लिखे हैं। किन्तु आन्ध्र जाति  
 का समग्र इतिहास अभी तक प्रकाश में नहीं आ पाया। सन् १९२६ ई०  
 में हैदराबाद के 'सुजाना' नामक मासिक पत्र में मैंने एक लेख लिखा था,  
 जिसका शीर्षक था, 'तेनालि रामकृष्ण के समय आन्ध्र जाति का  
 सामाजिक जीवन'। उसमें मैंने केवल 'पादुरग माहात्म्यमु' में वर्णित  
 विषयों की ही विवेचना समय तथा संदर्भ के आधार पर की थी और इस  
 सम्बन्ध में अपने विचार लिखे थे। यही पद्धति मुझे ठीक जैसी। उसी  
 लीक पर चलकर मैंने आन्ध्र के सामाजिक जीवन पर यदा-वदा और  
 भी कई लेख लिखे। ये लेख 'कृष्णराय कालीन सामाजिक इतिहास',  
 'कदिरोपति कालीन सामाजिक इतिहास', 'रेड्डी-युगीन सामाजिक  
 इतिहास', 'आन्ध्र दत्तकुमार चरित्रमु द्वारा मूचित आन्ध्र देश का  
 सामाजिक इतिहास' आदि शीर्षकों से छपे। प्रस्तुत पुस्तक उन्ही लेखों

का परिणाम है ।

बारह वर्ष पहले आन्ध्र महासभा के वार्षिक अधिवेशन में एक विवाद उठा था कि 'आन्ध्र जाति का पृथक् सामाजिक इतिहास क्यों ? भारतीय हिन्दू संस्कृति से आन्ध्र संस्कृति कोई भिन्न थोड़े ही है ?' इसी मिलसिले में सन् १९३७ में 'आन्ध्र संस्कृति' शीर्षक में एक लेख प्रकाशित हुआ था, जिसमें मैंने लिखा था :

“आन्ध्रत्वमाधभाषा च नाल्पस्य तपसः फलम् ।”

यह उक्ति तमिळ पंडित श्री अम्पय (रु)<sup>१</sup> दीक्षित की है । इन प्रख्यात तमिळ विद्वान् ने याज्ञ से कोई तील सी वर्ष पहले ही आन्ध्रत्व की भिन्नता का अनुभव कर लिया था । 'संस्कृति' का अर्थ है 'नागरिकता' (सभ्यता), साहित्य, ललित कला, 'सभ्यता' (सदाचार) तथा दैनंदिन अभ्युन्नति के अन्य अनेक उत्तम गुणों के मेल से उत्पन्न विशिष्टता । इसमें सन्देह नहीं कि आन्ध्र जाति की अपनी एक विशिष्ट संस्कृति है । किसी आन्ध्र, तमिल, बंगाली या पठान को देखते ही यह पता चल जाना है कि कौन क्या है ? जमा क्यों होता है ? विशिष्ट वेश-भूषण में ही तो ? तभी तो 'सकल भाषावागनुशासन' में कहा है कि : स्वस्थान वेषभाषाभिमतान्संतो रसप्रबुद्ध धियः । आन्ध्र जाति में उनकी अपनी भाषा, उस भाषा की विशिष्टता, उसके अपने विचार, शिल्प, कला, लोक-गीत, लोक-गाथाएँ, मान्यताएँ, सामाजिक परम्पराएँ आदि धन्य कर ली जायें तो आन्ध्र का आन्ध्रत्व कहाँ रह जाता है ? फिर तो यह बल ही जगनी जानियों की श्रेणी में जा खड़ी होगी । अन्य जानियों की उत्तम कलाएँ अपनाकर भी उन्हें अपने रंग में रँग लेना और नया रूप दे देना ही सभ्यता की निशानी है । विजयनगर के सम्राट् और मदुरा तथा तंजौर के नायक राजाओं ने हिन्दू-मुस्लिम शिल्प-कला के मेल में आन्ध्र-शिल्प का विकास किया था । आन्ध्रों ने अपनी भाषा

१. तमिळ में नामों के आगे आदरार्थक 'रु' प्रत्यय लगता है ।

का मिठास घोलकर 'वर्णाटिक सगीत' के नाम से विख्यात सगीत-कला को पूरे दक्षिण भारत में फैला दिया। केरल के कथाकळी नृत्य, गुजरात के गर्भ नृत्य<sup>१</sup>, उत्तर भारत की रामलीला और बरथक नृत्य, असम के मणिपुरी नृत्य आदि विशिष्ट वैविध्यों से युक्त नृत्य-कलाओं ने जिस प्रकार भारत के विविध प्रदेशों में अपना विशेष स्थान प्राप्त कर लिया है, उसी प्रकार आन्ध्र में भी कूचिपूडि भागवतों द्वारा परिरक्षित 'भागवत नृत्य' की कला अपना विशिष्ट स्थान रखती है। बरगल जिले में रामप्प 'गुडि' (मंदिर) के नृत्य-शिल्प जायसैनानी की कृति 'नृत्य-रत्नाकर' के मजीब उदाहरण हैं।

सभी हिन्दू-पर्व एक-जैसे नहीं होते। उत्तर वालों के लिए वसंत पंचमी और होली प्रत्येकाभिमत (खास) पर्व हैं, तो तमिलनाडु में 'पोगल्' का पर्व प्रधान है। वैसे ही आन्ध्र में भी 'उगादि' (चैत सुदी प्रतिपदा) और 'एम्बाकै' (जिठ पूनम) बड़े पर्व हैं।

भारत के विविध प्रदेशों में विविध खेल खेले जाते हैं। 'उप्पनै वट्टेलाट' (नमक चोर) और चिल्लगोडे (गिल्मी-डडा) तेलगों की रवि के खेल हैं। नाचनै सोम ने कहा है : "उप्पनै वट्टे खेलने दृष्ट्वा यादव नमक लायेंगे"<sup>२</sup> 'पुलिञ्जदमु' (शिर-बकरी) और दोम्मरि (नट) के खेल भी आन्ध्र के ही हैं।

ये ही वे कुछ विचार हैं, जो मैंने तब लिखे थे। मेरे उन विचारों में अब तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ, बल्कि वे आज और भी अधिक दृढ़ हो गए हैं।

हिमालय से कन्याकुमारी तक हमें पग-पग पर विभिन्न भाषा-भाषियों में भिन्नता मिलेगी। मलयाली, तमिळ, मराठी, मारवाटी, पंजाबी, बंगाली, मक्की वेश-भूषा अलग है। भाषा सबकी भिन्न है। आहार-विहार सबके पृथक्-पृथक् हैं। मलयाली को चावल तथा नारियल

१. गरबा।

२. उप्पु—नमक।

के सिवाय और कुछ भी नहीं रचता । तमिळ के लिए भात के माप इमली-मानी चाहिए । महाराष्ट्र की ज्वार प्रसिद्ध है । बंगाली को मछली-भात अधिक भाता है । काश्मीर का ब्राह्मण भी मास के बिना तृप्त नहीं होता । इस तरह के अनेक कारणों से ग्रान्थ की भी अपनी एक अलग सम्यता है । इसमें इन्कार नहीं किया जा सकता ।

राजाओं-महाराजाओं के राज्य-विस्तार पर लिखना सरल है । किन्तु सारे समाज के इतिहास पर कलम उठाना कठिन काम है । इसके लिए आवश्यक सामग्री का अभाव है । सारस्वत (साहित्य), शासन (शिला-लेख), 'कैफियतें' (स्थानीय लेखाएँ), विदेही यात्रियों के सस्मरण, गिल्फ, चित्रकारी, सिक्के, कहावतें, इतर वाङ्मय (अन्यभाषीय साहित्य) की सूचनाएँ दानपत्र, लोकोक्तियाँ, लोक-गाथाएँ, लोक-गीत, पुरातत्त्व संग्रहालय, प्राचीन अवशेष आदि वस्तुएँ ही सामाजिक इतिहास को जानने के लिए काम की चीजें होती हैं ।

वाक्य-प्रबन्धों में से १० प्रतिशत तो सामाजिक इतिहास के लिए निरर्थक होते हैं । पुराण तथा मध्यकालीन साहित्य भी हमारे काम की वस्तु नहीं । ऐसे कितने ही महाकवि हैं जो 'वसु-चरित्र' और 'मनु चरित्र'-जैसी महान् कृतियाँ छोड़ गए हैं, पर ऐसी कृतियाँ इस काम में सहायक नहीं हो सकती ।

“केळी नटद्गेह केकिकेकारवोन्मेयंबु चेबुल देनिपुलु चिलुक ।”  
कविकर्णरसायनम् ।

अर्थात्

“केलि-नाच नाच रहे पासतू मयूरो के

उन्मेय प्राप्त मिष्ट केका-रव

ढाल-ढाल जाते हैं कानों के कुहरों में

मधुर-मधुर मधु के मादक प्राप्त ।”

पर यह वर्षा-वर्णन हमारे किस काम का ? इसके विपरीत इसी वर्षा ऋतु के सम्बन्ध में :

“चरवाहे ग्वाले शिला-खण्ड शय्या पर  
सोये ‘गोंगडि’ छोड़े ‘बंदार’ बिछाकर ।”<sup>१</sup>

जैसे वर्णन हमारे लिए बड़े ही महत्त्व के हैं। इसी प्रकार :

“काविरंग<sup>२</sup> घवलांशुक के आभोग भेद कर  
रक्तिमांशुमय कांति नितंबों की ज्यों बाहर  
वस्त्र-सदल के पार आ रही हो छन-छनकर ।”

‘मनु चरित्र’ के इस वर्णन को तो हम ठीक से समझ भी नहीं पाते ।<sup>३</sup> किन्तु इसी विषय पर ‘शुक सप्तति’ का यह वर्णन देखिए :

“अभी-अभी घुलकर घाई उजली साड़ी-सी भलमल  
किनारियों पर टँके, आब से टलमल, नव मुक्ता दल  
पद-नख-पंक्ति-प्रभा को झुक-झुक कर सलाम करते हैं ।”

मुन्दरो का चित्र घाँवों के आगे स्पष्ट खिच जाता है और उस समय की युवतियों के वैभव का बखान करने लगता है ।

कभी-कभी तो ऐसा होता है कि पोये-का-पोया पद जाइए, पर काम की बातें बड़ी कठिनाई से एकाध मिल गई तो मिल गई, और बस ।  
सामाजिक इतिहास की दृष्टि से देखिए तो अनेक ग्रन्थों के प्रणेता

#### १. शुक सप्तति ।

गोंगडि : चरवाहों का कंबल । एक धोर लपेटकर सिर पर डाल लेते हैं, दूसरा टखनों तक लटकता रहता है ।

बंदार ? बंदा । अथसूखी पतियाँ चुनकर बिछाने पर बड़ी धाराम-देह होती हैं ।

२. काविरंगु : अत्यंत ही हल्के लाल रंग का कपड़ा, जिसे आन्ध्र महिलाएँ आज भी पहनती हैं ।

३. इसलिये कि वर्णन हिमालयवासिनी वरुषिनी का है । उसका रक्तिम गोरा रंग तो ठीक, पर यह विशिष्ट आन्ध्र पहनावा समझ में नहीं आता ।

बूचिमंचि तिममकवि की रचनाओं से कुछ भी सहायता नहीं मिलती। 'वमु चरित्र' और 'मनु चरित्र' की अपेक्षा ताळळेंपाकें चित्रप्रा का द्विपद 'परमयोगीविलासमु' ही कहीं अधिक उपयोगी टहरता है। इसमें एक भी बड़ा समास नहीं मिलता। यद्यपि कविता में प्रौढता नहीं है और दौली जटिल है, तथापि उसके अन्दर जो विवरण मिलता है, वह हमारे सामाजिक इतिहास के लिए बड़े ही महत्त्व का है।

“कल्पान्तदुर्दान्त कल्पुपान्तक स्वागत दुर्वार वल्लिकी नोर्ववच्चु।”

जक्कना ने 'विक्रमार्क चरित्र' में इस प्रकार अपने 'चकनि-वंदुप्यमु' (प्रकाड पांडित्य) का परिचय तो दिया है, पर इस पर 'प्रलयान्नि वर्षा' से हमारा कोई भी काम नहीं बनता। मेजिन कोरवि गोपराजु की 'द्वाविशत्सालभजिका' हमारे सामाजिक इतिहास के लिए बहुत ही उपयोगी है।

इस प्रकार हमें अपने साहित्य का मयन करना होगा। 'द्वाविशत्साल भजिका', 'शुक मसति', 'पडिताराध्य', 'वसवपुराणमु', 'क्रीडाभिराममु' आदि में भाषे हुए बहुत सारे शब्द हमारे शब्द-कोशों में नहीं मिलते। इसमें सामाजिक इतिहास लिखने में कठिनाई पडती है। ऐसा तो समझना ही नहीं चाहिए कि कुछेक शब्दों के अर्थ नहीं भी मिले तो क्या विगडता है। प्राचीन कवियों ने इन प्रादेशिक शब्दों का प्रयोग ठीक ऐसे ही स्थलों पर किया है जहाँ उन्हें स्थानीय रहन-सहन और आचार-विचार को दरसाना अभीष्ट था। इसलिए ऐसे सभी शब्दों के अर्थ जानना आवश्यक है।

जिला-जग्यों से केवल पर्व, दान, माप, सोन, धाव, सौमार्ण आदि ही मालूम हो सकती हैं। स्थानिक पायाओं में अधिकांश तो कल्पित कहानियाँ होती हैं, जो अर्गुक्ति में भरी होती हैं। कावतीय युग तथा विजयनगर मन्नाटों के शासन-काल में जो विदेशी यात्री, व्यापारी या राजदूत यहाँ भाषे थे, उनके मस्मरणों में बड़ी सहायता मिलती है। पर उन्होंने जो-नुछ भी निरव छोडा है, वह सब-श-मव ज्यों-का-र्यों

मत्र मान लिया जाने के योग्य नहीं है। जैसे, एक यूरोपीय मात्री ने लिखा है कि "विजयनगर के महाराजा चूहों, विलियो और छिपकलियों तक को खा जाने थे।" भला वतलाइये, इन कथन पर हम कैसे विरदास कर सकते हैं? यह तो सफेद झूठ है। इसी तरह फ्रिस्ता के इतिहास में भी झूठ की भरमार है। 'गंगादास प्रताप दिलासम्' नामक संस्कृत-नाटक में लिखा है कि द्वितीय देवराय के मरते ही उडीसा के राजा और बहमनी सुलतान ने मिलकर विजयनगर पर चढ़ाई की, पर मल्लिकार्जुन ने उन्हें मार भगाया। परन्तु फ्रिस्ता ने इसका उल्लेख तक नहीं किया है।<sup>१</sup> बल्कि फ्रिस्ता ने तो इसके विपरीत यहाँ तक लिखा है कि देवराय ने हारकर मुलह कर ली और अपनी बेटी सुलतान के साथ ब्याह दी। पर इन बात को अन्य किसी भी देशी-विदेशी इतिहासकार ने नहीं लिखा। न तो ममकार्त्तन कवियों ने कुछ लिखा, और न परबतियों ने। किसी भी 'कैम्ब्रिज' (स्थानीय लेखा) के अन्दर यह बात नहीं मिलती। किसी कहानी या कहावन में भी इसकी सूचना नहीं है।

उन नमय के चित्रों में कुछ महायना मिल सकती थी, लेकिन वे भी मुगलशासकों के हाथों में पड़कर नष्ट हो गए। इन बात के कई प्रमाण हैं कि क्या राजा, क्या रंक और क्या रानी, क्या मानी (बेग्या) विजयनगर में सभी अपनी दीवारों पर विदेशी यात्रियों और अगली जानवरों के चित्र लगाए रखते थे। मगर वे राइ-भवन अब वहाँ हैं। विजयी मुगलशासकों ने उन्हें मिट्टी में मिलावा डाला। हमारी तीस चौथाई चित्रकारी भी नामोशय हो चुकी है। वरंगल की बेग्याओं के घरों में भी चित्रगानाएँ होती थीं। अब उन पुराने वरंगल का नाम-भर ही बच रहा है।

पुराने लौह-भीनों जो एकत्र करने की चेष्टा कदाचिन् ही किसी ने की हो। 'तंदान ब्याघो'<sup>२</sup> का भी किसी ने कोई आदर नहीं किया। पगिगाम यह हुआ है कि उनमें यदि कुछ 'ताब्बिबाक' की शबिना है तो

१. एम० बे० अय्यंगर, 'एंड्रयैट इंडिया' जिस्ट २, पृष्ठ ४०।

२. 'घाल्टा'-जैसी गेय बीरगाथाओं।



कुछ जंगम कथाकारों<sup>१</sup> की अपनी निजी तुकबंदियाँ और कल्पनाएँ भी हैं। बया ग्रन्थों ने और बया विज्ञो ने, जिसे जैसा सूझा, गा सुनाया।

पुराने सिक्के तो किसी ने बटोरे ही नहीं। इस दिशा में सरकार ने कुछ अवश्य किया है, जिससे कम-से-कम, कुछ का तो हम देख सकें। बल्कि कुछ को पहचाना भी जा सका।

कुछ दिन हुए, मैंने 'कृष्णरायकालीन सामाजिक इतिहास' शीर्षक एक लेख लिखा था। उसके लिए मैंने 'ग्रामुक्त माल्यदे' को साधन्त अच्छी तरह पढ़ा था। तत्कालीन अन्य कवियों की कृतियाँ भी पूरी तरह देग ढाली थी। उन्हें पढ़ते समय जो बातें मुझे सूझती जाती, उन्हें नोट करता जाता था। फिर सालेटोर की अगरेजी पुस्तक 'विजयनगर राज्य का सामाजिक इतिहास' के दोनो भाग पढ़े। इस अगरेजी पुस्तक में मेरे नोट की बातों की पुष्टि हुई। बल्कि मेरे सकलन में कुछ अधिक ही विषयो का समावेश था। यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि सालेटोर तेलुगू भाषा से अनभिज्ञ थे।

"उदयाचल के ऊपर निर्झलत 'संगड'<sup>२</sup> को  
उतर रहा शशि धर्यवान, मातण्ड घड़ रहा,  
मानो शोण वर्मा मृगमण्डित मल्लभूमि में  
काल भल्ल घरमाप स्कंध पर गदा घर रहा  
दूजें कंधे से उतार, प्राची सध्यातप  
से अण्ड बह्माण्ड रक्तिमा में निखर रहा !<sup>३</sup>

प्राची सध्या (प्रातःकाल) के इस वर्णन के आधार पर मैंने निगा कि उन दिनों अखाडो का प्रचलन था, अखाडो में लाल मिट्टी भर दी जाती थी, उनमें 'मंगोल' आदि व्यायाम-साधन रमे होने थे और उनमें पहलवान 'मगडि' लडा करते थे। विदेशी यात्रियों ने लिखा ही है

१. लोक-गीतों के रचने या गाने वालों।
२. संगड—एक विशेष प्रकार की कुस्ती।
३. 'मनु चरित्रमु', ३-५८।

कि विजयनगर के महाराजा कृष्णदेवराय स्वयं भी नित्य तेल की मालिश कराने और पहलवानों से कुदती लड़ा करने थे। प्रातःकाल के उक्त वर्णन की हमारी यह व्याख्या विद्वेगियों के विवरण में मेल खाती है। इसी प्रकार हमें विविध कवि-कृतियों से अपने काम की बातें निबाल लेनी होंगी।

जिन वाक्यों में सामाजिक इतिहास की सामग्री प्राप्त हो सकती है, उनमें प्रायः आञ्चलिक शब्दों का प्रयोग पाया जाता है। कदिरौपति की 'शुक् सप्तनि' के कोई भी शब्द हमारे कानों में नहीं हैं। (मैंने 'सूर्यरायाग्र-निघंटु' नहीं देखा, इसलिए मेरा यह मन्तव्य उम पर लागू नहीं होता।) 'शुक् सप्तनि' के उक्त शब्दों के लिए मुझे कडपा अनन्तपुरमु के निवासियों में पूछ-ताछ करनी पड़ी। इसी प्रकार 'चन्द्रशेखर जनकमु' के व्यावहारिक (जनपद) शब्दों को मेलनूरवामी ही समझ सकते हैं। 'भाषीय दड-कमु' के शब्द बनूल वालों के लिए सरल होंगे। 'द्वात्रिंशत्पालभञ्जिका' का सम्बन्ध तेलगाना से है। 'श्रीढाभिराममु' के शब्दों के लिए कृष्णा जिले के लोग सहायक हो सकते हैं। पाल्कुरिकि सोमनाथ तथा नन्नेचोडु कवि द्वारा प्रयुक्त कुछ शब्दों के अर्थ बता पाना तो किसी के भी बस का रोग नहीं।

तान्पर्य यह है कि प्रान्तीय प्राबन्धकों द्वारा प्रयुक्त ऐसे पदों (आञ्चलिक शब्दों) की एक सूची तैयार करके, 'भारती'-जैसे मासिक पत्रों या 'ग्राम्य मारस्वन परिपत्तु'-जैसी संस्थाओं की ओर से पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित करके, यह घोषणा की जानी चाहिए कि जिन्हें जो शब्द मालूम हों, वे उनके अर्थ लिख भेजें। इससे बाल के गर्भ में समाविष्ट कितने ही सुन्दर भाव-गमिन शब्दों का उद्धार हो जायगा। कोशकारों ने तो मानो कमम सा रखी है कि वे पुस्तकों के बाहर के शब्द छुएँगे ही नहीं। इस नीति के कारण उनका धर्म पर्याप्त फलप्रद सिद्ध नहीं हो पाता। 'सूर्यरायाग्रनिघंटु' पर लगभग दो पीढ़ियों से काम हो रहा है। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है मानो उसके कोशकारों को व्यावहारिक (जनपदीय)

शब्द-मान से ही कोई चिड़-सी हो। इस कारण हमें यह कहना ही पड़ता है कि उनके प्रयासों से भी हमें यथेष्ट लाभ नहीं हो पायगा। चाहे जो भी शब्द-कोश क्यों न हो, जब तक उसमें चानू जनपदीय शब्दों का समावेश न होगा, तब तक वह कोश अपूर्ण ही रहेगा।

हमारे सामाजिक इतिहास के लिए काम की तेलुगु पुस्तकें ये हैं :

१. पाल्कुरिक सोमनाथ . 'वसवपुराणमु', 'पडिताराध्यचरित्रमु'।
२. श्रीनाथ (कलभराय) 'श्रीडाभिराममु'। ३ श्रीनाथ (या कोई और ?) . 'पल्लाटि वीरचरित्रमु'। ४. वीररवि गोपराजु 'द्वात्रिंशत्साल-भञ्जिगु'। ५ कृष्णादेयराय . 'आमुक्तमाल्यदं'। ६ ताळ्ळं पाकें तिर-वेंगळनाथ : 'द्विपद परमयोगीविलासमु'। ७ मारगु तम्मय्य 'वैजयन्ती-विलासमु'। ८ वादरीपति . 'शुरु सप्तनि'। ९ वेरटनाथरुवि 'पच-तत्रमु'। १०. शतको में वेमनों, चन्द्रशेखर, कुक्कुटेश्वर, रामनिग, शर-भाक, वेणुगोपाल, वृषाधिप, मिहाद्रिनारसिंह और वेकटेश गुञ्जलचन्नों आदि शतक। ११. 'भापीयदटकमु'। १२ 'एनुगुल वीगम्बामि वाशीयात्रां'। १३. 'पादुरगविजयमु', 'श्रीवाळहस्तिमाहात्म्यमु', श्रीनाथुवी 'चादुबुलु' आदि पुस्तकों की भूमिकाओं में भी कुछ-कुछ सहायता मिल सकती है।

शब्द रत्नाकर निघण्टुकार श्री बहुजनपल्लि सीतारामाचार्य ने कवियों की मर्यादा का निर्णय करने हुए उन्हें छ श्रेणियों में विभक्त किया है। उक्त कृतियों में से 'पडिताराध्यचरित्रमु', 'वसवपुराणमु', 'वैजयन्ती-विलासमु' और 'शुरु सप्तनि' को उन्होंने १वीं श्रेणी में रखा है तथा 'द्वात्रिंशत्सालभञ्जिगु' और 'आमुक्तमाल्यदं' को चौथी श्रेणी में रखा है।

कुछ पुस्तकों उनके समय में प्रकाशित नहीं हुई थीं। हुई होंगी तो उन्हें कम-से-कम १वीं श्रेणी अवश्य मिलनी होती। 'वविजनरजनमु', 'वविगुंरसायनमु', 'जमिनीभारतमु', 'रामान्युदयमु', 'विक्रमार्कचरित्र', 'विष्णुपुराणमु', 'मनु चरित्र', 'वसु चरित्र' आदि पुस्तकों सामाजिक इति-

हास के लिए अनुपयोगी है। इन सबको उन्होंने तीसरी श्रेणी में रखा है।

'नैपथ्यमु', 'राघवपांडवीयमु',<sup>१</sup> 'हरिश्चन्द्रोपाख्यानमु',<sup>२</sup> 'नलोपाख्यानमु' तथा इन-जैमी और भी अनेक पुस्तकें ऐसी हैं जिन्हें पढ़ने के लिए अमृत-ताजन की एकाध डिबिया, अमृतधारा की एकाध गींशी, बहुत नारे शब्द-कोश आदि लेकर बैठने पर भी वेदम<sup>३</sup> को पाम बिठा रखना जरूरी होता है। हमारे आचार्य श्री ने इन पुस्तकों को दूसरी या तीसरी श्रेणी में रखा है।

सामाजिक जीवन पर यदा-कदा लिखे गए मेरे लेखों को पढ़कर कुछ मित्रों ने सन् १९२९ ईसवी में, 'आन्ध्र मारस्वन परिपत्तु' की स्थापना के अवसर पर, आग्रह किया था कि मैं सामाजिक इतिहास को पुस्तक-रूप में लिख डालूँ। उस समय मैंने यह कहकर अस्वीकार कर दिया था कि न तो मुझमें ऐसी योग्यता है और न इतना परिश्रम करने की शक्ति ही। परन्तु जब श्री लोचनन्दि संकरनारायणराव, श्री देवुलपल्लि रामानुजराव तथा श्री पुनिजात हनुमन्तराव-जैसे मित्रों के निरन्तर आग्रह को मैं टाल न सका तो अन्त में मुझे हार माननी ही पड़ी। आवश्यक मामलों के अभाव के कारण मैं इस पुस्तक से मन्तुष्ट नहीं हूँ।

—सुरचरमु प्रतापरेड्डी

१-२. ये दोनों काव्य ऐसे हैं जिनके आदि से अन्त तक के सभी पद्य दो-दो अर्थ धाले हैं।

३. अर्थात् श्री वेदम् चेंकटराय शास्त्री, जिन्होंने हर्ष काव्य के अधीनाप-कृत अनुवाद 'आन्ध्र नैपथ्यमु' की टीका लिखी है और इस कारण जो तेलुगु के मल्लिनाथ सूरि कहे जाते हैं।



## द्वितीय संस्करण

पत्र-सम्पादको और विद्वानो ने इस पुस्तक की जैसी प्रशंसा की, उसकी मैंने कल्पना भी नहीं की थी। इस विषय में मैं अपने को घन्य मानता हूँ। विशेषतः 'आन्ध्र प्रभा'-सम्पादक श्री नारल बंकेटेश्वरराव जी का तो मैं अत्यन्त ही ऋणी हूँ। इस पुस्तक के माध्यम से उनके साथ मेरा यह दूसरा परिचय है। पुस्तक उन्हें पसन्द आई। उन्होंने अग्रलेख लिखा। 'आन्ध्र प्रभा' में 'हमारे दादे-परदादे' शीर्षक को देखते ही मुझे इस पुस्तक का ध्यान आया। सहसा मन में विचार उठा कि कहीं यह मेरी ही पुस्तक की समालोचना तो नहीं। अनुमान ठीक निकला। उनके इस विज्ञापन से पुस्तक का प्रचार बढ़ा। फिर उन्होंने मुझे सूचना दी कि अंगरेजी पद्धति अपनाकर प्रत्येक विषय पर आदि में अन्त तक अलग-अलग पुस्तकें लिखना अधिक अच्छा होगा। परन्तु तब तक इसके तीन अध्याय उस्मानिया विश्वविद्यालय की एफ० ए० परीक्षा तथा 'आन्ध्र सारस्वत परिपत्तु' की प्रवेश परीक्षा के पाठ्यक्रमों में स्थान पा चुके थे। इसलिए उस समय कोई परिवर्तन सम्भव न हुआ।

अन्य पत्र-पत्रिकाओं में भी इस पुस्तक पर समालोचनाएँ छपी हैं। सुना है, स्वयं देखा नहीं। 'आन्ध्र प्रभा' के सम्पादक महोदय के निर्व्याज प्रेम ने तो मुझे कृतज्ञता के बन्धन में बाँध लिया है। उनकी विद्वत्तापूर्ण समालोचना को पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट के रूप में दिया जा रहा है।'

1. हिन्दी-संस्करण में इस परिशिष्ट को पुस्तक के प्रारम्भ में ही दिया जा रहा है, ताकि पाठकों को पुस्तक का एक संक्षिप्त परिचय पहले ही मिल जाय।

संगीत-शास्त्र-पारंगत, तेलुगु के अग्रणी लेखक तथा मेरे मित्र श्री राज्जपल्लि अनन्तकृष्ण शर्मा ने पुस्तक के बाईस विषयों पर एक विम्वृत पत्र बड़े प्रेम पूर्वक लिखा। उनवी सभी सूचनाओं पर मैंने अपनी भूलें मान ली हैं और वह पत्र भी पुस्तक के अन्त में ज्यो-का-र्यो दे दिया है।

श्री वेदूरि प्रभाकर शास्त्री महान् विद्वान्, अनुसन्धाता तथा आलोचक है। उन्होंने मुझे एक पोस्टकार्ड लिख भेजा था।

“आपकी पुस्तक ‘शान्ध्रुलें साधिकें चरित्रें’ को अत्यन्त रोचक पाया। आप इसकी रचना के लिए सर्वथा समर्थ हैं। सरसरी तौर पर एक बार साद्यन्त पढ़कर यह पत्र लिख रहा हूँ। पुस्तक को पढ़ने-मात्र से यह समझ गया कि आप एक प्रामाणिक (ईमानदार), सत्यनिष्ठ तथा पवित्र-हृदय व्यक्ति हैं। मेरी लालमा है कि इसके विषयों को इससे भी चार-पाँच गुना अधिक बढ़ाकर इसका द्वितीय संस्करण निकले और उसमें मैं आपकी सहायता करूँ।”

शास्त्री जी को मैंने तुरन्त ही पत्रोत्तर दिया। पर जान पड़ना है मेरा पत्र उन्हें मिला ही नहीं। फिर उनका कोई पत्र नहीं आया। उनके आशीर्वाद के लिए मेरे प्रणाम। इस तीन आलोचनाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानता।

इस बार पुस्तक में कुछ परिवर्तन किये हैं। ‘पूर्वा-भालुवय युग’ नाम का एक नया अध्याय जोड़ दिया है। प्रथम संस्करण में ‘चौपड’ पर अधिक श्रम नहीं कर पाया था। इस बार उसे समग्र रूप में समझकर लिखा है। पहले संस्करण में कुछ शब्दों का अर्थ न जानने के कारण या तो ठीक से लिखा ही नहीं था या थोड़ी-बहुत चर्चा करके पहलू बचाने अथवा गिरे में ही छोड़ देने की चेष्टा की थी। इस बार उन सबको समझ-भूमकर लिख दिया है। ऐसे विषयों में मैंने श्रीमंक्टुट्ट, कनुमारि, वीटि सेन, रणमुकुट्टु, पुम्बुलशोवि, मुडामु, तलमुळ्ळु आदि के

१. श्री वेदूरि प्रभाकर शास्त्री का (तिरुपति से दि० २८.१०.४६ का) यह पत्र ही मेरे नाम उनका प्रथम और अन्तिम पत्र है। —लेखक

विषय देखने योग्य है। पुस्तक के अन्त में विशेष शब्दों की एक सूची भी अकारादि क्रम से दे दी है।

प्रथम संस्करण में 'शब्द रत्नाकरमु' तथा 'आन्ध्र वाचस्पत्यमु' इन दो कोशों की सहायता से जो शब्दायं निकल सके थे, उन्हींको अपनी सूझ-बूझ के अनुसार देकर सन्तोष कर लिया था। इस बार 'सूर्यरायाधुनिषटु' भी देखने को मिला। इस कोश के अब तक के छपे भाग 'न' अक्षर तक पहुँच सके हैं। शेष अभी अप्रकाशित हैं। सम्भवत एक पीढ़ी और लगे। जो नये शब्द इसमें मिले, उनके अर्थ प्रायः वही हैं जो मैंने अनुमान से पहले ही लगा रखे थे। लगभग दसैक शब्दों के अर्थ इसमें मिले। इस कोश में भी कुछ शब्दों के अर्थ 'पक्षी विशेष' 'क्रीडा विशेष' आदि देकर ही सन्तोष कर लिया गया है। 'प' में 'ह' वर्णों तक के शब्दों का अर्थ-निर्णय मैंने स्वयं किया है। इस बार कुछ नई पुस्तकें भी देखने को मिलीं। 'राजवाहनविजयमु', 'गौरनेत्रतुलु', बेंगलनाथ-कृत 'पंचतन्त्रमु', 'कुमारसम्भवमु', 'बेलुगोटिवशावलि' आदि से भी सामाजिक इतिहास निखालने में सहायता मिली है। इस प्रकार कुछ नये विषय भी पुस्तक में जोड़े जा सकते हैं।

सत्तर-अस्सी वर्ष के बूढ़ो को अपने बचपन की जो बातें याद होंगी उनकी जानकारी हमें नहीं हो सकती। थोड़ी-बहुन जो जानकारी हमें है भी, वह हमारे बच्चों को न होगी। दो-तीन सौ वर्ष पूर्व के अपने ही पूर्वजों के आचार-विचार हम समझ नहीं पाते। इस पुस्तक में भी कई बातों पर हमें निखना पड़ा कि हम समझ नहीं पाए। हमारी साहित्य-संस्थाओं के सचालक पुस्तक-प्रदर्शनी, बला-प्रदर्शनी, प्राचीन वस्तु-प्रदर्शनी आदि के आयोजन प्रायः करने रहते हैं। ये सब तो ठीक है, पर इनके साथ पूर्वजों की परम्परागत वस्तुओं का संग्रह और प्रदर्शन भी होना चाहिए। यह अत्यन्त आवश्यक है। व्यास पीठे (रिहान), तान-यन की पोथियाँ, लोहे की लेखनियाँ (स्टाइल्स), बोडवोय्य (निकंजा), कोडेमु, पोगडदंड, प्राचीन चित्र, सिडि आदि के चित्रपट,



पुराने सिक्के, पुरानी पोसाकें, कटोर-घड़ियाँ (गडियगुडुक), कविलेकडितम्, गिल्ली-डडे, चौपट-पामि, मुगंवाजी के हथियार, पुरानी नधें आदि स्त्रियो के गहने जो बड़ी तेजी से मिटने जा रहे हैं, बाराबदी चोगे, कबाएँ, चाड्डियाँ या जाँघिये, कुलाहें, अस्त्र-शस्त्र, बवच, स्याही की कुप्पियाँ, मरकटे की कलमें, महापुराणों के हस्ताक्षर, हस्तलिखित पुस्तकें, चोरो के साधन, रग और रगरेजी की भासग्री, बालक-बालिकाओं के खेल-बूद के सामान, पँसो के तांडे या जाली की बेलियाँ, बमरबद, घोडो की तगियाँ, लोबडे-तरहे इत्यादि, चमडे और लकडी के गुड्डो तथा गुड्डियो के नमूने, यक्ष-गान के चित्र, दृश्य-चित्र, बाँच की कुप्पियाँ, विविध अचलो की प्राचीन दस्तकारियाँ, मगीत परिवार (वाद्य) आदि सभी प्रकार की दुर्लभ दुर्घिल वस्तुओं का संग्रह करके उनका प्रदर्शन किया जाना चाहिए और उन्हें अजायबघरो के अन्दर रखा जाना चाहिए। ऊपर जिन वस्तुओं को गिनाया गया है, उनमें से आधी से अधिक ऐसी हैं जो आजकल के लोगों के लिए अपरिचय से अद्भुत हो चुकी हैं। इनमें अधिचतर ऐसी है जो केवल हमारे तेलुगु देश के अन्दर ही प्रचलित थी। यदि हम इन्हें योज-हूँदर एकत्र नहीं करते तो अपने बाली पीड़ियो की हमारी सन्तानें अपने सामाजिक इतिहास को समझने में सर्वथा अगमर्थ हो उठेंगी।

अब हम इस सामाजिक इतिहास के पूर्व-भाग अर्थात् दालिवाहन-युग से राजराजनरेन्द्र के शासन-काल (सन् १०० ईस्वी) तक के इतिहास को प्रस्तुत करने की चेष्टा करेंगे।

## अनुबन्ध

### ‘हमारे दादे-परदादे’<sup>१</sup>

अब तक के हमारे इतिहास में क्या रहा है ? यही कि किस राजा ने कब राज्य किया ! कहीं किया ! कैसे किया ! उसने कितने युद्ध किये ! किस-किसकी हराया ! किममें हारा ! कब किससे ब्याह किया ! उसकी कितनी पत्नियाँ और कितनी उपपत्नियाँ थीं ! बहु-पत्नी-प्रथा के साधक-बाधको से वह कैसे निपटा ? और न जाने क्या-क्या ?

‘ना विष्णुः पृथिवीपतिः ।’ जब तक जनता में यह विश्वास बना रहा, तब तक राजाओं और उनके दरबारों की कहानियाँ, रानियाँ और रनिवासों की गाथाओं का ही बोल-बाला रहा । यही देश का इतिहास था और ऐसा इतिहास किसी को अखरता भी नहीं था ।

अब ऐसे अन्व-विश्वास का युग नहीं रहा कि ‘राजा देवाश मंभूत’ होना है । यहाँ तक कि विगत विश्व-युद्ध के बाद से जापानियों का यह परम्परागत भूड ज्ञान भी खोखला पड़ गया है कि उनके सम्राट् हिरो-हितो परब्रह्म-स्वरूप हैं ।

राजाओं के दिन लद गए । अब प्रजा ही राजा है । इसलिए देश के इतिहास का रूप भी अब बदल जाना चाहिए । अब हमें यह बताने

१. ‘ग्राम्य प्रभा’ ( मद्रास ) का मंगलवार दिनांक २२ नवम्बर १९४९ ई० का अग्रलेख, जो मूल पुस्तक में प्रथम परिशिष्ट के रूप में दिया गया है । हिन्दी-संस्करण में प्रारम्भ में ही इसलिए दिया जा रहा है कि इससे पाठकों को पुस्तक का सक्षिप्त परिचय पुस्तक के प्रारम्भ में ही मिल जायगा ।

थे। लोग पान खाते थे और 'पानदान' रखते थे। एस्वाकें पूनो के पर्व पर किसान बँसो का उत्सव मनाते थे। पटवारी अपनी 'बहि' (बही) में लेन-देन का लेखा रखते थे। चोर ममान की राख से दवा का काफ़ लेते थे।

श्री प्रतापरेड्डी के सामाजिक इतिहास ('साधिक' चरित्रों) में हमारे पूर्वजों के जीवन तथा रहन-सहन के सम्बन्ध में ऐसी अपार सामग्री भरी पड़ी है।

यह इतिहास श्री रेड्डी के आजीवन अनुसंधानों का सार है। सामाजिक इतिहास के लिए उपयोगी पुस्तकों के बावजूद शिवा-लेखों का उपयोग नाम-मात्र का ही होने के बावजूद प्राचीन साहित्य में प्रयुक्त आचलिक तथा स्थानीय शब्दों के साधारण बोधगम्य अर्थों के स्थान पर काफ़ में 'पक्षी विशेष', 'भक्ष्य विशेष'-मात्र लिखे होने और इस प्रकार बोधगत शब्दार्थों के निरर्थक होने के बावजूद सारी त्कावटों की बाट करने हुए ग्रान्ध जाति का सामाजिक इतिहास प्रतिभापूर्वक चित्रित करने वाले श्री सुरवरमु प्रतापरेड्डी की सेवाएँ सर्वथा प्रशंसनीय हैं।

ग्रान्ध जाति के पिछले इतिहास की जानकारी तो यह ग्रन्थ-रत्न देना ही है, उसके अतिरिक्त उन माधनों का विवरण भी प्रस्तुत करता है, जिनके कारण जाति को उन्नति हुई। साथ ही उन बाधाओं का भी, जिनके कारण उसकी अवनति हुई। यह 'ग्रन्थराज' उन सभी का विवरण मदभर्तनुसार प्रस्तुत करता है। साथ ही ग्रान्ध जाति के लिए भावी कर्तव्य-पथ का निर्देश भी करता है।

रेड्डी जी ने स्वयं कहा है कि इस पुस्तक में मैं स्वयं भी कोई सन्तुष्ट नहीं हूँ, लेकिन फिर भी रेड्डी जी को इसकी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है कि इसका स्वागत कैसा होगा। यह तो निश्चित-मा है कि यह पुस्तक समस्त ग्रान्ध जाति को अमित तृप्ति प्रदान करेगी।

: १ :

## पूर्व-चालुक्य युग

ग्रान्ध साहित्य के इतिहास का आरम्भ नन्नय भट्ट से होता है। नन्नय भट्ट पूर्व-चालुक्य महाराजा राजराजनरेन्द्र के राज-पुरोहित थे। राजराजनरेन्द्र ने राजमहेन्द्रवरम् (राजमहेन्द्रो) को अपनी राजधानी बनाकर सन् १०२२ से १०६३ तक वेंगिदेश (ग्रान्ध) पर शासन किया था। पूर्व-चालुक्यों का पूरा इतिहास हमें नहीं मिलता। इसलिए नन्नय-भट्ट से लेकर काव्तीयों के प्राबल्य तक अर्थात् सन् १००० से १२०० ई० तक ग्रान्ध देश में प्रचलित आचार-व्यवहार की जानकारी जहाँ तक प्राप्त हो सकी है, प्रस्तुत की जा रही है।

ग्रान्ध देश में भी बौद्ध धर्म कभी खूब फूला-फला था। लेकिन राज-राजनरेन्द्र से कोई चार सौ वर्ष पूर्व ही वह यहाँ से मिट चुका था। चालुक्य स्वयं शैव थे। इस कारण पूरे राज्य में शैव धर्म का बोल-बाला था। ब्राह्मणों की शक्ति काफी बढ़ी-चढ़ी थी। आदिशिवि नन्नय भट्ट ने पहने भी तेलुगू में पदों और पद्यों की रचना होती थी और लोग काव्य-चर्चा में रस लेते थे। तथापि नन्नय भट्ट के पहने की कोई भी कविता अब उपलब्ध नहीं है। उपलब्ध अगर कुछ है तो कुछेक गिना-नेम। नन्नय भट्ट कहते हैं कि चालुक्य-नरेण को 'पार्वती पति पदाब्ज ध्यान-पूजा महोत्सव' में प्रीति थी। चालुक्य क्षत्रिय नहीं थे। पर उन दिनों सभी राजा सूर्य या चन्द्र से अपनी वंश-परम्परा जोड़कर क्षत्रिय बन

जाया करते थे। उसी प्रकार चालुक्य-वंश भी क्षत्रिय बन गया था। राजराजनरेन्द्र ने कविवर नम्रय भट्ट से 'भान्ध महाभारत' के आरम्भ में ही यह कहला दिया था कि महाभारत के पुरु-कुरु आदि नरेश चालुक्यों के पूर्वज थे।

“हिमकरु तोट्टिपूष भरतेशकुरु, प्रभुषोदु भूपतुल्।

कमयुनें वंशकत्तनगा महिनोम्पिनें यस्मदीय वंशमु।”

परन्तु राजराजनरेन्द्र के पूर्वजों ने स्वयं कहा है कि वे उस मूल पुत्र चालुक्य की सन्तानें हैं, जो ब्रह्मा की प्रार्थनाश्रुति (चुल्लू) से पैदा हुआ था। इन्हीं चालुक्यों की एक और शाखा ने अपनी कथा किसी और ही ढंग से वर्णित कराई है। पर ये ही क्यों, उस समय के सभी राजाओं ने किसी-न-किसी प्रकार अपने को चन्द्रवंशी या सूर्यवंशी लिखवा लिया था। उस युग में राजाओं ने ही शिवालियों, धर्मशालाओं, भ्रमणियों आदि का निर्माण कराया था। मरान्ति भ्रमण ग्रहण के पर्वों पर वे ब्राह्मणों को भूमि तथा ग्राम दान में दिया करते थे। ब्राह्मणों को दिये गए इन विरतों को 'अग्रहार' कहते हैं।

नम्रय भट्ट के बाद ही ब्राह्मणों की वैदिकी और नियोगी नाम की दो शाखाएँ बनीं। पूजा-पाठ में निर्वाह करने वाले वैदिकी कहनाये तथा नौकरी या अन्य उद्यमों से धार्मिकता चलाने वाले नियोगी। ब्राह्मणों के अन्दर यह भेद नम्रय भट्ट के समय या उनसे पहले दिखाई नहीं देता। नम्रय भट्ट से सौ साल पहले अर्म्मराडु विष्णुवर्धन नाम का एक राजा हो चुका है। पहले उसीने राजमहेन्द्रवरमु में अपनी राजधानी बनाई थी। उसने पहले चालुक्यों की राजधानी बैंगीपुर में थी। इसी कारण पूर्वोत्तर-तट के प्रदेशों (मरकार जिले) की परिस्थितियों का कुछ पता चल पाया है।

जिन राजाओं ने अपने को भूठ-भूठ क्षत्रिय नहीं कहा था औरों से नहीं कहलवाया, उन्हें पीराणियों ने भी धूद नहीं तो 'चतुर्षु कुलज' 'गगापुत्र' आदि प्रशंसा कहा है। इस काल में तेलुगू देश में जो द्विजतर

प्रबल थे, वे 'सच्छूद्र' कहलाये । "सत्य आदि गुणों से मण्डित शूद्र सच्छूद्र होंगे ।"<sup>१</sup> वेदव्यास (कृष्ण द्वैपायन) के 'संस्कृत महाभारत' में 'सच्छूद्रों' का कहीं कोई उल्लेख नहीं है । फिर भी नन्नय भट्ट ने, शायद विशेष रूप से आन्ध्र देश के लिए ही, इस नई जाति की उद्भावना की ।

ब्राह्मण जाति की महत्ता के उल्लेख संस्कृत महाभारत में भी बारम्बार मिलते हैं । बिना किसी विशेष कारण के ही, नन्नय भट्ट ने 'आन्ध्र महाभारत' में न केवल यह कि संस्कृत मूल के कुछ श्लोक छोड़ दिए हैं, बल्कि कुछ नये श्लोक जोड़े भी हैं । जो भी विशेषता उन्हें उचित प्रतीत हुई, उसे उन्होंने अपने 'महाभारत' में स्थान दे दिया ।<sup>२</sup>

नन्वेचोडु के काल ( लगभग सन् ११५० ई० ) तक ही देश में शैव-मत के साथ-साथ 'कील मार्ग'<sup>३</sup> आदि वामाचारों का प्रवेश हो चुका था । नन्वेचोडु ने उन वाम विधानों की थोड़ी-सी चर्चा 'कुमार मभवमु' में की है । वह इस प्रकार है . कुछ लोग मधुपान-गोष्ठी में प्रविष्ट हो, मंडलाचन करके ( थो चक्र-पूजा में निवृत्त हो ), मूलज, वृक्षज, गुड, मधु, पिष्ट, कुमुम, विकारो आदि से युक्त मुग्धामवों को वनक-भाण-मय अनेक करक-चपकादिकों में भरकर प्रसन्नचित्त हो गौरी, महादेव, भैरव,, योगिनियों, नवनाथों तथा आदिसिद्धों की पूजा करके, भोग चढाकर, आप भी पीते हुए उन आमवों की इस प्रकार प्रशंसा किया करते हैं :

"अमरपान यदि करें, अमृत है वही घनतन,  
मधुपों के दल पियें उसे यदि, वही रसायन,  
आगम-विधि से भूगुरीघ यदि पियें, सोम है,

१. 'आन्ध्र महाभारत', अरण्य पर्व, ४-१२६ ।

२. आदि पर्व के १-१३८, २-६१, ६३ आदि मूल संस्कृत महाभारत में नहीं हैं ।

३. मत्स्येन्द्रनाथ का पंथ ।

कौलिक-कुल के चक्र-याग में 'वस्तु' होम है।"<sup>१</sup>

"श्रीर फिर वे अनेकविध मासोपदेशको वा आम्वादन करते हुए मनोहृद्य मद्यो का सेवन किया करते हैं।"<sup>२</sup>

संस्कृत महाभारत में दक्षिण भारत के सम्बन्ध में कोई विशेष चर्चा नहीं है। फिर भी नन्नय भट्ट ने अर्जुन की तीर्थ-यात्रा के प्रसंग में बेंगी देश ( धान्ध्र ) तथा गोदावरी नदी का वर्णन किया है :

दक्षिण-गंगा की विपुल स्यातियुता गोदावरि के,  
जगदादि-धाम के जगदीश्वर श्री भीमेश्वर के,  
अनवद्य यशोमंडित पंडित पूजित श्रीगिरि के,  
सधृद्ध मना ही इन तीनों के दर्शन करके,  
सोचा बेंगी बंभव-विभु-अर्जुन ने : धरती पर  
शिष्टाग्रहार-भूषिष्ठ-धरणिमुर-उत्तम-अध्वर  
के शुभ विधान से महापुण्य-समृद्ध, अनघ-धय  
ये तीर्थ किये जीवन कृतार्थ हो गया, पुण्यमय।<sup>३</sup>

नन्नय भट्ट के काल में तेलुगु देश में तीन सुप्रसिद्ध तीर्थ थे गोदावरी नदी, भीमेश्वर महादेव तथा श्री शैल ( श्री पर्वत, कृष्णा नदी के तट पर पूर्वी-घाट पहाड़ों के बीच )। 'बेंगीदेश' में 'अग्रहार' भी प्रचुर परिणाम में दिये गए थे।

नन्नय भट्ट के समय की तेलुगु-भाषा के सम्बन्ध में पत्र-पत्रिकाओं में काफी चर्चा हो चुकी है। अप्रामाणिक होने के कारण यहाँ उनकी विस्तृत चर्चा न करके उल्लेख-मात्र किये दे रहे हैं। नन्नेचोडु ने 'जानु तेनुगु' ( जन-तेलुगु या जन-भाषा ) के सम्बन्ध में लिखा है कि भाषा सादी हो और भाव सरल हो। इसीको उन्होंने 'वस्तुवक्ति ( १ )'<sup>१</sup>

१. 'कुमारसम्भवम्,' ६—१२७ से १३२ तक।

२. 'धान्ध्र महाभारतम्,' धादि पर्य ८—१३६।

कहा है। कन्नड भाषा में 'ओपनुडि' का शब्द पढ़ने से ही प्रचलित था। ऐमा प्रतीत होता है कि उन्होंने भी उसीको अपनाया है। ( इस प्रसंग में मद्रास-विश्वविद्यालय से प्रकाशित 'कुमारसंभवम्' में श्री बोरार्ड रामकृष्णय्य जी की भूमिका दर्शनीय है। ) पाल्कुरिकि सोमुद्रु ने भी 'वृषाधिप शतक' नाम की अपनी कृति में इस 'जानु मेनुगु' की प्रशंसा करने हुए एक पद्य में उनकी शैली को दर्शाया है। उसीमें उन्होंने मसूत और आन्ध्र भाषा की मिलावट में बनी शैली 'मण्डिप्रवाल' में भी दो पद्य लिखे हैं। 'मण्डिप्रवाल' शैली अब तेलुगु में लुप्त हो चुकी है। बोरार्ड रामकृष्णय्य ने महाभारत-सम्बन्धी अपनी लेखमाला में लिखा है कि तमिळ भाषा में अभी तक 'मण्डिप्रवाल' शैली का प्रचार है।

नन्नेचोडु ने कहा है कि कविता की दो प्रणालियाँ हैं। एक 'देशी कविता' और दूसरी 'मागं कविता'। कविता में ही नहीं मगीत तथा नृत्य-कला में भी ऐसे भेद उपस्थित होने की सूचनाएँ श्रीनाथ के समय तक मिलती हैं। 'मागं विधान' मसूत-सम्प्रदाय है। 'वाग्मोकि रामायण' में ही बाद वालों ने लक्ष्मण बन्धुओं के सम्बन्ध में कहा है कि : 'आगायताम्मार्गं विधानसम्पदा'। यह कहा जा सकता है कि दक्षिण देश में मसूत-सम्प्रदाय से भिन्न भाषा, मगीत तथा नृत्य-कलाओं की 'देशी मागं' कहने अथवा देशी स्वरूप देने की परम्परा नहीं शती ईसवी में प्रारम्भ हुई थी।

नन्नेचोडु ने कहा है कि चानुक्क-नरेशों ने ही आन्ध्र देश में देशी कविता-सम्प्रदाय की स्थापना की।<sup>१</sup> उन्होंने कहा है कि उस समय कई

१. तमिळ-संस्कृत की मिलावट से बनी भाषा-शैली। वास्तव में 'मण्डिप्रवाल' शैली मत्तयालम ( मत्तयालम-संस्कृत ) की है। अन्य भाषाओं में न तो कभी इसका उतना अधिक प्रचार हुआ और न उनसे प्रचुर साहित्य की सृष्टि ही हुई।

२. 'कुमारसंभवम्', १-२३।



देशी सत्कवि विद्यमान थे ।<sup>१</sup> 'कुमारसंभवमु' को ही हमारा प्रथम प्रबन्ध कहा जा सकता है । नन्नय ने अष्टादश वर्णानो, नव रसो तथा छत्तीस अक्षरकारो को उत्तम काव्य का लक्षण कहा है ।<sup>२</sup> जनता में लोरी,<sup>३</sup> गौडगीतमु,<sup>४</sup> आदि तब भी प्रचलित थे । विद्यार्थियों को 'ओम् नम. शिवाय' के पाठ से विद्यारम्भ कराया जाता था ।<sup>५</sup> वेदो-शास्त्रो का पठन-पाठन उस समय विशेष रूप से होता था । नन्नय भट्ट के सहपाठी और महाभारत की रचना में सहायक बंधु वानस-वशीय नारायण भट्ट 'संस्कृत कर्णाट प्राकृत पंशाचिकाध' भाषाओं के 'प्रकाण्ड पण्डित कवि-शेखर, अष्टा-दशावधान चक्रवर्ती और वाङ्मय धुरन्धर' थे । राजराजनरेन्द्र के आस्थान में "अपार शब्द-शास्त्र-पारगत वैयाकरण, भारत-रामायणादि, अनेक पुराण प्रवीण पौराणिक, मृदुमधुर-रसभाव-आमुर नवार्थ-वचन-रचना-विशारद महाकवि, विविध तर्क विगाहित-समस्त-शास्त्रसागर-पराग प्रतिभावान्, तार्किक आदि विद्वज्जन विराजते थे ।"<sup>६</sup>

उन दिनों वेदो तथा तर्क, न्याय, गीभासा आदि शास्त्रो की शिक्षा के लिए जहाँ-तहाँ विद्या-केन्द्र स्थापित थे । उन विद्या-केन्द्रो को राजाओं के अतिरिक्त धनी-मानी व्यापारियों तथा उद्योगियों (राज-सेवा में लगे लोगों) ने भी प्रचुर भूमि दान में दी थी । हैदराबाद में वर्तमान वाडी गेटवे जकदान के निकट उस समय 'नागवापी' नामक एक सुप्रसिद्ध स्थान था । आजकल उसे 'नोगाड़' कहने हैं । पुरातत्त्व विभाग ने वहाँ के कुछ दिला-लेखों की प्रतिलिपियाँ प्रकाशित की हैं । उनसे विदित होता है कि वहाँ पर सन् ११०० ई० के आस-पास एक बहुत बड़ा-सा विश्वविद्यालय था,

१. 'कुमारसंभवमु', १-२४ ।

२. वही, १-४५ ।

३. वही, ४-८६ ।

४. वही, ६-४५ ।

५. वही, ३-३४ ।

६. 'ग्राम्भ्र महाभारत', आदि पृथं १-८ ।

जिसमें शैव आगम तर्क-शास्त्र, न्याय-शास्त्र तथा अन्य कितने ही शास्त्रों के अतिरिक्त वेदों की शिक्षा भी दी जाती थी। अध्यापकों तथा विद्यार्थियों के रहने-सहने का विरोध प्रबन्ध था। अध्यापकों के निर्वाह के लिए ही नहीं, विद्यार्थियों के भोजनार्थ भी कुछ भूमि अलग रखी गई थी। नागवापी में एक पुस्तकालय भी था।

विश्वविद्यालय के विषय में ऐसे अनेक अद्भुत तथ्यों का ज्ञान उन शिला-लेखों में प्राप्त होता है। विद्वानों ने अति प्रचार के कारण तम्रगिला, नालदा आदि विश्वविद्यालयों के विषय में तो बहुत सारी जानकारी खोज निकाली है, किन्तु 'नागाई' का किसी ने नाम तक नहीं लिया। मुसलमानों के आक्रमणों के कारण उत्तर भारत के प्रसिद्ध विद्यापीठ और उनके ग्रन्थालय बहुत पहले ही विध्वस्त हो चुके थे। पर दक्षिण पथ पर सन् १३२३ ई० तक ऐसी विपत्तियाँ नहीं आई थी।

वैदिक आचारों से भिन्न बहुत सारे द्राविड (द्रविड) आचारों ने भी दक्षिण भारत की जनता में अपनी जड़े जमा ली थी। इन परस्पर भिन्न आचारों के आधार पर हमें 'आर्य' तथा द्राविड नामक दो विभाग मानने पड़ने हैं। इसी प्रकार संस्कृत का अत्यधिक प्रभाव स्वीकार करने पर भी द्राविड भाषाओं को भिन्न भाषा,<sup>१</sup> ही मानना होगा। आन्ध्रों में विवाह-संस्कार चार दिन तक चला करता था। 'उत्तर विवाह' के अनन्तर 'दिन चतुष्टय' बताकर 'बन्धुजन'<sup>२</sup> अपने-अपने घर लौट जाने थे।<sup>३</sup> ममेरी बहन ब्याहने की प्रथा वास्तव में आन्ध्र की ही है। "अर्जुन अपनी ममेरी बहन धवलाक्षी (सुभद्रा) को लीवा ले गया।"<sup>४</sup> (इस पुस्तक में महाभारत में केवल वही उदाहरण लिये गए हैं, जो 'संस्कृत-

१. अर्थात् आर्यतर भाषा।

२. बराती तथा अन्य सगे-सम्बन्धी।

३. 'आन्ध्र महाभारत', उद्योग पर्व १-२। ये बातें मूल संस्कृत में नहीं हैं। ले०

४. 'आन्ध्र महाभारत', आदि पर्व ८-२०७।

महाभारत' में अनुपस्थित और 'श्राद्ध महाभारत' में उपस्थित हैं।) पैरो के मट्टेलु (छन्ले) तेलुगु देश की स्त्रियों के विशिष्ट अलंकार है। यह 'वैदिक पद्धति' नहीं है। "ललितबुलगु मट्टिमूल चर्प्पाडपारनचर्कैवाडि नलनल्ल-यन्चि।" (ललित मट्टेलु भनवारती हसिनी की तरह चली होले-होले)।<sup>१</sup> नम्रय भट्ट तथा तिवक्कन के समय पुरुष भी यह मट्टेलु पहना करते थे। आज भी कुछ ग्रवलों में पुरुषों को मट्टेलु पहने देखा जा सकता है। कीचक जिस समय द्रोपदी से मिलने नर्तनागार में जा रहा था, उस समय 'मट्टेलुओ के परस्पर टकराकर शब्द करने के कारण वह बारम्बार अपने पंजों को फँसा लेता था।<sup>२</sup> दर के घर के बड़े-बूढ़ों का पहले ही जाकर बन्धा को देख-परख आना, बात पक्की करना और निश्चितार्थ (भगनी या फल-दान) में 'मुद्रारोहण' (तिलक) करना अर्थात् सिर पर खीले बखेरना आदि उस समय के आन्धाचार में सम्मिलित थे।<sup>३</sup>

विवाह के उपरान्त दोनों पक्ष परम्पर रग खेलने थे।<sup>४</sup> यह चलन आज भी है। नन्नेचौडु ने भी इस 'बसत खेलने' का उल्लेख किया है। "विचकारियों में तान, लाल-लाल छुट्टे बान, कुंकुमारुणाकीर्ण जल-धार पर धार, रंग में नहा के शोभायमान, यी.....।" 'या' "वरचदन पंकु भुभोट दिये।" या "अयनीर' अवीर उड़े फिरते।"<sup>५</sup> मिवाही समाज, सेवक समाज तथा निचली जातियों में तमाक का रिवाज मौजूद था। एक सैनिक की पत्नी शिकायत करती है - "पिमा ने तलाक देकर मुझको अनाथ किया।"<sup>६</sup>

पश्चिम-चानुक्य-नरेश सोमेश्वरदेव (मन् ११३०) ने अपनी सस्कृत

१. 'श्राद्ध महाभारत', विराट् पर्व २-६४।
२. वही, विराट् पर्व २-२५०।
३. 'मुद्रारोहण' का अर्थ घंगूठी पहनाना नहीं है।
४. 'कुमारसम्भवम्', ७-१३६।
५. वही, ६-५६, ६०, ६७।
६. वही, ११-५५।

पुस्तक 'अभिलपितार्यंचितामणि' में बंदिबेतर दाधिरणात्य वैवाहिक प्रथाओं का सुन्दर वर्णन किया है। सोमेश्वरदेव कर्णाटिकावासी थे। फिर भी उन्होंने जो बातें बताई हैं, वे आन्ध्र जाति में प्रचलित थीं। इसलिए उनका पुस्तक हमारे मामाजिष्ठ इतिहास के लिए बड़े काम की वस्तु है। उसमें लिखा है: "विवाह का मंडप हरे पत्तों और फूलों के तोरणों से सजाया जाना चाहिए। विवाह-वेदी के ऊपर चावल ('पोलु') बिछेरा जाना चाहिए। बर-बधू के हाथों में जीरा-चावल रखा जाना चाहिए। विवाह-मंस्कार के समाप्त होते ही बर-बधू उस जीरा-चावल की एक-दूसरे के सिर पर छिड़कें। विवाह का समारोह चार दिन तक चलना चाहिए। चौथे दिन रथों अथवा हाथियों पर बर-बधू का जलूस निकलना चाहिए। (इस जलूस को तेलुगु में 'मेरवण' कहते हैं।) शेष सब विधियाँ वैदिक ही हों।" आज भी आन्ध्र की भिन्न-भिन्न जातियों में ऐसी कितनी ही परम्पर भिन्न प्रथाएँ प्रचलित हैं, जो वैदिक विधान से पृथक् हैं। ये द्राविडाचार हैं। ताळिवोट्टु या ताळिवोट्टु नाटिकम्मलु या ताटक्कमुलु या ताटाकुलु (मुहाग-मून, जो पहले ताल-पत्र का होना रहा होगा), भी द्राविडाचार ही हैं।

उन दिनों व्यापार बैलगाड़ियों या भैरों के ऊपर टुम्हा करता था। पशुओं की पीठ पर लाठी इस प्रकार डाली जाती थी कि वह दोनों ओर लटकती रहे। इसे 'पेरिका' कहते थे।<sup>१</sup> जिनके अधिक पशु होते, वे पहचान के लिए अपने पशुओं पर मुहर या निशानी दाग दिया करते थे।<sup>२</sup> जादू-टोनों पर कम-से-कम कुछ लोग तो जरूर विश्वास करते थे।<sup>३</sup>

१. अभिलपितार्यंचितामणि, प्रकरण ३, अध्याय १३, श्लोक १४८३ से १५१२ तक।

२. 'कुमारसंभवमु', २-७३।

३. 'कुमारसंभवमु', ४-११।

४. 'कुमारसंभवमु', ४-६१।

इन्द्रजाल का प्रचार भी खूब था ।<sup>१</sup> आँवो में चमत्कारी अजन आँजकर दफीनो (गडे धन) का पता लगाया जाता था । खप्पर के ऊपर मन्पूत काजल पोतकर देखने पर, कुछ लोगों को मनचाही बातें दिखाई देती थी । “खप्पर के ऊपर महादेव के मंत्रित काजल : लेप उसे धामा गिरिराज सुता ने कर में ।<sup>२</sup> आज भी ग्रान्ध में लोग आँखदार खप्पर के ऊपर विशेष प्रकार से तैयार बिया हुआ काजल मलते हैं तथा स्थल-शुद्धि के बाद धूप-दीप जलाकर, नारियल फोड़कर, कुछ विशेष मन्त्रों का पाठ करते हुए ‘अजन डालते’ है । लोहे को सोना बनाने का ‘रसवाद’ (कीमियागरी) भी कोई आज का नहीं है । वह भी बहुत प्राचीन है । नागार्जुन ने इस कला में पर्याप्त ख्याति प्राप्त की थी । नन्नेचोडु के समय में भी बहुतों ने इस विद्या को साधने की चेष्टा की ।<sup>३</sup> विपदा पढ़ने पर इष्टदेव की मनोतियाँ मानने और मित्रते पूरी होने पर मित्रते चढ़ाने की प्रथा भी थी ।<sup>४</sup>

भरत के शास्त्र में भिन्न एक विशेष नृत्य-कला भी ग्रान्ध में प्रचलित थी । ‘ग्रान्ध महाभारत’ में तिवक्त्र ने उत्तरा के विषय में लिखा है कि उमने ‘दडलामक विधित्तु डली तथा बेकरगु अगबेरगाम् भी’ सीखा था । यह प्रसंग मूल मसूत में नहीं है । जहाँ-जहाँ सुनते है कि म्त्रियाँ पुष्पी को वदा में करने के लिए ‘मन फेर’ दवाइयों का प्रयोग करती है । यह बात अंसे अब है, वैसे तब भी थी । ‘ग्रान्ध महाभारत’ में द्रौपदी सत्य-भामा में कहती है “इसमे लाभ तो है नहीं, उलटे प्राणहानि भी हो सकती है ।<sup>५</sup> नन्नेचोडु के समय अपराधी को विचित्र-विचित्र हिय दण्ड दिये जाते थे :

१. ‘कुमारसंभवमु’, ६-७७ ।
२. ‘कुमारसंभवमु’, ६-९६ ।
३. ‘कुमारसंभवमु’, ६-१४६ ।
४. ‘कुमारसंभवमु’, ८-८४ ।
५. ‘ग्रान्ध महाभारत’, अरण्य पर्व, ५-२९६ ।

“यह खल है, ... है सर्ववध्य, मत देर करो,  
 शिवद्रूपक है, जीभ काटकर नमक भरो,  
 पिघला सीसा भ्रंग-भ्रंग पर डालो जी,  
 पिघला लोहा कंडनाल में डालो जी,  
 इम दुरात्मा की चमड़ी उधेड़ डालो,  
 झाँसों के कोपे गड़दों से कड़वा लो, ...”<sup>१</sup>

या, छाती पर छाप भिलावां, उसको छोड़ दिया।”<sup>२</sup>

बानिकाएँ “चिन्क गुड्डे, गजदन्त के गुड्डे, काँच के गिलौने, काठ के  
 दिनीने (आदि मेकर) धरोदि बनानी थी, ... खाना पकाकर गुड्डो-गुड्डियो  
 के द्वाह रवानी थी।”<sup>३</sup> धमड़े के पुतलों का उल्लेख ‘महाभारत’ में  
 भी है।<sup>४</sup>

उन दिनों के जन-मनोरंजन के साधनों तथा विनोदों में से बहुतेरे  
 आज भी प्रचलित हैं। ‘अकमल्य विनोद,’ मुरंगों की लड़ाई, तीनरो की  
 लड़ाई, भैमों-भेड़ों की लड़ाई, कबूतरबाजी, बाजों की लड़ाई, गीत-वाद्य-  
 नृत्य और नाच, कथाएँ (जैसे वीरगाथाएँ), पहेलो-बुझौत्रल, गजरज, साँप  
 नचाना, गोंडी-माध्वी-पैट्टी-मुरा-मेवन आदि अनेक मनोरंजनों के विषय में  
 ‘अभिनयितार्यचिन्तामणि’ में विस्तृत वर्णन मिलते हैं।

शिल्प-कला की उन्नति विशेषकर दक्षिण भारत में हुई है। मय के  
 नाम से सम्बद्ध जो वास्तु-शास्त्र प्रसिद्ध है, उसका सम्बन्ध ‘मय’ आदि  
 आयुधों से है। राज-प्रनादों की वास्तु-रचना के सम्बन्ध में भी कुछ  
 ध्योरा ‘अभिनयितार्यचिन्तामणि’ में मिलता है। घरों में गम्भे लगाने की  
 पद्धति दक्षिण की उपजी विनिष्टता ही हो सकती है। चतुर्गाल,  
 त्रिगाल, द्विगाल, एवगाल आदि कई प्रकार के शाल (शालाएँ, भवन)

१. ‘कुमारसंभवम्’, २-८४।

२. ‘कुमारसंभवम्’, ४-१६।

३. ‘कुमारसंभवम्’, ३-३६।

४. ‘महानारत, विराट् पर्व, ३-१६४।

बनाये जाते थे। चतुर्द्वारयुक्त, चतुश्शाल को 'सर्वतोभद्र' कहा गया है। इसी प्रकार नन्दावर्त्म, वर्धमानम्, स्वस्तिकम्, रुचिकम्, आदि भी भवनों के ही प्रकार-भेद होते थे। गृह-निर्माण के आरम्भ और अन्त में की जाने वाली वास्तु-पूजा की विधियों के भी विस्तृत वर्णन मिलने हैं। श्री रामचन्द्र जी ने बनवास-काल में जब पर्याकुटी निर्मित की तो उन्होंने वास्तु-पूजा करके 'गृहाधिदेवता' को एक हिमन की बलि चढ़ाई थी। अब यह प्रथा केवल ब्राह्मणोत्तरो में ही पाई जाती है।\*

अभियोगों और विवादों पर विचार करने के लिए पचायतों की व्यवस्था थी। पचायत मत्स्या भारत की अति प्राचीन संस्था है। यही सच्चा स्वराज्य है। मसाल-भर की राजनीति में पचायत-जैसी कोई दूसरी पद्धति पैदा ही नहीं हुई। अंगरेजी अदालतों के आने के बाद ही वामूनी पैतरेबाजियाँ, तर्क-वितर्कों के कुतर्क, दलील-दस्तावेज, झूठी गवाहियाँ, झूठी कसमें आदि अनेक खुराफातें पैदा हुई हैं। दलील वान को दिल्ली के आलमी बादशाह बहादुरशाह जफर ने अपने एक शेर में यों ही कहा था -

“रहते थे इस मुल्क में पीरोवली शम्सोकमर।

जब घुसों कौजें नसारा हर बली जाता रहा।”

(इस देश में पीर, बन्धी, सूत्र, चाँद, गब रहते थे, पर अंगरेजी कौजों के घुसने ही सभी बली भाग लड़े हुए।)

पचायतों के प्रश्न पर अभी आगे के अध्यायों में भी चर्चा की जायगी। पश्चिम-वालुक्य-नरेश ने अपने राज की पचायती गभाओं को ध्यान में रखते हुए जो बुद्ध 'अभिलषितार्थचिन्तामणि' में लिखा है, उसका सारांश यह है

पचायत के सदस्य ऐसे व्यक्ति हों जो वेद शास्त्रार्थ-तत्त्वज्ञ, सत्य-वादी, धर्मपरायण, शत्रु-मित्र-समर्हृष्ट एवं धीर-वीर हों, लोभी-त्वालची न हों, जनता में मान्य रहने हों, व्यवहार-कुशल हों और विप्र हों। ऐसे

१. 'अभिलषितार्थचिन्तामणि,' प्रकरण १, अध्याय ३।

हो व्यक्तियों को राजा पक्ष नियुक्त करे। स्वयं वे, या उनकी सहायता में राजा, ऋग्दों का निपटारा करे। पचावन में ऐसे पांच या मान सदस्य रहें। कुलीन, गौलवान, धनवान, वयोवृद्ध तथा अमत्तर वैश्य भी पचावत के सदस्य हो सकते हैं। अव्यक्त ऐसा ब्राह्मण होना चाहिए, जो अर्थशास्त्र-विगारद, लोच-जानी, प्राड्विवाक्, इगित्तम तथा ज्हापोह-विज्ञानी (मनोविज्ञानी) हो। अव्यक्त ही प्राड्विवाक् (जज) कहलायेंगे। राजा की अनुपस्थिति में विचारपति वही होंगे। ब्राह्मण के अभाव में किसी अन्य कुलीन की नियुक्ति हो सकती है। द्विजों में से किसी को भी अव्यक्त बनाया जा सकता है, पर शूद्र को कदापि नहीं।”

अभियोग दो प्रकार के होते थे। ऋणदान, निक्षेप, अस्वाभिक-विक्रय, अमानत में खदानत (गबन), देन का अपहरण, सेन-देन, शरीर-विक्री, स्वामी-भेदक-विवाद, हृदयन्दी के भगड़े, वाक्पारण्य (अर्थात् कड़वे वचन, अपमान, गाली-गनौज आदि), दडपारण्य (अर्थात् शरीरिक संश्लेषण), चोरी, नारी-अपहरण (अगवा), दासनाग, जुए, आदि से सम्बद्ध सभी प्रकार के भगड़े, विवाद, आरोप, अभियोग, अपराध आदि पचावतों में निपटाये जाते थे। वादी पक्षों के धामे खड़ा हो जाता। पक्ष उससे कहते, “क्या कष्ट है, बेघटक बनाओ।” वादी की वान सुनकर वे प्रतिवादी (मुद्दालेह) को बुलवाने। यदि वह बीमारो या ऐसे ही किसी अन्य उचित कारण में सभा में उपस्थित न हो सकता तो आपत्ति की कोई बात न थी। कुलीन पराई मित्रों, सुवर्तियों, प्रभूतिकाओं तथा रजम्बनाओं को सभा में बुलाने की मनाही थी। वादी और प्रतिवादी की बातें सुनकर उनके वक्तव्य लिख लिए जाते थे। तब सदस्य उनमें गवाही तय कर लेते थे। विचार स्मृति-शास्त्रों के अनुसार होना था। गवाही न हो तो ‘दिव्यम्’ अर्थात् अग्नि-परोक्षा-जैसी कड़ी परोक्षा देनी पड़ती थी। हथियारों को प्राण-दंड मिलता था। उनसे कम मगीन जुर्मों के लिए ‘द्वेदन-दंड’ दिया जाता था, अर्थात् नाक, कान, जीभ, हाथ, पैर या उंगलियाँ कटवा ली जाती थी। साधारण अपराध के लिए ‘केश-दंड’



ही दिया जाता था, अर्थात् अपराधी को बंत्त मारकर या चैतावनी देकर ही छोड़ दिया जाता था। अर्थ-हरण अर्थात् चोरी या गवन पर २०० से १७०० 'पण' तक का जुर्माना किया जाता था। यही न्याय का ढग था।<sup>१</sup>

पश्चिम-चालुक्यों का सम्बन्ध कर्णाटक से था। लेकिन बाद के कावतीयों ने चालुक्यों का ही अनुकरण किया था। इसलिए पश्चिमी चालुक्यों के 'कर-विधान' पर सोमेश्वर ने जो-बुद्ध लिखा है, उमसे अनुमान किया जा सकता है कि तेलुगु देश के अन्दर भी ऐसा ही कुछ अवश्य होता था।

'पशुहिरण्य' (पशुधन अथवा पशु और संज्ञे) पर ५०वाँ भाग, अनाज पर ८वाँ, १२वाँ या १२वाँ भाग, घी, सुपारी, रसगंध, औषधियों तथा फल-फूल, घास-पात, बर्तन-वासन आदि पर छठा भाग कर के रूप में लिये जाने का विधान था। श्रौत्रिय ब्राह्मणों से कर नहीं लिया जाता था। पशुओं के चरने के लिए कुछ गोचर भूमि खुली परती छोड़ देने का भी नियम था।

दक्षिण देश में ग्रन्थों और कर्णाटकों में ललित कला को प्रधानता प्राप्त थी। कुच्छेक दक्षिणी भाव-भंगिमाणें और बाजे-गाजे उत्तर से भिन्न थे। 'ताप्तमुद्रानिषेध' में उच्च कुत्त वालों के लिए नाचने-गाने की मनाही थी। "नृत्यगीतादिक द्विजन्मो का धर्म नहीं।" मूर्तियाँ गढ़ने और चित्र बनाने की कला भी शूद्रों के हाथों में थी।<sup>२</sup> कावतीयों तथा विजयनगर के शासन-काल में साधारण जन भी घर की दीवारों पर चित्रकारी करवाने थे। इस कारण चित्र-नेत्रन-विद्या के विषय में 'अभिलषितार्थ चिन्तामणि' में जो-बुद्ध लिखा है, उसका महत्त्व बहुत अधिक है। इस पुस्तक में 'आलेख्य-कर्म' के नाम पर पूरे १०० पृष्ठ भरे पड़े हैं। चित्र-

१. 'अभिलषितार्थचिन्तामणि', प्रकरण १, अध्याय २। ('पण' सोने का एक सिक्का होता था।)

२. 'अभिलषितार्थचिन्तामणि', प्रकरण भूमिका।

कला पर प्राचीन साहित्य बहुत कम है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में (जो सम्भवन. सन् ८०० में १००० ई० तक के काल का है) इसकी कुछ मविम्नार चर्चा है। इसी को स्पेला श्रामिस नाम की कला-ममीधिका ने अगरेजी में अनूदिन किया है। परन्तु चित्र-कला-शास्त्र (आलेख्य कर्म) उससे कई गुनी अधिक उत्तम रचना है। बल्कि यों कहना चाहिए कि चित्र-कला पर इसमें अच्छी रचना हमारे यहाँ नहीं है। बहुत लोगों का विचार है कि कदाचिन् इस 'चित्र-कला-शास्त्र' के प्रणेता सोमेश्वर ही हैं। पुस्तक के इस भाग का तेलुगु-अनुवाद अवश्य होना चाहिए। चित्र के लिए उपयुक्त रंग तैयार करने की विधि भी इसमें बनाई गई है। लिखा है कि पहलें तो दीवार को पक्के चूने से पोंकर चिकनी कर लेनी चाहिए। भूम के चमड़े को टुकड़े-टुकड़े करके उन्हें कुछ दिन तक पानी में भिगोये रखना चाहिए। गल जाने पर उसकी तलछट निकालकर उसे मक्खन की तरह घांट लेना चाहिए और उसका लेप चूने में पृनी दीवार पर चढ़ा देना चाहिए। नीलगिरि के शलजुर्ण को पीसकर उसके धोल में विविध रंग बनाये जाने चाहिए। बाँम की बारीक तीलियों में तबि की टोपी लगाकर उसके अन्दर बिटाये गए गिलहरी के बालों की बत्तिका तूली का काम दे सकती है।<sup>१</sup> 'सित लोहित, गैरिक, पीन, हरित, नीलादि रंग' और उन्हें बनाने की विधियाँ भी इस पुस्तक में बता दी गई हैं। देवताओं, मनुष्यों, पशुओं आदि के 'प्रमाणों' (नापों) का भी विस्तृत वर्णन इसमें है।

नन्वेचोटु के समय चित्र-कला पर सम्भवनः और भी लक्षण-ग्रन्थ मौजूद थे : "चित्र साधन जुटा, पट तान सजा, उसको चमका, 'त्रिपट' कर नाप से कसकर, ऋज्वागत में रेखाएँ साधकर, पत्रिकाओं, बिन्दुओं, निम्नोन्नतापांग मानोन्मानों को सँवारकर विधिपूर्वक चित्र उरेहा।"<sup>२</sup>

१. 'अभितपितार्थचिन्तामणि', प्रकरण ३, अध्याय १।

२. 'कुमारसम्भवमु' ५-११८।

घरों के द्वारों के दोनों ओर चित्र उतारे उरेहे जाते थे।<sup>१</sup> श्रीनाथ ने 'शृंगार नैपथ्यमु' के सातवें आश्वस में दरवाजों के ऊपर बनने वाले चित्रों का वर्णन किया है। पाल्कुरिकि, गोरन आदि ने भी अपनी कृतियों में इस विषय की चर्चा की है।

### युद्ध-तंत्र

चालुक्य-युग में भी उसी युद्ध-तन्त्र का चलन था, जो बाद के वाकतीय काल में भी चालू रहा। मीमातो पर किलों की रक्षा के लिए 'पालेगार' (रिसालदार पहरेदार) रखे जाते थे। इन 'पालेगारों' को अपने पास एक नियत सख्या में सेना भी रखनी पड़ती थी। अक्सर पड़ने पर 'पालेगार' मेनाएँ राजा की सेनाओं की कुमक का काम करती थी। इस सेवा के लिए 'पालेगारों' को 'जीतपुद्रुल्ल'<sup>२</sup> दिये जाते थे। मूल ससृष्ट महाभारत में इन वेतन-ग्रामों का बही उल्लेख नहीं है। फिर भी तिवकरुय सोमयाजी ने 'आन्ध्र महाभारत' में उन्हें स्थान दिया है।<sup>३</sup>

देव-दानव-युद्ध के नाम पर नन्नेचोडु ने अन्ततः अपने ही समय के युद्ध-विधान का मविस्तर विवरण दे दिया है। एकादश तथा द्वादश, दोनों आश्वस इस विवरण में भरे पड़े हैं। उस विवरण से निम्न-निम्नित बातें प्रकाश में आती हैं।

“कुमारम्बामी देवताओं की मेना के मेनानी बने। उन्हें तिलक लगाया गया। उन्होंने तुरन्त ही कूच का डरा बजवा दिया। सारी सेना युद्ध के लिए सभ्रद्ध हो उठी। हरावन टुकड़ी आगे-आगे खाना हुई। मेना के खर्च के लिए खजाना भी माप-माप चला। पुडसवार आगे-आगे चल रहे थे। धार (बार) तथा धार बज रहे थे। हाथियों का भुड

१. 'कुमारसम्भवमु' ८-१३५।

२. 'वेतनग्राम' या 'जीवितम् ग्राम' (निर्याहार्यं प्रदत्त ग्राम) दोनों अर्थ हो सकते हैं। सं० हि० सं०।

३. 'आन्ध्र महाभारत', विराट पर्व ३-११६।

माय चल रहा था। राजाओं, मंत्रियों तथा मुखियों के निवास भी साथ चल रहे थे। बुद्ध मेना निवास की रक्षा के काम पर तैनात थी।<sup>१</sup> (हिन्दू राजाओं के निवास और मुसलमान सुलतानों के हarem की स्त्रियों का दंड-यात्रा में माय चलना भारतीय इतिहास में एक साधारण बात है।) ध्वज फहरे। दु दुभिया बजी। वीरगण डफ, डोल, मृदंग तथा सिंघे बजाने लगे। सेनाओं के आगे पीछे तथा बराबर में बड़े-बूढ़ों से आशीर्ष पाये हुए सेनानी चले रहे थे। सैनिकगण 'कुतल', 'ईंटे', छुरी, भाले, तीर, बटार, गदा आदि आयुधों से सुसज्जित थे। उनमें से कुछ तो 'वीर-सन्धासी' बन गए थे और कुछ ने यह समझकर 'सर्वस्व दान' कर दिया था कि अब जीवित लौट आने का क्या भरोसा? इस प्रकार सज-धजकर अश्वदल, गजदल, रथदल और पैदलों की चतुरंग सेना शत्रुओं पर टूट पड़ी। मार-काट मच गई। अंधेरा होने ही दोनों ओर से लड़ाई रोक दी जाती थी। (यह हिन्दुओं का युद्ध-धर्म है। मुसलमानों ने इस नीति का पालन नहीं किया। वे प्रायः अंधेरी रातों में अचानक हिन्दू सेनाओं पर टूट पड़ने, घोर मार-काट मचाने और इस तरह युद्ध में जीत जाने थे।) रात के समय जब युद्ध बन्द रहता, तो दोनों ही पक्षों के लोग रण-भूमि में हताहत पड़े अपने सैनिकों को खोज लाते, मृतकों की अत्येष्टि करते और घायलों की मरहम-पट्टी तथा दवा-दारू की व्यवस्था करते। सुबेरा होने ही फिर युद्धारम्भ हो जाता। इस प्रकार जब शत्रु-महार हो गया, तो मेना जय-जयवारो के साथ लौट पड़ी।<sup>२</sup>

यह है 'कुमारसम्भवमु' के युद्ध-वर्णन का संक्षेप। 'अभिलषितार्थ-चिन्तामणि' में भी राजाओं की दंड-यात्रा के विषय में विस्तार के साथ लिखा गया है।<sup>३</sup> "कूच के लिए शत्रु अथवा वमत शत्रु उत्तम है। कूच के समय शत्रुनाशक का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। पत्रा देखकर घड़ी-मुहनें आदि निश्चित करने चाहिए। 'शत्रुविधोषाओं का प्रयोग'

१. 'कुमारसम्भवमु,' ११-५।

२. प्रकरण १, अध्याय २, पृष्ठ ११७ से १७२ तक।

करना चाहिए। रणभूमि में मैत्रिको का उत्साह बढ़ाकर शत्रु का नाश करना चाहिए।" आदि युद्ध-नीति-वचन इस पुस्तक में विस्तार के साथ वर्णित हैं। चालुक्यों की युद्ध-पद्धति से काकतीयों की युद्ध-पद्धति का भी कुछ पता चल सकता है।

पश्चिम-चालुक्यों ने युद्ध में घोड़ों के महत्त्व को पहचाना था। सोमेश्वर ने लिखा है: "यवन देश तथा काबोज देश (अफगानिस्तान) के घोड़े हों और उनमें काम लेना जानने वाले सुशिक्षित सैनिक भी हों तो रिसाले की शक्ति बड़ी-चढ़ी होगी है। शत्रु दूर भी हो तो रिसाला उस पर विजय प्राप्त करके लौट सकता है। घोड़ों से यश की प्राप्ति होती है। जिसके पास अश्व-दल हो, उसका राज्य स्थायी होती है।

'यस्याशवाः तस्य भूस्विरा।'

'अभिलषितार्थचिन्तामणि' में उस सुख-भोग पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है, जो उन दिनों राजा-महाराजा और धनी-मानी भोगा करते थे। यहाँ पर हम इस पुस्तक में वर्णित सुख-भोगों से सम्बद्ध तथ्यों का सारासाम-भर ही दे रहे हैं:

"स्नान-गृह जगमगानि स्तम्भो, स्फटिक के चमचमाने चयूतरों, काँच के कुट्टिमों (फर्मावन्दियाँ), मूर्तियों तथा चित्रों में शोभित हों। हर तीसरे दिन 'अभ्यग स्नान' करना चाहिए। द्वितीया, दशमी तथा एकादशी की तिथियाँ व्रजनीय हैं। 'गेंदगी', 'जात्रिकाय' (जायफल?), पुन्नाग, चपक आदि को 'यत्रयपीडित तिल-नेत्र' में पकाकर मिर-स्नान\* के लिए उपयोग करना चाहिए। नेत्र की चिपनाई दूर करने के लिए शरीर पर बेसन का उबटन मचाना चाहिए। उबटन के बेसन में 'कोष्टमु', 'तड्डोलमु', 'मुस्त', 'माचिपत्रि', 'नगरम', 'सासी', 'बायिट', कमलगट्टे आदि जड़ी-बूटियाँ छाँह में सुघाकर और फिर नींबू, तुलसी तथा 'आर्जकम्' की

१. 'अभिलषितार्थचिन्तामणि', प्रकरण, १, अध्याय २, पृष्ठ ६६।

२. स्नान के समय मिर को भी घोंपें तो वह 'शिर-स्नान' कहलाता है, मिर भिगोया न जाय तो 'कंठ-स्नान'।

पत्तियों के साथ पीसकर, इलायची, जायफल, सरसो, निल, धनियाँ, 'तगिरिम', (चकबॅड<sup>१</sup>) लवंग, लोघ्न, 'श्रीगंधमु', अगुरु आदि के साथ मिद्ध कर लेना चाहिए ।”

उनका ताबूल अर्थात् पान का बीडा भी असाधारण ही होना था । “मुपारी को कपूर के रस में भिगोकर उसमें श्रीखंड चन्दन और कस्तूरी मिलाकर सुखा लेना चाहिए । उसमें और भी द्रव्य साथ ही डालकर, 'शोषा' जाय तो ठीक है । मोती को उपलो की भट्टी में उतारकर उसकी भस्म के चूने को पान के साथ खाना चाहिए । हरा कपूर, कस्तूरी, धनमार आदि पान के साथ ही खाये जायें । तबकोल, जामफल आदि को बूट-पीसकर उनकी गोलियाँ बनाकर रखनी चाहिए । ये गोलियाँ भी पान के साथ ही खाई जायें ।”

उस युग में राजाओं के 'वस्त्र-भंडार' अलग होने थे । इस पर एक पृथक् अधिकारी नियुक्त रहता था । देश-देशान्तरी में वस्त्र भेजवाए जाते थे । पोहनपुर, चीरपल्नी, अवंती, नागपट्टणमु, पाड्यदेश, अल्लिवावरमु, मिहल, गोवाकमु (गोवा), मुरापुरमु (उत्तर सरकार का मुरपुर), गुजण, मूलस्थान (मुलतान ?), तोडीदेश (मद्रास के दक्षिण में स्थित तुडीर), पचपट्टण, महाचीन (चीन), कलिंग, वग (वग, बंगाल) आदि में रंग-विरंगे कपड़े आते थे । मजिष्ठ, लाव, वीमुंभ, सिदूर, हरिद्रा, नील आदि से नानाविध रंग तैयार किये जाने थे । चीर (साड़ी), 'घट्टकमु', मेल्ला, दुपद्दु, (दुपट्टा या चादर), अंगी (अगिका :, अगरमे), उष्णीप (पगडी), टोपी, (टोपिका) आदि विविध परिधानों का प्रचलन था । तब तक 'अंगी' शब्द तो काफी प्रचलित हो चुका था, पर 'टोपी' शब्द पहली बार यहाँ पर मुतने में आता है । “वसन ऋतु में मूनी कपड़े, गर्मियों में वारीव उजने कपड़े और वर्षा ऋतु में उनी कपड़े पहनने चाहिए ।<sup>२</sup>

१. दक्षिण के पठारों में जाड़ों का जोर नहीं होता । सर्दों वर्षा-ऋतु में ही पड़ती है ।

२. इसे लगाने से चमड़े की खुजलाहट मिटती है ।

राजाओं को सदा अपनी अंगी-टोपी पहने रखनी चाहिए।”

‘अभिलषितार्थचिन्तामणि’ में अन्नभोग, आसनभोग तथा आस्थानभोग इत्यादि के जो विस्तृत विवरण दिये गए हैं, उनसे उस समय के राजाओं के मुख-भोग का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

इस अध्याय के प्रधान साधन ग्रन्थ

१. नन्नेचोडु ‘कुमारसम्भवमु’।

२. ‘ग्रन्थ महाभारत’ (तेलुगु भारतमु), विराट पर्व के अन्त तक।

३. चालुक्य सोमेश्वर · ‘अभिलषितार्थचिन्तामणि’, प्रथम सप्तक,  
(मैसूर विद्वद्विद्यालय द्वारा प्रकाशित)

## काकतीय युग

वरगल के काकतीय चक्रवर्तियों ने अनुमानत सन् १०५० से १३५० ई० तक शासन किया। आन्ध्र के आदि कवि नन्नय भट्ट सन् १०५० ई० के लगभग हुए। वह पूर्वी चालुक्यों के आस्थान-कवि थे। इस प्रकार चालुक्यों तथा काकतीयों का शासन-काल लगभग एक ही रहा है।

नन्नय भट्ट ने पूर्व आन्ध्र के सम्बन्ध में हमें जो थोड़ी-बहुत बातें मालूम हो सकी हैं, वे नहीं के बराबर हैं। नन्नयकालीन परिस्थितियों से भी हम लोग भली भाँति परिचित नहीं हैं। जो थोड़ी-बहुत जानकारी प्राप्त होती है, वह काकतीयों के ही सम्बन्ध में होती है।

काकतीय साम्राज्य की परिस्थितियों की जानकारी प्राप्त करने के साधन हैं—शिलालेख, रचनाएँ, शिल्प-सामग्री, विदेशी यात्रियों के संस्मरण, सिक्के, दन्तकथाएँ और तांत्रिकियाँ। इनमें से हमें जो कुछ भी और जितना कुछ भी मिल जाय वह हमारे लिए काम का होगा। इन्हीं के आधार पर हमें आन्ध्र जाति के आरम्भिक इतिहास के समय जनसाधारण की राजनैतिक, सामाजिक, नैतिक तथा बौद्धिक परिस्थितियों का थोड़ा-बहुत पता चलता है। आन्ध्र के अति प्राचीन ग्रन्थ 'प्रतापरद्रचरित्रम्' में लिखा है कि काकतीय वंश के राजा शालिवाहन सम्बत् के आरम्भ से ही शासन करने रहे, परन्तु यह सरासर गलत



है, क्योंकि आन्ध्र देश के इतिहास के अन्दर स्थान प्राप्त करने वाला पहला वावर्तीय राजा है प्रोगाराजु । इसीलिए इन अध्याय में सन् १०५० से १३२३ ई० तक अर्थात् वरगल के पतन तक के आन्ध्र के उस सामाजिक जीवन की चर्चा की जाती है, जिसका विवरण अभी तक उपलब्ध हो सका है ।

### धर्म

हमारे लिए धर्म प्रधान जीवन-विधान है । इसलिए उसी के सम्बन्ध में सबसे पहले विचार करेंगे । उस समय आन्ध्र देश के अन्दर बौद्ध धर्म का लगभग अन्त हो चुका था, किन्तु जैनियों का जोर था । लगता है कि श्री गकराचार्य का प्रभाव आन्ध्र देश पर नहीं पड़ा । यहाँ उनके समक्ष कुमारिल भट्ट ही का बोलबाला था । कुमारिल के दर्शन-मत्व का प्रबल प्रचारक प्रभाकर तो उत्कल-निवासी था, पर स्वयं कुमारिल ठेठ आन्ध्र थे और गजाम जिले में जयमगल नामक ग्राम में पैदा हुए थे । कुमारिल भी जैनियों के परम शत्रु थे, किन्तु वह जैनियों को यहाँ से मिटा नहीं सके थे आन्ध्र और कर्नाटक के अन्दर जैनियों को तहस-नहस करने वाले 'वीर शैव' ही थे । वीर शैवों ने शास्त्रार्थ का अधिक महारा नहीं लिया । जात-पात में रहित सर्वजन-समानता के जैनी सिद्धान्त को तो शैवों ने अपनाया, किन्तु जब तक और जहाँ-जहाँ वाद-विवाद और शास्त्रार्थ में जैनियों को झुगाने तक और जहाँ-तहाँ उन अहिंसावादियों पर हिंसा का प्रयोग करने में शैव लोग तनिक भी पीछे नहीं हटे । यही वीर शैव हैं, जिन्होंने राजाओं को अपने वश में करके उन्हें वीर शैव धर्म की दीक्षा देकर, उनके मन्त्री और मेनानी बनकर, अन्य राज्यों को अपने अधीन करके, कथा-कहानियों में, कपोल-बल्पनाओं में, कटार-तलवारों तथा अन्य अनेक उपायों में उस 'पर-धर्म' को जड़मूल से उखाड़ फेंका था और निष्कटक होकर यहाँ पर वीर-विहार किया था । जैन मूर्तियों को उखाड़ फेंककर उन्होंने उसी जगह पर विग-महादेव

की स्थापना की। हाँ, जैनियों की थोड़ी-बहुत नग्न मूर्तियों को शंको ने यदि अपने वीरभद्र की मूर्ति में परिवर्तित कर लिया हो तो इनमें कोई आश्चर्य नहीं। हम लोग आज भी जहाँ-तहाँ मन्दिरों के बाहरी भागों में जैन मूर्तियाँ पाते हैं। हैदराबाद के अन्दर गद्दवान के निकट पूडूर नामक ग्राम में मन्दिर के बाहर कुछ ऐसी जैन मूर्तियाँ हैं, जिन्हें गाँववाले 'बाहरी देवता' के नाम से याद करते हैं। वही पर एक शिलालेख भी है, जो 'जैन दानन' कहलाता है और जो आठ सौ वर्ष पुराना है। इसी प्रकार करीम नगर जिले के 'बेमूलवाड़ा' में भी जैन मन्दिर 'शिवालय' में परिवर्तित हुआ। मन्दिर में पहले से प्रतिष्ठित अमनी जैन मूर्तियाँ बेचारी दरवान बनकर मन्दिर के दरवाजे पर लड़ी हैं। आन्ध्र के अन्दर ऐसे हृष्य अनेक स्थानों पर देखने में आते हैं। हिन्दू जब जैन मूर्तियों को जहाँ-तहाँ ऐसी दत्ता में पाते हैं तो उनकी नग्नता को छिपाने के विचार में उन पर मिट्टी पोत देने हैं, अथवा चिपड़ा या मून लपेट देते हैं, जोगीपेट का कस्बा तिस्रो समय पूरांतया जैन (जोगियों की) बस्ती थी। वहाँ पर आज भी जैन धर्म के अनुयायी मौजूद हैं। यहाँ से कुछ दूर 'कोनन पाक' जैनियों का सुप्रसिद्ध तीर्थस्थान है, जहाँ दूर-दूर से लाखों यात्री हर साल आते हैं। हैदराबाद शहर में भी जैनियों के प्राचीन मन्दिर मौजूद हैं। बरगल और हनमनोडा में शहर के अन्दर और बाहर पहाड़ी चट्टान पर भी बहूनेरी जैन मूर्तियाँ मौजूद हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि तिस्रो समय मारें तेलंगाने में जैन-धर्म का ही बोलबाला था।

शाक्यियों के राज्य-काल में जैन, शंख और वैष्णवों में अपने-अपने धर्म के प्रचार और उनकी प्रवृत्तता की प्रतिष्ठा के लिए परस्पर होड़ लगी थी। इन तीनों सम्प्रदायों के बीच यहाँ एक समानता रही कि तीनों ही ज्ञान-प्राप्त को मिटाकर सब को समान मानने थे। यह कहा जा सकता है कि आन्ध्र के अन्दर कवित्रय अर्थात् आन्ध्र के आदि-कवि श्री नम्रप भट्ट, यराप्रगडा और निडुता मोनयाजी ही वर्णाश्रम धर्म के

गए थे। कहीं-कहीं सोमनाथ के लेखों में इसकी और स्पष्ट संकेत भी है।<sup>१</sup> इस प्रकार सन् १२०० ई० तक जैनधर्म क्षीण हो चुका था और उसकी जगह वीर-शैव धर्म स्थापित हो चुका था।

ठीक उसी समय ग्रान्ध देश के अन्दर वैष्णव धर्म भी वीरशैव में आविष्ट हो रहा था। 'वीर वैष्णव' के रूप में वह भी 'वीर-शैव' के सामने ताल ठोककर खड़ा हो गया। वैष्णव धर्म या शैव धर्म कोई नये सम्प्रदाय नहीं थे। तमिलनाडु के अन्दर वे चिरकाल से चले आ रहे थे। शैव-धर्म वैष्णव धर्म से भी अधिक प्राचीन है। ये दोनों सम्प्रदाय तमिलनाडु में ही ग्रान्ध देश में आये। दोनों ही सम्प्रदायों के प्रचारकों के बीच मूढ़ स्पर्धा रही। दोनों ने अपनी-अपनी मर्यादा बढ़ाने के लिए मूढ़ादि जनों में अध-भक्ति बिठाकर उन्हें अपना अनुयायी बना लिया। इस विचार में कि फिर कहीं वे अपनी गोदी से निकल न भागें, शैवों ने अपने अनुयायियों के गले में महादेव का लिग बांध मटकाया और वैष्णवों ने अपने चेलों के शरीर पर मूढ़ाएँ दाग-दाग दी। वे शय, चक्र आदि के मुहूर भाग में तपाकर भुजाओं आदि पर दाग देने थे और निपुंड तिलक लगा देने थे। मोन बुद्धारेड्डी की रामायण की द्विपद में लिख डालना भी वास्तव में वैष्णव धर्म के प्रचार के लिए शैवों का एक अनुकरण मात्र ही है। बाद में अपने छोटी-छोटी द्विपदों के कारण प्रसिद्ध निर्वंगननाथ ने निरी शिव-निन्दा के द्वारा विष्णु भक्ति का प्रचार किया। उन्होंने "परम योगी बिलामम्" के नाम से एक पूरा पुराण ही द्विपद में लिख डाला।

जैनियों के रगभूमि से तुल्य हो जाने के बाद इस धार्मिक उन्माद के मदा-मुद के लिए वीर शैव और वीर वैष्णव ही बचे रहे। इन दोनों ने

१. "जैनियों की ताड़ना करके" (पाल्कुरिकी)।

"जैन, बौद्ध, चार्वाक ये तीन दुष्पथ सम्प्रदाय हैं। इन तीनों को निर्मूल करने तक तीनों शाय तुम्ह पर तीन पत्थर फेंका करेगा।" (पाल्कुरिकी असव पुराण, १८०)। "जैनी कहलाने माने सभी लोगों को मिट्टी में निलाकर" (पाल्कुरिकी ब० पु० १६२)।

आपस में जो गाली-गलौज है, उनका एक पूरा महाभारत तैयार हो सकता है। इन्होंने मन्दिरों के अन्दर मूर्तियों के रूप भी, जब-जब बन पड़ा, बदन डाले। सुप्रसिद्ध तिरुपति वैक्कटेश्वर मूर्ति के सम्बन्ध में काव्तीय बालीन श्रीपति पडित ने अपने 'श्रीकर भाष्य' में लिखा है कि वह कम्पुनः शैव वीरभद्र की मूर्ति भी, जिसे विष्णु की मूर्ति में परिवर्तित किया गया।<sup>१</sup> श्रीपति पडित ने यह भी कहा है कि यह बलात् परिवर्तन श्री रामानुजाचार्य द्वारा हुआ है।

जिन प्रकार उन्होंने जैनियों के विरोध में पढ़ते कहा था कि भले ही प्राण जायें तो जायें पर जैन मन्दिरों के अन्दर पग न धरेंगे, उन्हीं प्रकार अब वीर वैष्णवों तथा वीर शैवों ने आपस में ही एक-दूसरे को चाड़ल, आदि कहकर गाली-गलौज शुरू कर दी। वे अपने-अपने इष्टदेव को बड़ा निन्द करने के लिए "हमारा देव बड़ा, हमारा देव बड़ा" बिल्लाने बादविवाद करने रहें और अपने-अपने कथन की पुष्टि में कयामो तथा पुराणों की सृष्टि करने रहे। जैनों, शैवों तथा वैष्णवों का यह परस्पर द्वेष-भाव ही काव्तीय राज्य के पतन का एक प्रमुख कारण बना।

शैवों तथा वैष्णवों के बीच चाहे जो भी झगड़े रहे हों, इन्में सन्देह नहीं कि उन दोनों ने ही जान-भात का नाम-रूप मिटाने का प्रयास किया है। शैवों ने घोषित किया कि गने में लिंग धारण करने वाले सभी लोग एक ही जाति के हैं। वैष्णवों ने घोषणा की कि समाश्रयण (मुद्रा दगवा) करके तिलक त्रिपुंड लगाने वाले सभी लोग समान-वृत्त हैं।

'पल्लनाटि वीर चरित्र' के अनुमार ब्रह्मनायडु का आत्मण जाति में नेकर चाड़ल जाति तक की स्त्रियों के साथ अपने-विवाह करना, उनके

१. "ननु वैक्कटेश्वर-विठ्ठलेश्वरस्थाने विष्णोरीश्वर शब्दिधरणात्..... वैक्कटेश्वरस्थाभास विष्णुत्वं, तदंगे नागभूषणादि धर्मिणात् छोटतनात् भूतविषहे शंखचक्रादि सांघना नामदर्शनात्..... किंच तत्पाष्ययोदेने शिवलिंग-दर्शनादीश्वर शब्दो ध्यवहियते ।"

मुख्य अधिकारी वज्रनीडु का ब्रह्मननायुड्ड का पिता मानता, रसभूमि के अन्दर मालें, मादिर्ग (चमार, पासी) बेलमें (ठाकुर) लोहार, बढई, कुम्हार आदि का वैष्णव मतानुयायी बनकर एक पगत में बैठकर 'चटाई भोजन' पाना अर्थात् एक ही चटाई पर बैठकर भोजन करना, आदि सभी विषय विचार करने योग्य है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि बेलमें सुधारवादी थे और रेड्डी कट्टर पथी। स्वयं पल्लनाटि-युद्ध का भी एक मुख्य कारण यह 'चटाई भोजन' था।

बेलमें लोगों की चर्चा आई है। इसलिए, मक्षेप में उनके बारे में भी दो शब्द लिख दें। ये बेलमें कौन थे? इसका ठीक-ठीक पता अभी तब नहीं लगा है। वरगल में एद्रमं देवी के शासन तथा मुमलमानों की दड-यात्रा (चटाई) के दौरान में इन रेड्डीयों और बेलमों के बीच यह स्पर्धा उत्पन्न हुई, जो नित्य बढती ही गई और अन्त में दोनों राज्यों के पतन और विनाश का कारण बनी। ऐसा लगता है कि एद्रमं देवी ने बेलमों को एक प्रकार की त्रिनिष्टता दे दी और रेड्डीयों के साथ किसी दूसरे प्रकार का व्यवहार किया। कवि श्रीनाथ ने लिखा है कि बेलमें वीर वैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायी थे और कोडनीडि रेड्डी राजा परम सैवाचार-गरायण थे तो फिर 'श्रीडाभिराममु' के इस वाक्य का क्या अभिप्राय होगा?

—“यहाँ पर स्वाम्म मौत-पुत्रों ने धरती को वाजी पर लगाकर धार युद्ध किया?” बलनाटि युद्ध के अन्दर आपस में ही लड़ मरने वाले इन दोनों ही पक्षों के लोग एक-दूसरे के जाति-भाई ही थे फिर कवि ने उन्हें 'स्वाम्म-मौत-मन्नान' क्यों कहा? मेरे विचार में बेलमें घान्त्र देव के निवामी नहीं थे। रेड्डीयों की भी यही दशा थी। ऐसा लगता है कि

१. “आरवलि-वासिनी नायिका की कुमंत्रणा  
कुवकुट-रण का व्यसन, चटाई का सहभोजन  
यही तीन हैं प्रथम हेतु, पल्लनाटि युद्ध में  
एकांगी संहार हुआ वीरों का जिनमें !”

—श्रीडाभिराममु

इनमें में एक जाति तो उत्तर की ओर में आई थी और दूसरी दक्षिण की ओर में । उत्तर के 'राट्टकूट' के निवासी जो यहाँ आ बने, वे रेड्डी कहलाये और मं० ११००, ई० के लगभग वेल्मान जानि के जो लोग दक्षिण के तमिल देश से आकर काकतीय सेना में भरनी हुए, सम्भव है वही बाद में वेल्में कहलाने लगे हों । नये-नये ही आये होने के कारण वेल्मों को रेड्डीयो ने अपने से हेटा माना और उनमें दुश्मनी भोन ली । पन्नाटि वीर चरित्र में हैहय दासादो ने युद्ध किया था । हो सकता है कि वे खाने रहे हों, और इमीलिए कवि ने उपर्युक्त वर्णन प्रस्तुत किया हो ।

वीर वैष्णवों की अपेक्षा वीर शैवों ने जात-पाँत का विध्वंस अधिक किया है । उन्हे इन मामले में ब्राह्मणों के विरुद्ध भी लडना पडा था । "कोपम् शेषेण पूरयेत्" के न्यायानुसार वे तर्क को त्यागकर 'त्वम् शुंठः', 'त्वम् शुंठः' कहकर अक्षर गाली-गलौज पर भी उतर आते थे । 'पाल्कुरिकी वसव-पुराण' के कुछ उद्धरण यें हैं :

"शूलपाणि-भक्तों को उठते हाथ उठें यदि कंठ-रज्जु-उपवीत मालें को,—दोष नहीं क्या ?"<sup>१</sup>

×

×

×

"अक्षम-नयन को सेवा जो न करे वसुधा में अक्षम भी क्यों न हो भला, वह अक्षम मालें है !"<sup>२</sup>

"पूज्य भला क्या ये त्रिपुण्ड्रधारी बुते हैं ?"<sup>३</sup>

"...आगम-भारारांत तथा एदापित ब्राह्मण ये वास्तव में सादी ढोते गर्दभ-समान है !"<sup>४</sup>

१. यस्टेन : "कास्ट्स एण्ड ट्राइव्म ऑफ साउथ इंडिया ।"

२. (पद्य) 'पाल्कुरिकी वसव-पुराणम्,' पृष्ठ १६ ।

३. (॥) " " " " " २०७ ।

४. (॥) " " " " " २३७ ।

५. (॥) " " " " " २२५ ।

उन्होंने इतने ही पर बस नहीं किया। ब्राह्मणों को उन्होंने कम-चाण्डाल, व्रतभ्रष्ट, दुर्जात, पशुकर्मों आदि अनेक दुर्वचनों से घुरा-भना कहा है।

जात-पात का यह भेद-भाव वैसे तो हिन्दू धर्म में चिरकाल से चला आ रहा था। लेकिन इन वीर शैवों तथा वीर वैष्णवों के कारण काकतीय शासन के पतन के पश्चात् वह और भी स्थिर होकर अनेक नई जातियों के जन्म का कारण बना। शैवों में लिगायत, बलिजें, जंगा, तवळ इत्यादि नई जातियाँ पैदा हुईं। इसी तरह वैष्णवों में भी नम्ब, सात्तार, दासरी आदि कई नई जातियाँ बन गईं। शैवों ने धर्म के नाम पर नवयुवतियों को 'वसविन' बना दिया। वसविनें आजीवन अविवाहित रहकर व्यभिचार-श्रुति करती थीं। वैष्णवों ने भी समाश्रयण करके देवदासियों का जतथा तैयार किया। काकतीयों के बाद अधिकतर शैव वैष्णव हो गए। इन धर्म बदलने वालों में मुख्य रूप से रेड्डी ही थे।

काकतीय वंश में प्रोल राजु तक सारा राजपरिवार जैनी था। प्रोल राजु का बेटा शैव बना। इस राजवंश का काकतीय नाम काकती देवी के नाम पर था, पर यह 'काकती' कौनसी देवी है, इसका पता उस समय के लोगों को भी नहीं था—कलुवाचेरु के शिला लेख में लिखा हुआ है, "काकत्या पराशक्ते. कृपया कूप्माण्ड-बल्लिका काचित्। पुत्रमसूत तदे तत्कुलमनघम् काकति संज्ञमभूत्।" काकतीय लोग क्षत्रिय नहीं थे, यह बात स्वयं विद्यानाथ ने लिखी है,<sup>१</sup>

शैव हो जाने के बाद काकतीयों ने जैनियों को खूब सताया। 'सोमदेव राजीयम्' में लिखा है कि गणपतिदेव ने "अनुमवाड के बौद्धों तथा जैनियों को धुलवाकर उन्हें प्रसिद्ध विद्वान निक्कनों के साथ शास्त्रार्थ करने पर मजबूर किया।" निक्कनों नेल्लर के राजा मनुमैमिद का दर-वारी कवि था। इसी 'सोमदेवराजीयम्' में लिखा है कि वरगल के

१. 'अत्यकन्दुकुतप्रशस्तिमसृजत्'—प्रतापरद्वीयम्।

गदा गुरुपति देव को अपना साथी बनाने के लिए नेन्नूर के राजा ननुमोन्द की ओर ने तिककनों को दरंगल भेजा गया था। इसी अवसर पर उनसे जैनो और बौद्धों को परास्त किया था। गुरुपतिदेव ने जब तिककना की वाक्पटुता से प्रभावित होकर जैनियों के मिर उठा दिए और बौद्धों को दरवाद कर दिया।<sup>१</sup> इन सब बातों से इस विचार की पुष्टि होती है कि मात्र महानारत के प्रणेता कवित्रय का आधिपत्य केवल भाषा तक ही सीमित नहीं था, वे केवल पुराणों के ही रचयिता नहीं थे, बल्कि मध्यकालीन ज्ञान-साँत तत्त्व के समर्थक तथा प्रचारक भी थे।

काकतीय शासन-काल में बौद्धों तथा जैनो के सम्प्रदायों के अतिरिक्त और भी अनेक सम्प्रदाय प्रचलित थे। छद्मैतवादी, ब्रह्मवादी, पंचरात्रवादी, एकारमवादी, अभेदवादी, शून्यवादी, जातिवादी, कर्मवादी, नास्तिक, चार्वाक-संघी, श्रुतिवादी, शब्दब्रह्मवादी, पुण्यत्रयवादी, लोकायतवादी<sup>२</sup> इत्यादि मतावलम्बी भी उन दिनों मौजूद थे।<sup>३</sup>

काकतीय काल में शैवों ने अपने सम्प्रदाय के प्रचार के लिए 'गोवकी मठों' की स्थापना की। मठाधीशों ने कुछ महान् विद्वान् भी हुषा करने थे। वे अपने मठों के अन्दर विद्यादान तथा अध्यापन का काम किया करते थे। गोवकी मठों में शैव सम्प्रदाय की शिक्षा तथा शास्त्रों का अध्ययन मस्कृत भाषा में ही हुषा करता था। गोवकी मठ एक प्रकार से शैव-सम्प्रदाय के 'गुरुकुल' होने थे।

गोवकी मठों के संचालन के लिए राजा-महाराजा तथा धनी-सानो आमदान तथा भूदान दिया करते थे और दान-पत्र निम्न देते थे। पीछे गोवकी मठों का चन्त नहीं रहा, केवल जंगम मठ अथवा जगमवादी मात्र ही रह गए। हैदराबाद राज्य के अन्तर्गत महबूबनगर

१. 'पंडिताराध्यचरित्र,' प्रथम भाग, पृष्ठ ५०६-७।

२. 'सिद्धेश्वरचरित्र'।

३. 'पंडिताराध्यचरित्र,' प्रथम भाग, पृष्ठ ५११।



जिले के गंगापुर में दो सूने मन्दिरों के खँडहर हैं। गाँव वाले उन्हें 'गोलवक—गुल्लु' कहते हैं। 'गोल्व' के माने ग्वाले के हैं और 'अकक' वहन को कहते हैं। शैव शब्द 'गोलकी' और ग्वालावाची शब्द 'गोल्वा' में शाब्दिक समानता पाये जाने के कारण गाँव में एक किंवदन्ती भी चल पड़ी कि किसी सुन्दरी ग्वालिन पर शिवजी मोहित हुए, उसके साथ सुखभोग किया तथा अन्त में उस ग्वालिन को यह वरदान देकर अन्तर्धान हो गए कि प्रतिदिन सबेरे अपनी मुट्ठी के अन्दर वह जो कुछ बन्द कर ले, वह सोना हो जायगा। कहते हैं कि ग्वालिन ने जमी सोने से ये मन्दिर बनवाये थे। सच तो यह है कि उसी स्थान या उसके आसपास उस समय गोलकी मठ रहे होंगे। यह भी लगता है कि गोलकी मठों के अन्दर गुरु भी शैव धर्म में दीक्षित ब्राह्मण ही हुआ करते थे।

"इन्हीं (ब्राह्मणों) के परामर्श के कारण प्रतापन्द्र के काल में ग्रान्ध देश के अधिकतर शिवालयों से पुराने 'तम्मन्डु' पुजारियों को हटाकर उनकी जगह पर ब्राह्मणों को 'अर्चक' नियुक्त किया गया।"<sup>१</sup>

"पहले सभी शिवालयों के पुजारी तम्मल्लु या तम्बल्ल जाति के लोग ही हुआ करते थे, जो 'जिम्य' कहलाते थे।<sup>२</sup> आज भी कुछ शिवालयों के पुजारी तम्मळी ही चले आ रहे हैं। शैव देवलों से तबल्लियों के हटायें जाने पर ही शायद किसी भक्त ने यह प्रश्न किया है .

"शिवाल्लय-समुद्भव के दिन से

शिव को भजने वाला कोई

ऐसा न हुआ, जिसने अर्चक

तम्मळि का कभी विरोध किया।"<sup>३</sup>

बावतीय वन के राजा गणपतिदेव ने एक गोलकी मठ के पीठ

१. वे० प्रभाकर शास्त्री, 'बसव-पुराण पीठिक' (भूमिका), पृष्ठ ७६।
२. वही, पृष्ठ ११४।
३. 'बसव-पुराण' (पाल्कुरिक) पृष्ठ ७३।

गुरु विश्वेश्वर शिवाचार्य के हाथों दीक्षा ग्रहण करके वृष्णा नदी के तट पर मंदड नाम के ग्राम में गोलकीमठ, विश्वेश्वर विद्यामंडप की स्थापना की थी।<sup>१</sup>

“मंदडुग्राम के उपभोक्ता बनकर और दक्षिण राठ से आये हुए कालामुषियो के साथ बेलगोंपूडि के मठों में विद्यालय स्थापित करके ग्राम्भ्र देश के अन्दर विज्ञान फैलाकर विश्वेश्वराचार्य जैसे विद्वद्गण इन काकतीयों के समय में ही यहाँ पर जन्म चुके थे। कुमार स्वामी ने भी लिखा है कि काकतीय गणपति देव ने गणपेश्वर मन्दिर का निर्माण करके वहाँ पर अनेक विद्वानों को आश्रय दिया था। इन्हीं के सम्बन्ध में ‘प्रतापरद्रीयम’ में विद्यानाथ ने कहा है—“राजन्नेते गणपेश्वर सूरयः”।<sup>२</sup>

काकतीयों के शासन काल में ही सम्भवतः शैव वैष्णव सम्प्रदायों के समन्वय के विचार से हरि-हर भगवान की मूर्तियों की पूजा होने लगी थी। कहते हैं कि नेल्लूर में ऐसी एक मूर्ति थी। तिकन्ना सोमयाजी ने ग्राम्भ्र महाभारत के अपने पहले पद्य में ही इस ‘हरि-हर’ मूर्ति का वर्णन किया है। “लक्ष्मी रूपी गौरी के लिए मनमोहक रूप धारण करके हरिहर भगवान की भद्र मूर्ति बनकर।” उसी प्रकार गुप्ति प्रान्त के निवामी नाचनें सोमनें ने भी अपनी “उत्तर हरिवश” नामक कृति “हरि-हर” नाय को ही समर्पित की है।

नाचनें सोमनें के समय (लगभग सं० १३०० ई०) में शैव और वैष्णव सम्प्रदायों के बीच द्वेष-भाव सूब रहा होगा। तभी तो उन्होंने निम्ना है :

परस्पर वादविवाद मोह-मद  
 पो-पो भरते हरिपद हर-पद  
 यह शुभ वह शुभ के चक्कर में

१. वे० प्र० शास्त्री, ‘पोठिक’ (भूमिका), पृष्ठ ७५।

२ ‘पल्लोटि घोरचरित्र’, द्वितीय भाग, अक्किराजु उमाकातम् जी की पोठिक (भूमिका)।

रह जाते कंलाश शिविर में  
 जुड़े हुए ऋषियों-मुनियों में  
 माना हैं और हरिहर में  
 वही मुरारी, वही पुरारी  
 बने परस्पर के क्षमकारी  
 यह विचार ही घोर मोह है,  
 दोनों के प्रति महा झूठ है ।<sup>१</sup>

हम कह सकते हैं कि मूर्ति-पूजा और अनेकानेक सम्प्रदायों ने ही हिन्दुओं में फूट डालकर उन्हें कमजोर कर दिया है। जन-भाषारण ने "महा शक्ति" के शक्ति-भेद को भिन्न-भिन्न रूप देकर छून के रांगो के लिए अलग-अलग देवियाँ बनाकर सड़ी कर ली, और भक्त-जनो को देवता बनाकर पूजा। वाकतीय काल में त्रिन देवी-देवताओं की पूजा होती थी वे थे—

१—एकवीर—यह कोई शैव देवी ही हो सकती है। इस पद्य के आधार पर स्पष्ट है कि यह देवी (परशुराम की माता) "रितुवा" है। "एक वीर वाकतम्या ही है ।"<sup>२</sup> माहूर नामक ग्राम में प्रतिष्ठित होने के कारण इन्हे माहूरम्मों भी कहा जाता है ।<sup>३</sup>

यह एक नाममूर्ति है ।<sup>४</sup> इसी देवी को आजकल तेलंगाण के रायल-मीमा के चन्दर 'एल्लम्मों' देवी कहा है ।<sup>५</sup>

वरगल में 'एल्लम्मों' नाम की एक प्रसिद्ध देवी का स्थान है। वह

१. उत्तर हरिवंशमु, अध्याय २, पद्य ६८ ।
२. श्रीज्ञाभिराममु ।
३. श्रीज्ञाभिराममु ।
४. "एकवीरम्मकु माहूरम्मकु अघाहोंकारमध्यात्मकुन" (श्रीज्ञा-भिराममु) "श्रीज्ञासून्य कटीरमंजलमु देवी शम्भळीप्रातमु (श्रीज्ञा-भिराममु)
५. श्रीज्ञाभिराममु ।

अति प्राचीन भी लगता है। एल्लम्मों बाजार के नाम से वरंगल में एक मुहल्ला है। पर यह नहीं मालूम कि वरंगल के अन्दर एल्लम्मों के नाम से किसी नग्न देवता की मूर्ति आज भी है या नहीं। आनमपुर में जरूर ऐसी एक मूर्ति है। यह स्थान दक्षिण काशी और श्रीगंग (गंगेश्वर) पर्वत का पश्चिमी द्वार कहलाना है। 'नव ब्रह्मानन्द' के अति प्राचीन मन्दिर भी यहाँ पर हैं। अष्टादश महाकवियों में से एक शक्ति "जोगुळाम्बे" इसी जगह पर है। "जोगी अम्बा" इस शब्द से ही प्रतीत है कि अनन जैन ही को कदाचिन् बनाव् शैव देवी बना दिया गया है। इसी आनमपुर में दो और मूर्तियाँ हैं जिनमें से एक का घड़ मात्र है, निर नहीं है, और दूसरी एक स्थूल नग्न मूर्ति है जिसे स्थानीय जन एल्लम्मों और रेगुकों नाम से याद करते हैं। कहते हैं कि परशुराम ने पिता को आज्ञा में माया के निर पर फरसा बना दिया था। कहते हैं कि निर बटकर बनारस की चमरौठी में जा गिरा और घड़ मात्र वहीं रह गया। उसी स्थान पर प्रात एक हस्तनिर्मित ग्रन्थ में उल्लेख है कि यह देवी बालि ग्वियों को मुन्नान प्रदान करती है।

इसी एल्लम्मों की कथा रेगुकों की कथा के रूप में आज भी रायव-मौना के अन्दर और हैदराबाद के महबूबनगर जिले के अन्दर बखरीट नामक गाँवों (बनारस की एक) जाति वाले दो-दो दिन तक जवनिकें (या जनटिकें) नामक ढोंच बजाकर गा-गाकर मुनते हैं। बखरीटों के गान-बान में इसी बखरीट जाति की ग्वियाँ भी एल्लम्मों की कथा योग्य-आदेश के नाम मुनाया करती थीं। उनके वाजे की धुन होती थी—**डुके डुडु डुडु, डुके डुडु डुडु ।<sup>१</sup>**

(२) मंनार देव—कदाचिन् यह भी 'एक बीर' की तरह पहले जैन देवता रहे थे और पौद्ध शैव देवता बन गये होंगे।<sup>२</sup> मंनार एक शैव का नाम है। इसीलिए इनका नाम मंनार देव पड़ा। शैव कविता में

१. बीड़ामिरामनु ।

२. बीड़ामिरामनु ।

मंलार देव को भंरव का जोड़ीदार बताया गया है ।<sup>१</sup>

(३) अन्य देवी-देवता ये हैं—भंरव, चामुंडेश्वरी वीरभद्र, मानम्में कुमार स्वामी, पाडव, स्वयंभूदेव (शिव), मुद्दाह, मुसानम्मा ।<sup>२</sup>

(४) वीरगुड्डम—आज भी कई जगहों पर वीरगुड्डम खड़े हैं । किसी स्थानीय व्यक्ति के वीरोचित कृत्यों के लिए स्मारक खड़ा करना उन दिनों का आचार था । उमाकान्तम ने कहा है कि पल्लनाटि वीर-मुद्ध स० ११७३ के लगभग की घटना है । उन वीरों की पूजा पल्लनाटि में आज भी जारी है । जिस दिन यह मुद्ध समाप्त हुआ उसी दिन में वीर पूजा का आचार चल पड़ा था ।

पल्लनाटि वीर-पुरय परम-दैवत शिवलिंग भवननाटी (वरगन में भी) वर्तमान ।

कल्लिनि-ग्राम को पोतुलम्य, गुरिजाल ग्राम को गंगम्मा कुलदेवता ही नहीं, परम बांधव भी ग्रामदेवियाँ थे उन अघोर-वेशी वीरों के लिए सदैव सहाय रहों, जो पल्लनाटि-समर-भागन में लड़ते हुए काम आये ।

कल्लिनी<sup>३</sup> पोतुलम्य तथा गुरिजाल गंगमाम्बा आदि ग्राम-देवी-देवताओं के मन्दिर भी वहाँ पर थे । और ये पल्लनाटि वीरों के कुल-देवता थे ।

(५) माचेल्ला चन्ना—वास्तव में चन्ना केशव स्वामी से ही बना है, पल्लनाड की कहानी में भी कहा गया है कि बालचन्द्र की माता ने सन्तान के लिए माचेल्ला में चन्ना केशव स्वामी की सेवा की थी । उन दिनों ऐसे ही और भी अनेक देवी-देवता थे । देवताओं की कोई कमी नहीं थी ।

जात पाँत

धर्म के साथ तरसम्बन्धी जात-पाँत के सम्बन्ध में भी कुछ कह देना उचित है ।

१. श्रीश्रीभिराममु ।
२. श्रीश्रीभिराममु ।
३. श्रीश्रीभिराममु ।

अठारह की संख्या को न जाने क्यों काफी महत्व प्राप्त है। नागुल-पाटी के शिलालेख में उल्लेख है कि हिन्दुओं में अठारह जातियाँ मुख्य थीं।

लिखा है कि यह गाँव वहाँ की अठारह जातियों की सस्था समस्त प्रजानुरंग भोग—जनता की मुख सेवा के लिए दान दिया गया है। इन जातियों के नाम इस प्रकार गिनाये गए हैं—बनिया, कलाल, गडरिया, घोड़ी, जुलाहा, नाई, कुम्हार। इन जातियों के सम्बन्ध में विशेष चर्चा की आवश्यकता नहीं है। ये सभी जगह पाये जाते हैं। फिर भी बनियों के बारे में कुछ लिख देना अनुचित न होगा। बनिये के लिए तेलुगू में "कोमटी" का शब्द आया है जो कोई बहुत पुराना नहीं है। यह नाम किस प्रकार आया कहा नहीं जा सकता। कुछ लोगों का विचार है कि यह शब्द "गोमठ" से बना है। गोमठेश्वर जैन तीर्थंकर का रूपान्तर है। मानव-अण-स्वल्प-शास्त्र (एथनॉलाजी) के अनुसार कहा जाता है कि इन कोमटियों में आर्यों के लक्षण पाये नहीं जाते। मानपल्ली रामकृष्ण कवि ने अपने 'भद्रभूपाल' नामक नीति शास्त्र के पहले पद्य में अपना निर्णय दिया है कि आन्ध्र देश में कोमटी का शब्द सन् ११५० ई० से कुछ पहले पहली बार प्रयुक्त हुआ है। उसके बाद पल्लवादि युद्ध में यह शब्द गुनने में आता है। और श्री अक्षिराजु का मत है कि यह युद्ध सन् ११७२ ई० में हुआ था।

फिर पाल्कुरिकी सोमनाथ ने अपनी रचनाओं में इस शब्द का प्रचुर प्रयोग किया है। बेरी<sup>१</sup> बच्चु, नाणैकाडु<sup>२</sup> इन शब्दों को पूर्वमूरियों ने कोमटी का पर्यायवाची माना है। इसके अतिरिक्त उन्होंने कुछ भी नहीं कहा। महत्वपूर्ण पर्यायवाची शब्दों को हमारे प्राचीन निघण्टुकारों ने छोड़ ही दिया है। कोमटियों को गौर और चेटी (मेटी) भी कहा जाता था। चालुक्य और कावतियों के समय यह चेटी या मेटी शब्द वीर शैव

१. आन्ध्रनाम संग्रहण, मानव-वर्ण

२. साम्बनिघण्टु, मानव-वर्ण।

सम्प्रदाय के अनुयायी बलिजें जाति के लिए साधारणतया एक सम्मान-पद था। आज भी उन्हें बलिजें-सेट्टी कहा जाता है। ऐसा लगता है कि कोमटियों ने जब शैव सम्प्रदाय को अपनाया तो साथ ही उन्हें वह पदवी भी मिल गई। शुक सप्तति के रचयिता पार्लेविकरि कदिरोपति ने कोमटी के लिए गौर का शब्द प्रयोग किया है। यह कदरोपति सन् १६०० ई० के लगभग हो गए हैं।

वास्तव में यह कोमटी गौड़-देश (बंगाल) के निवासी थे। छठी-सातवीं ईसवी शताब्दी में स्थानीय शासकों के अत्याचारों से ऊबकर ये लोग समुद्र-मार्ग से तेलुगू-देश में उतरे। गौड़-देश से आने के कारण गौड़ या गौर कहलाने लगे। जब ये जमीनें बनें तब कोमटी कहलाये। कोमटियों की कुल-देवी का नाम है 'कन्यकाम्बा'। इस कान्यकाम्बा के सम्बन्ध में यह कथा प्रख्यात है कि राजा विष्णुवर्धन ने उसके साथ बलात्कार किया था। इससे भी यही सिद्ध होता है कि वह छठी-सातवीं शताब्दी के लगभग ही यहाँ आये होंगे।

इनके अलावा और भी कई-एक जातियों के नाम तत्कालीन साहित्य में मिलते हैं। "भोई" के शब्द के सम्बन्ध में भी दत्ता की कुछ गुजाइश है। विजयनगर साम्राज्य के समय बेंडर-भोई नाम की एक जाति थी। विजयनगर-कालीन कवियों ने भोइयों को शिवारी, अत्याचारी के नामों से मगधोधित किया है। आज भी हैदराबाद के अन्दर करीमनगर और नलगोडा जिलों में यह भोई जाति विशेषतया पाई जाती है। कुछ लोगों का मत है कि 'भोई' शब्द 'भोय' अर्थात् 'भोज' शब्द से बना है। जब अंग्रेज मद्रास उतरे तब ये उनके यहाँ नायद घरेलू काम-काज के नौकर रखे गये। भोय (भोज) शब्द ही का अंग्रेजी में 'ब्वॉय' लिखा गया, जिसके माने अंग्रेजी में लड़के के हैं। यही कारण है कि अंग्रेजी में नौकर को चाहे वह बच्चा हो या बुढ़ा 'ब्वॉय' ही कहा जाता है।

पल्लनाटि-युद्ध में बालचन्द्र के हाथों पिटकर भागे हुए लोगों में से कुछने यह कहकर अपनी जान बचाई थी कि—

“हम भोई हैं। देखो हमारे कंधो पर घट्टे पडे हैं।”

हाल-हान तक भी भोई लोग पालकी डोया करते थे। इससे सिद्ध होता है कि सन् ११७२ मे भी भोइयों का यही पेगा था। इसके अतिरिक्त नलगोडा प्रान्त में अधिक सख्या मे इनके बसने का भी यही कारण जान पडता है कि दक्षिण भारत का कुक्षेत्र 'वारमपूड' इमी जगह पर था। मेनार्थांगो और उनकी रनवास की पालकियो को डोने वाले यही भोई रहे होंगे।

बर्गाट विरात कहलाने वाले भोई काकतीयो के समय यहाँ नहीं थे। बर्गाटकी होने के कारण विजयनगर राज्य के साथ वे आन्ध्र मे आये होंगे। रायचूर के पास बेंडरो (भोई) की एक रियासत थी। सन् १८५७ के गुलन नाम बाल स्वतन्त्रता विप्लव के दौरान मे वह रियासत मटिया-मेट कर दी गई। गदर के बाद जांच करने को नियुक्त किये गए एक अफ्रेज अधिकारी मेडोज टेलर ने अपनी आत्मकथा मे लिखा है—“बेंडर राजाओ को कुओ से पानी लेने और मन्दिरों मे प्रवेश करने की मनाही थी। मवरण हिन्दू उन्हे अछून मानते थे।” पर पता नहीं कि कैसे एक हों मनाब्दी के अन्दर हिन्दुओ की वह छून-छात कहां भाग गयी।

रंजा एक और जाति थी। पेगा था नगाडा या उस जैसा ही कोई रग-डका बजाना। इस नगाडे को रंज कहा जाता था। पल्नाटि वीर चरित की पाल्कुरिकी की रचनाओ मे इसका प्रायः प्रयोग मिलता है।

पिच्चकुट्ला एक और जाति है जो तम्बूरे बजा-बजाकर रेड्डी राजाओ की कहानिया गाया करते थे। ऐसा लगता है कि पाल्कुरिकी के समय यह नाम भिक्षावृत्ति पर निर्वाह करने वाले विकलांगो का था।

“... हम लूने है, पंत्वा नहीं भन सकते।

“...हम लेंगड़े हैं चल नहीं सकने। हम अन्धे है। 'पिच्चव-गुण्डन' (विकृभाग) है।”

“धर्मात्माओ, हमें दान दी।”



इस तरह गा-गा अथवा पुकार-पुकार कर वे भीग माँगा करते थे।<sup>१</sup>

पबल, धवनि, मेदर वगैरह दूसरी अनेक जातियों का सम्बन्ध पेशा अथवा वृत्ति से है। इसलिए उनकी चर्चा वृत्तियों के गाय विनी दूसरे अध्याय में होगी।

हिन्दुओं में उन दिनों धर्म-परिवर्तन की परिपाटी नहीं थी। ऐसी भावना वास्तव में उन सभी पाबन्दियों के कारण पैदा हो चली थी जो भारतीय समाज के अन्दर पश्चिमी-छड़ी शताब्दी में चली आई हैं। मगर सच तो यह है कि शुद्ध करना, पर-धर्म को स्वीकार करना, और धर्म का प्रचार करना, इत्यादि कामों को ईमाई और मुसलमानों ने भी हिन्दुओं और बौद्धों में ही सीखा है। ईमा मसौह में १५० वर्ष पूर्व हेलियोडोरस नामक एक यूनानी ने मध्यप्रदेश के बिदिशा रेलवे स्टेशन के समीप बेमनागर स्थान पर एक स्तूप खड़ा करके उस पर खुदवा दिया था कि उसने भागवत सम्प्रदाय को स्वीकार कर लिया है। मुसलमानों के सिन्धु प्रान्त को अधिकृत कर लेने के बाद जिन हिन्दुओं को जबरदस्ती मुसलमान बनाया गया था, उन्हें फिर से हिन्दू धर्म में लौटा लेने के लिए ही ग्यारहवीं शताब्दी में 'देवल स्मृति' की रचना की गई थी। मुसलमानों द्वारा बरगल के ध्वज के बाद भी ग्रान्धों ने शुद्धि की प्रयास चलाई थी। खली मुहम्मद तुगलक द्वारा बरगल के उजाड़े जाने के बाद बहुत सारे हिन्दुओं को बलात् मुसलमान बनाया गया था। गाल-गाल सोगी को मुसलमान बनाकर दिल्ली ले जाया गया। उनमें में बबिलर बन्धु नायक का भाई भी था। इस नव-मुस्लिम ग्रान्ध को तुगलक ने बम्पली राज्य का अधिपति नियुक्त किया था। परन्तु वह बम्पली पहुँचने ही "मुहम्मदीय" मत को त्यागकर फिर से हिन्दू हो गया था और दिल्ली के गिनाफ़ खगावन कर बैठा था। यह बात सन् १३६५ ईसवी की है।

१. पंडिताराम्य चरित्र, द्वितीय भाग, पृष्ठ ३४८।

## समाज-सुधार

हिन्दू धर्म के सुधार की दृष्टि में ही शैव तथा वैष्णव धर्मों का चार हुआ था। परन्तु उन्होंने भलाई की अपेक्षा बुराई ही अधिक की है। जैनियों में महान् तार्किक विद्वान् थे। उनकी रचनाओं में इन जात-पात के मिथ्यात्व का बड़े ही योग्यतापूर्वक तर्कों से खण्डन किया गया है। बौद्धों के माथ-माथ उन जैनियों ने ही आन्ध्र देश के अन्दर समाज-सुधार का आरम्भ किया। कावनीयों के शासन-काल में अनेक अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह हुए। रानी रत्नम के आज्ञा मन्त्री इन्दुत्तूर अग्रय्ये ने रानी की दूमरी बेटी रत्नम के माथ विवाह किया। राज-परिवार के अन्दर ही जब जात-पात के बन्धन टूटने हैं, तब जनसाधारण में उनकी मर्यादा कहां तक बाकी रह सकती है? पन्नाटि युद्ध के चटार्ई-भोज की चर्चा और ब्रह्मनायुद्ध का अनेक जातियों की स्त्रियों के माथ विवाह करना हम पहले ही बना आये हैं। इसी प्रकार एक शब्द 'पालेम' है जो खाम दक्षिणी शब्द है। जिसका अर्थ है, प्रदेश अथवा प्रान्त। पालेम की रक्षा करने वाले पालेगार कहलाते थे। उनकी सेनाओं में माले मादिगें आदि (पामी, चमार) भरे होते थे। आज भी इन जातियों में डोलवान, मीग-वान, कटारवान के वंश-नाम मिलते हैं, जिनमें उनके पूर्वजों की मैत्रि मंत्रियों का पना चलता है।

शैव धर्म में चावनि, मगलि, माले, मादिगें आदि (घोबो, हजाम, चमार, पामी) सभी जातियों के लोग सम्मिलित थे। पालकुर्कि सोमनाथ के 'वसव पुराण' में हमें इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। आजकल (दक्षिण में) अन्न-मत्रों के अन्दर भोजन केवल ब्राह्मणों को दिया जाता है, किन्तु कावतीय युग में कुछ अन्न-मत्रों में सभी जाति वालों को बराबर भोजन मिलता था। शैव-सम्प्रदाय के अनुसार मत्र में चाण्डाल को भी अन्न-वस्त्र-दान का प्रबन्ध था।<sup>१</sup>

वरंगल के राजा प्रतापरुद्र के समयानीन एकाग्रनाथ ने धरने गद्य-

१. मत्स्यपुर शासन (शिलालेख) : (तेलंगाणा शासन-ग्रन्थ)।

इस तरह गा-गा अथवा पुजार-पुकार कर वे भीख मांगा करते थे।<sup>१</sup>

पंचन, धवनि, मेदर वगैरह दूसरी अनेक जातियों का सम्बन्ध पेशा अथवा वृत्ति से है। इसलिए उनकी चर्चा वृत्तियों के भाष विमी दूसरे अध्याय में होगी।

हिन्दुओं में उन दिनों धर्म-परिवर्तन की परिपाटी नहीं थी। ऐसी भावना वास्तव में उन सभी पावनन्दियों के कारण पैदा हो चली थी जो भारतीय समाज के अन्दर पाँचवी-छठी शताब्दी में चली आई हैं। मगर सब तो यह है कि शुद्ध करना, पर-धर्म को स्वीकार करना, और धर्म का प्रचार करना, इत्यादि कामों को ईमाई और मुसलमानों ने भी हिन्दुओं और बौद्धों में ही सीखा है। ईसा ममीह में १५० वर्ष पूर्व हेलियोडोरस नामक एक यूनानी ने मध्यप्रदेश के विदिशा रेलवे स्टेशन के समीप बेसनागर स्थान पर एक स्तूप खड़ा करके उस पर खुदवा दिया था कि उसने भागवत सम्प्रदाय को स्वीकार कर लिया है। मुसलमानों के मन्थ प्रान्त को अधिभूत कर लेने के बाद जिन हिन्दुओं को जबरदस्ती मुसलमान बनाया गया था, उन्हें फिर से हिन्दू धर्म में लौटा लेने के लिए ही ग्यारहवीं शताब्दी में 'देवल स्मृति' की रचना की गई थी। मुसलमानों द्वारा वरगन के ध्वज के बाद भी ग्रन्थों ने शुद्धि की प्रथा चलाई थी। अन्ती मुहम्मद तुगलक द्वारा वरगन के उजाड़े जाने के बाद बहुत सारे हिन्दुओं को बलात् मुसलमान बनाया गया था। ग्राम-ग्राम लोगों को मुसलमान बनाकर दिल्ली ले जाया गया। उनमें से कविवर कन्नय नायक का भाई भी था। इस नव-मुस्लिम ग्रन्थ को तुगलक ने कम्पिली राज्य का अधिपति नियुक्त किया था। परन्तु वह कम्पिली पहुँचने ही "मुहम्मदीय" मन को त्यागरु कर फिर से हिन्दू हो गया था और दिल्ली के खिलाफ बगावत कर बैठा था। यह बाल सन् १३६५ ईसवी की है।

१. पंडिताराय्य चरित्र, द्वितीय भाग, पृष्ठ ३४८।

### समाज-सुधार

हिन्दू धर्म के सुधार की दृष्टि से ही शैव तथा वैष्णव धर्मों का प्रचार हुआ था। परन्तु उन्होंने भलाई की अपेक्षा बुराई ही अधिक की है। जैनियों में महात्ताकिक विद्वान् थे। उनकी रचनाओं में इस जान-पान के मिद्वान्त का बडे ही योग्यतापूर्ण तर्कों से खण्डन किया गया है। यौद्धों के साथ-साथ उन जैनियों ने ही आन्ध्र देश के अन्दर समाज-सुधार का आरम्भ किया। काकतीयों के शासन-काल में अनेक अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह हुए। राणी रुद्रम्म के ब्राह्मण मन्त्री इन्दुलूर अद्र्यप्प ने राणी की दूमरी बेटी रुप्यम्म के साथ विवाह किया। राज-परिवार के अन्दर ही जब जात-पात के बन्धन टूटते हैं, तब जनमाधारण में उनकी मर्यादा कहां तक बाकी रह सकती है? पल्लवाटि पुद्ध के चटार्द-भोज की चर्चा और ब्रह्मनायुद्ध का अनेक जातियों की स्त्रियों के साथ विवाह करना हम पहले ही बना आये हैं। इसी प्रकार एक शब्द 'पालेम' है जो सात दक्षिणी शब्द है। जिसका अर्थ है, प्रदेश अथवा प्रान्त। पालेम की रण करने वाले पालेगार कहलाते थे। उनकी सेनाओं में मालें, मादिगें आदि (पामी, चमार) भरे होते थे। आज भी इन जातियों में टोचवान, मीन्-वान, कटारवान के वंश-नाम मिलते हैं, जिनमें उनके पूर्वजों की सैनिक सेवाओं का पता चलता है।

शैव धर्म में चाकलि, मंगलि, मालें, मादिगें आदि (शोवी, हवान, चमार, पासी) सभी जातियों के लोग सम्मिलित हैं। पाचुरिगें सोमनाथ के 'बसव पुराण' में हमें इनके अनेक प्रमाण मिलते हैं। आजकल (दक्षिण में) अन्न-मंत्रों के अन्दर भोजन केवल ब्राह्मणों को दिया जाता है, किन्तु काकतीय युग में कुछ अन्न-मंत्रों में अन्न-मंत्रियों को बराबर भोजन मिलता था। शैव-अग्रदार के अनुसार अन्न के खाण्डाल को भी अन्न-वस्त्र-दान का प्रदत्त था।<sup>१</sup>

वरगल के राजा प्रतापन्द के समकालीन पुराणकार हैं अनेक रुद्र-

१. मत्स्यपुराण शासन (शिलाशैल) : (तिवत्तारा शासन-अन्व)।

ग्रन्थ 'प्रतापगद्ग-चरित्र' में लिखा है—

“एक दिन सन्नूर नामक एक ग्राम में कृष्णमाचार्य नामक एक ब्राह्मण के छोटे भाई अनन्ताचार्य ने एक धोबिन के साथ सम्भोग किया। धोबी ने दोनों ही को एक साथ मार डाला। बस्ती ब्राह्मणों की भी थी। ब्राह्मणों ने कहा—‘ब्राह्मण की लाश के साथ शूद्रा की भी लाश पड़ी है, इसलिए हम उस ब्राह्मण की लाश का भी दाह-भस्कार नहीं करेंगे; न ही उसे अपने कंधों पर उठावेंगे।’ यह देखकर कृष्णमाचार्य ने भगवान् रामुदेव की स्तुति की और लाश अपने-आप खिसकती हुई चिता पर पहुँच गई।”

वीर-शैव और वीर-वैष्णव दोनों ही एक ही एक समाज-सुधारक ही थे। किन्तु उन्होंने अमर्त्यशीलता तथा धार्मिक उन्माद का भी हिन्दू समाज के अन्दर प्रवेश कराया। जनता में अन्ध-विश्वास बढ गया। यह हुई धार्मिक समीक्षा। अब अन्य विषयों पर विचार करेंगे।

### युद्ध तन्त्र

हिन्दुओं के अन्दर धीरता-वीरता तो थी, किन्तु युद्धांगयोगी दम्नाम्त्रों का उन्होंने कोई आविष्कार नहीं किया। नवीन और बढ़िया मारात्मक हथियारों का उपयोग पहले उनके बिगड़ मुगलमानी ने ही किया। फिर योराण वालों ने उमने बड़े-बड़े हथियारों से हमारे देश को हथिया लिया। ग्रान्ध जति के पाम भाव और तलवारें बग मही दो ग्गाम हथियार थे। राजवत के-ने हथियार न होने के कारण ही उन दिनों कोट-किले बनाने की आवश्यकता थी। ग्रान्ध में सबसे पहले राजा गणपतिदेव ने बरगन के किले को तैयार करवाया। म्द्रम्मदेवी ने उम पूरा किया। पन्धर वाले भीलगी किले को बडा चिता और बाहरी किले को भूमि काट अर्थात् मिट्टी का किला कहा जाता था। मिट्टी का किला भी फोर्द मामूली किला न था। मन् १२६६ में अलाउद्दीन गिलजी ने मदिक काफूर को बरगन पर घासा बोलने के लिए नियुक्त किया। मदिक

काफूर ने किले को घेरकर मिट्टी की दीवारों को गिराना चाहा । किन्तु किले की दीवारों में फौलादी बरछियाँ भोवने पर भी मिट्टी की एक पपड़ी तक नहीं झडती थी । गोलाबारी करने पर गोलियाँ उछल-उछल-कर लौट पडती थी मानो बच्चों के खेलने की गोलियाँ हो ।<sup>१</sup> इस मिट्टी के किले की लम्बाई-चौड़ाई १२५४६ फुट बताई जाती है ।

किले को घेरने वाले मुसलमानों पर किले की दीवारों से लोहे आदि की गरम-गरम पिघलन उडेली जाती थी । मुसलमानों ने 'मञ्जनीको' का प्रयोग किया और हिन्दुओं ने 'अरहो' का । दोनों ही पत्थर फेंककर मारने के गुनेल के-मे साधन थे । खुसरो ने इनके बारे में लिखा है—“मुसलमानों के गोले तेजी से आसमान में उड़ा करते थे । और हिन्दुओं के पत्थर एकदम कमजोर, मानो ब्राह्मणों ने जनेऊ से फेंक मारे हों !”<sup>२</sup> यह मञ्जनीक पाश्चात्य देशों में आते थे और दोनों ही मिलाएँ उनका प्रयोग करती थी ।

वरंगल के युद्ध में ही पहला बार अग्नि-वर्षा का प्रयोग किया गया था यही बाद की तोपों और बन्दूकों का श्रीगणेश था । फारसी के इतिहास-कार ने लिखा है—“आतिश मीरेहबंद अर्थात् आग बरसाते थे ।” उमी ने आगे लिखा है—“किताबाते हिन्दू के गोयद ? बरदश !” अर्थात् हिन्दुओं की ओर से मैनिक् घटनाओं को बौन लिखा करते थे ? “बरदश !” यह बरद क्या है ? निश्चय ही 'बरद' कोई तैन्तुगु शब्द है । युद्ध-भूमि की वीरोचित कथाएँ आदि मुनाने वालों को 'बन्दी', भट्ट अर्थात् भाट कहा करने थे, शायद यही भाट या भट्ट ही विगडकर बरद हो गया ।

'प्रतापस्त्रीयम्' में आन्ध्र जाति के युद्धोपयोगी शस्त्रास्त्रों का वर्णन मिलता है । बहनों के तो अर्थ भी नहीं मालूम कि वे बौन शस्त्र थे और अमल में थे भी या नहीं । शब्द-कोष से खोजकर युद्ध के अर्थ भी

१. 'खवातुल-फुलह';—अमीर खुसरो ।

२. 'तारीखे-फ़ीरोबशाह';—बर्नी ।

निकाले है, पर उनसे भी मनलव सिद्ध नहीं होता । क्योंकि निषट्टकार ने श्रवण इतना ही लिखकर बस कर दिया है कि 'यह एक प्रकार का हथियार है ।' फिर भी नाम मुन लीजिए—

तोमर—दण्ड विशेष, डण्डे जैसा हथियार ।

काक्षेपका—तड्ग, तलवार ।

मुमुन्दय—दाह्य आयुध विशेष, यह भी काठ का ही एक हथियार है ।

कामुंका—धनुष ।

गदा—मुद्गर ।

कुन्ता—बराबर फेंक मारने वाला एक हथियार ।

पहम—तोहे की छड़ या डण्डा ।

श्रच्छी तलवारें लोहा, पीतल, ताँबा और काँसा इन चार धातुओं को मिलाकर तैयार की जाती थी ।<sup>१</sup>

पल्नाटि मुद्र में जिन शस्त्रास्त्रों का प्रयोग हुआ उनके नाम हैं—  
कुन्त, परमा, गदा, मूल, मुद्गर या मुद्गर, नोकदार कटार, चक्रतोमर, घुरी, धनुष-बाण, शूनी इत्यादि ।<sup>२</sup>

शस्त्रों में घिर जाने पर किले की रक्षा किस प्रकार की जाती थी ?  
इसका कुछ वर्णन इस प्रकार है—

“कोट को सजाकर, बुरजों पर छत छाकर,  
नीकरो के लिए छप्पर छाकर,  
कंगूरे घड़ाकर, गोल-गोल छतियों में  
नोकदार लोंचें बसकर,  
खाई खुदवा कर और उत्तमें तरने लायक पानी भरकर,  
नगर के चारों ओर बाड़े लड़े करके,  
बीच-बीच में मंच बनाकर,

१. 'प्रतापद्वीयमु', चतुर्थ प्रकरण, ११वाँ श्लोक ।

२. 'पल्नाटिवीर धरित्र', पृष्ठ १०५ ।

फाटकों पर बड़े-बड़े दरवाजे लगाकर,  
भाने, कोंकी तनवार, कुन्त, गुलेत, कत्तल,  
घनुप-बाण आदि जुटाकर; बीच बस्ती में,  
ढेर-ढेर मिट्टी के टोले बनाकर ।<sup>१</sup>

आन्ध्र मंत्रिक कूच के समय क्या-क्या किया करने थे, युद्ध-भूमि में उन्हें कौसी-कौसी तकलीफें भेलनी पड़ती थी, युद्ध-धर्म कैसे थे, आदि का वर्णन हम 'पल्नाटि-चरित्र' में मिलता है ।

कूच में पहले अपने किले की रक्षा का पूरा प्रबन्ध कर लिया जाता था । फिर ब्राह्मणों को बुलाकर, कूच के लिए मुहूर्त का निश्चय होता था । फिर कूच का डका बजता था । सेना के माय-माय डेरे, तम्बू, खाट पलग, पालकी और रमद व खजाने की गाड़ियाँ भी चला करनी थीं ।<sup>२</sup>

उन दिनों युद्ध के समय नगाड़े, डफ, सिधे, शव, शहनाई, डोल, रञ्ज, घण्टे इत्यादि सभी वाजे एक साथ बज उठते थे, वे-मुर-तान का एक महारोर-ना ध्याया रहता था ।

ऊपर के शब्दों में मे रञ्ज एक प्रकार का नगाडा होता था । गोल्नेन और पटकुटीर दो शब्द डेरे और तम्बू के लिए प्रयुक्त हुए हैं । इन दोनों में अन्तर था । पटकुटीर को डेरा तो कहा गया है, पर बाम्बव में वह तम्बू होता था । और गोल्नेन होता था डेरा, जिसके बीचो-बीच एक खम्भा होता था । बीच का खम्भा बँट जाने पर मारा डेरा घडाम में बँट जाता था ।<sup>३</sup> युद्ध के बीच जब एक पक्ष हारकर संधि करना चाहता तब वह सिधे बजा देता था उसीको 'धर्मदाग' कहा गया है ।<sup>४</sup> घमासान युद्ध के बीच भी जो निपाही शत्रु के वार में बचना चाहता था वह कई प्रकार में अपने प्राणों की निभा माँगता था । कुछ तो कहने

१. नावन सोमन : 'उत्तर हरिवंशमु' ।

२. 'पल्नाटि वीर चरित्रमु' ।

३. 'पल्नाटि वीर चरित्रमु' ।

४. 'श्रीश्रीभिराममु' ।



थे कि हम सिपाही नहीं है, पालकी ढोने वाले बहार-भात्र हैं, हमें माफ करो। कुछ लास बनकर धरती पर चित पड जाते थे। कुछ पडी हुई लासों को ओढ़कर छिप जाते थे, और कुछ अघमरे बनकर अपने बीबी-बच्चों को याद करते हुए बिलग्वने थे। यही नहीं, किन्तु कुछ लोग दीमक की बड़ी-बड़ी बाँवियों पर बैठकर तपस्वी बन जाने, कुछ घास के ढेरो के बीच छिपकर बैठ जाने, कुछ मुँह में उँगलियाँ देकर चूमा करते थे, कुछ बाल बिखेरकर नाचने और कुछ पीठ दिखाकर भाग खड़े होने थे।<sup>१</sup>

शस्त्रास्त्र उतार फेंकने के कारण ऐसे लोगों को दुश्मन मारते नहीं थे। जो पकड़े जाते वे शत्रु के सामने जमीन में मुँह लगाकर घास कुतरने, 'पाँच-दम' करने अर्थात् दोनों हाथ जोड़ देते या अगला बंदम पीछे हटाकर धरती पर पैर जोड़कर खड होने, पीठ दिखाने या पैर पीछे हटाने। इन सबका एक ही अभिप्राय है।

उस समय युद्ध में हाथियों, घोड़ों और बैलों का अधिक प्रयोग होता था। राजा पालकियों में सवार होकर युद्ध-भूमि में जाते थे। आन्ध्र की सेनाओं में अनुशीलन, क्रमशिक्षा (बचावद) बरदी, बड़िया घातक शस्त्रास्त्र कम थे। जिन सेनाओं ने केवल महया पर ही भरोसा किया है वे प्रायः हारी ही हैं। पल्लवादि युद्ध में बालचन्द्र की मार के आगे जो टिक न सके उनमें से कुछ ने कहा है कि—

“दुश्मन तुम्हें देखते ही भाग खडा होता है,

तुम्हें कोई भय नहीं, इस प्रकार

नागम्मा के श्रोतसाहन देने पर हम धाये थे,

यदि प्राण बचे तो,

बाल-बच्चों के साथ घास-पात खाकर ही मुजारा कर लेंगे।”

क्या ऐसे बेमारों की टुकड़ियाँ या टोलियाँ बही जीत प्राप्त कर सकती हैं? किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि गिश्तिल मेना थी ही नहीं। थी, पर बहुत कम। यरगन में एक मुहल्ला ही मोंटरीवाडा १. 'पल्लवादि वीर चरित्रमु', पृष्ठ ११०।

बहलाता था। यह प्रायः मंत्रिकों की ही वस्ती (फौजी छावनी) थी। उनकी बरदी भी होती थी जिसे दरजों लोग सीकर तैयार करते थे। उस बरदी में तीन चौड़े शानिल थीं—जांधिया, अगी या अंगरखा और एक कमरबन्द ! काव्तीय नरेश की नौ लाख की सेना थी। विद्यानाथ ने कहा है—“नव-सश-धनुर्धराधिनाये, पृथिवी संसति घोर रद्द देवे !” मेना की ऐसी बड़ी मर्यादा अधिकतर सरहदों सरदारों या पालेगारों के पास होती थी। सरहद की रक्षा के लिए उन्हें अपने पास निश्चिन्त मर्यादा में सेना रखनी पड़ती थी। ये सरहदी सरदार ही आन्ध्र राज्य के पतन के कारण बने। ये सरदार ताक में रहने थे कि बड़ केन्द्रीय शक्ति क्षीण हो जाती है कि वे विद्रोह करके सफल हो बैठें। सामग्रिक दृष्टि से तो यह मानना ही पड़ेगा कि आन्ध्रों का युद्ध-तन्त्र मुसलमानों के मुकाबिले में बहुत ही गंभीर-गुडरा था और मैदान में जमकर रहने का दम उसमें न था।

### कलाएँ

रचनात्मक शिल्प, विद्याध्ययन, चित्र-कला, शिल्प-कला और दस्तकारी को कलाओं में सम्मिलित मानकर उन पर यहाँ विचार किया जायगा। काव्तीय युग में आन्ध्र के अन्दर उत्तमोत्तम कलाओं का प्रादुर्भाव हुआ। उससे पहले पूर्वी पश्चिमी, आलुवरों ने अनेक नये शिवालय बनवाये और प्राचीन मन्दिरों को सुधारकर उनके लिए भूमि-दान किया। बरगल के काव्तीय नरेश और उनके मामल और भी नये मन्दिर बनवाकर जगह-जगह अपने गिला-लेख छोड़ गए हैं। काव्तीयों की राजधानी तेनगाने में थी, इसलिए मन्दिर-निर्माण-कला के अधिकतर नमूने वही मिलने हैं।

बरगल आन्ध्र-नगर के नाम में प्रसिद्ध था। किसी और शहर को यह मान प्राप्त नहीं था। इसमें प्रतीत होता है कि काव्तीयों के अन्दर आन्ध्राभिमान सबसे अधिक था। बरगल के तिले में सात फमीलें थी।

सबसे भीतरी सिला-कोट में राजा का निवास था। वह चक्रवर्ती बहलाता था। कोट के बाहरी भाग में नीची जातियों के लोग रहा करते थे। उस मुहल्ले में "मैला बाजार" के नाम से मसालों में एक बार हाट लगती थी। कोट के भीतर "सुद्ध बाजार" भरता था। उसमें गतियाँ भी थी। किले की फमीलों के परिधि, प्राकार, टेढ़ी राह, बड़ा दरवाजा इत्यादि अलग-अलग नाम थे। यह सब किले का व्यौरा है। इस किले के अन्दर रथ, घोड़े, शकट (गाड़ी), हाथी और घूँस मभार (सैनिक सफवन्दी) की व्यवस्था थी।<sup>१</sup> राजमार्ग हाथी, घोड़े, गाड़ियों और अनेको सैनिकों (भटकोटि) से खचाखच भरा रहता था। कुछ प्रशान्त गतियाँ भी थी। विचले बाजार<sup>२</sup> में वेदयात्रों के पर भी थे। बीच शहर में 'स्वयम्भू' भगवान् का मन्दिर बना था। इसे मुसलमानों ने तहस-नहस कर डाला। उस मन्दिर के चारों ओर बड़े-बड़े खम्भों के साथ हस्त-द्वार बने हुए थे, अर्थात् उन खम्भों के सिरों पर सुन्दर हस्त खुदे हुए थे। उन खम्भों में से अब दो ही बचे हैं। शहर बहुत सुन्दर था। उसके अनेक प्रमाण मिलने हैं। सन् १३२१ में मुसलमानी फौजों के एक मिपहमावार अलफगान ने जब एक टीले पर चढ़कर शहर का जो दृश्य देखा, उसी के शब्दों में मुन लोजिग —

"जिस किसी तरफ देखो दो-दो मील की सम्पाई में पानों के फव्वारे लगे हुए हैं। बागों में आम, केले और कटहल के पेड़ हैं। फूल सभी हिन्दुधानी हैं। चम्पा, केवड़े और चमेती के फूल खिले हैं। शहर मुहल्लों में बँटा हुआ है। मुहल्लों के अलग-अलग नाम हैं : जैसे अरस-यादें (बहनो का मुहल्ला), योगम् वीधि (वेदयात्रों का मुहल्ला), देली-पालेम् (पवड़ियों का मुहल्ला), मोहरीवाँड (सैनिकों का मुहल्ला) आदि।<sup>३</sup> मन्दिरों और राजभवनों के प्रतिरिक्त होटल-डाबे आदि भी हैं।"

१. 'ब्रौड़ाभिरामम्'।

२. " " ।

३. नूहेनिपेहर् (?) अमीर तुसरो ।

जैन बनने के बाद काकतीय नरेश ने जैन-मन्दिर बनवाये । हनुम-कोडा की पहाड़ी चट्टान पर भी उन्होंने जैन तीर्थंकरों की विशाल मूर्तियाँ बनवाई । उसी पहाड़ी पर पद्मक्षी का मन्दिर भी है । बाद में शैवों ने उस मन्दिर को हथियाकर अपनी पूजा-पद्धति चला दी । पहाड़ के नीचे बाने तालाब में आज भी जहाँ-तहाँ टूटी-फूटी और साबित मूर्तियों के ढेर देखे जा सकते हैं ।

फिर शैव हो जाने के बाद काकतीय राज-घराने ने हनुमकोडा (वरगल) में हजार खम्भों का मन्दिर बनवाया । इसके अतिरिक्त भी आन्ध्र देश-भर में अनेक सुन्दर शिल्पकला-पूर्ण मन्दिर जहाँ-तहाँ बनते गए । परन्तु मुसलमानों के हाथों उनके तहस-नहस हो जाने के कारण अब केवल विपाद, दुःख और उस शिल्प-कला के बचे-खुबे टूटे-फूटे खंडहर ही हमें नसीब हैं । वरगल से चालीस मील की दूरी पर 'रामप्पे-गुडि' नामक प्राचीन मन्दिर है । इसे वरगल के एक सामन्त रेड्डी सरदार रुद्र सेनानी ने सन् ११६२ में बनवाया था । मन्दिर की मूर्तियाँ, खम्भों की शिल्पकारी और विशेषकर मन्दिर के चारों दरवाजों पर ऊपर की ओर चारों कोनों में काले पत्थर की बनी हुई नर्तकियाँ अत्यन्त सुन्दर हैं । उन नर्तकियों के शरीरों के गहने, उनकी मजाबट और उनकी त्रिभंगी नाट्य-कला मानो शिल्पकारों को ही मोहित करती है । इसी कारण उन शिल्पियों ने उन सुन्दराणियों की मूर्तियों में जी भर प्रसाधन-क्रियाओं का समीकरण करके और उन्हें पूर्णतया नग्न रूप में खचित करके अतीव आनन्द का अनुभव किया । मन्दिर के खम्भों पर उत्तमोत्तम नृत्य-भण्डारियों के माथ मृदंगादि के वाद्यकारों की सूक्ष्म रेखाएँ अंकित की हैं । उन्हीं दिनों जाय सेनानी नामक कवि ने संस्कृत में नृत्य-कला पर एक ग्रन्थ लिखा था । वह हस्तलिखित ग्रन्थ आज तंजावर के मंत्रहालय में मौजूद है, परन्तु कोई उसके प्रमाणन की ओर ध्यान नहीं देता । कहते हैं कि जाय सेनानी के उक्त ग्रन्थ के उदाहरण उक्त मन्दिर की इन नर्तकियों के चित्र ही हो सकते हैं । क्या ही अच्छा हो यदि उस शास्त्र को और उन

मूर्तियों को व्याख्या के साथ प्रकाशित किया जाय ।

हैदराबाद के अन्तर्गत महबूबनगर जिले में बूदुपुर एक गाँव है । (सम्भवतः यह गाँव बुद्धारेड्डी का बनाया हुआ बुद्धापुर है ।) वहाँ पर कुछ जीर्ण मन्दिर हैं । उन पर मुसलमानों के हथौडों की चोट पड़ चुकी है । उनमें से एक को मस्जिद बना लिया गया है । उस मस्जिद में आज भी शिलालेख मौजूद है । उन मन्दिरों को बुद्धारेड्डी की बेटी और मल्यालगुण्डें सेनानी की पत्नी कुम्पम्म ने बनवाया था । कुम्पम्म तथा गुण्डम्म ने महबूब नगर जिले की ही नागर-बनूँल तहसील में वर्धमान (वर्तमान नाम बहुमान) में कुछ मन्दिर शिवालय बनवाये थे । वहाँ से १५ मील की दूरी पर बुद्धारम् ग्राम है । वह भी बुद्धारेड्डी ही के नाम पर बनाया गया था ।

नलगोडा (नल्लगोड) जिले में पिळ्ळल्लमरि ग्राम में नामि रेड्डी ने कई अत्यन्त ही भव्य मन्दिर बनवाये थे । काकतीयों के शिलालेख झालमपुर में भी मिलते हैं, परन्तु वहाँ पर नये मन्दिरों को नहीं बल्कि पुराने मन्दिरों को ही जायदादे दान में दी गई है । कर्नूल के पारा त्रिपुरान्तक में काकतीयों के शिलालेख मौजूद हैं । उनमें विमानों के निर्माण की चर्चा है । विमान का अभिप्राय सम्भवतः मन्दिरों के महाद्वारों पर बने हुए गोपुरों में है । ऐसे निर्माण भी पाये जाते हैं, जिनमें कोई-पती बिलकुल ऊपरी भाग में है ।

### विद्या की व्यापकता

काकतीय काल में, पूर्ववर्ती युग की ही तरह, अनेक प्रान्तों में व्याख्यातों अर्थात् वाजेज थे । उन विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा के साथ-साथ वेदों, संस्कृत-व्याख्य-ग्रन्थों, न्याय-मीमांसा आदि शास्त्रों की शिक्षा भी दी जाती थी । विद्यार्थियों को भोजन मुफ्त दिया जाता था । आज-काल के यात्री रेखे जवशन के ग्राम-नाम नागवाडी (वर्तमान नागाय) पर एक बड़ा-या विद्यापीठ था । गोलकीमठ भी सब-के-सब विद्या-केन्द्र

हो थे । राजा, धनी और भक्तजन सब-के-सब विद्या-संस्थाओं का पोषण करते थे ।

आज भी पूरे आन्ध्र प्रदेश में बरुंगमाला को 'ओनमालु' कहा जाता है । आन्ध्र देश के अन्दर शैव मत के प्राबल्य का यह भी एक प्रमाण है । यह सिद्ध है कि शैवों के पडशरी मन्त्र 'ॐ नमः शिवाय' से अक्षराभ्याम् आरम्भ हुआ करता था । उत्तर भारत और केरल में 'श्री गणेशाय-नमः' के साथ विचारम्भ होना है । परन्तु आन्ध्र और कर्णाटक के अन्दर 'ॐ नमः शिवाय' के साथ 'सिद्धम् नमः' भी जोड़ दिया जाता है । पहले यहाँ जैन-धर्म का प्रचार था, इसी कारण कदाचित् जैनी 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' के मन्त्र के साथ विद्याभ्यास करवाते थे । कविवर क्षेमेन्द्र ने अपनी रचना 'कवि कण्ठाभरणम्' में बरुंगमाला को विचित्र रूप में श्लोकबद्ध किया है । पहला श्लोक है—

ॐ स्वस्त्यङ्कम् स्तुमः सिद्धमंतर्यामितीप्सितम्,

उच्चदूर्जपदम् देव्या ऋ ऋ सू लृ नि गूहनम् ।

अन्त में कहा है :

एताग्निमः सरस्वत्यैयः क्रियामातृकाम् जपेत् ॥

ऊपर के श्लोक में 'स्तुमः सिद्धम्' शब्द विचार करने योग्य हैं । क्षेमेन्द्र कश्मीरी था । विशेषज्ञों का मत है कि कश्मीरी शैव-सम्प्रदाय और तमिल शैव-सम्प्रदाय में अन्तर है । प्राचीनकाल में भारत-भर में विचारम्भ मन्त्र 'ॐ नमः शिवाय' अथवा 'ॐ स्वस्त्यङ्कम् स्तुमः सिद्धम्' अथवा केवल 'स्तुमः सिद्धम्' में होता होगा वही 'स्तुमः सिद्धम्' आन्ध्र देश में 'नमः सिद्धम्' हो गया है । ऊपर के विषय से तो यही सिद्ध होना है ।

इम पुस्तक के प्रथम संस्करण में मूविन इम विषय को लेकर एक मन्त्र ने किमी साहित्यिक सभा में भाषण देते हुए आपत्ति उठाई कि

१. कुछ पीढ़ियों पहले बिहार में भी 'ॐ नमः सिद्धम्' से अक्षरारम्भ होता था और खड़िया पकड़ने को 'ओनामासी पड़ना' कहते थे ।

'सिद्धम् नम.' कहना व्याकरण के विरुद्ध है। मैंने तो लिखा ही था कि इस तरह कहना व्याकरण के नियमों के विरुद्ध है, और 'नम सिद्धेभ्य' होना चाहिए। मैंने यह भी लिखा था कि 'सिद्धम् नम.' जँतियों से प्रचलित हुआ है। 'गाथा सप्तमती' के दूसरे अध्याय का ६१ वाँ श्लोक यों है—

घर्णाधलीमप्यजानंतो लोकात्सोकाः गौरवाम्यधिका ।

सुवर्णं कारतुला इव निरक्षरा अपिस्पर्धच्छन्ते ॥

इस पर जयपुर निवासी साहित्याचार्य भट्ट श्री मथुरानाथ शास्त्री ने इस प्रकार व्याख्या की है :

“जनैः 'ॐ नमः सिद्धम् सिद्धिरस्तु' इत्यारभ्याम् घर्णमालामप्यजानंतो लोकाः गौरवाम्यधिकाः परमादरणीया इति कृत्वा निरक्षरा अपि निविद्या अपि सुवर्णंकारतुला इव स्पर्धच्छन्ते सावरं नीयंत इत्यर्थः ।” इन साहित्याचार्य तक ने कहा है कि लोग 'ॐ नमः सिद्धम्' के साथ अध्यास किया करते थे। क्या आलोचक उस पर भी आक्षेप करेंगे! साहित्याचार्य उत्तर भारत के निवासी हैं। उनके मुँह से 'सिद्धम् नम' का निबलना उस प्रान्त के आचार-व्यवहार को सूचित करता है। इसी से हमने लिखा था कि 'सिद्धम् नम' का प्रचार भारत-भर में समान रूप में था। यह भी हो सकता है कि 'शुक सप्तमि' दक्षिण भारत की रचना होने के कारण साहित्याचार्यजी ने दक्षिण की प्रथा को दरमाने की दृष्टि से ही ऐसी व्याख्या की हो।

वही कुछ रूपान्तर हो या इसमें व्याकरण आदि का दोष भी पाया जाय तो चिन्ता की बात नहीं है। भले ही कोई शब्द अशास्त्रिणीय हो, अपाठजनीय हो, जब देश-भर में वह चलन शब्द ही चल पड़े तब शास्त्रिणीय पाठजनीय आदि सिद्धान्त उसे बदल नहीं सकते। ज्यों-ज्यों भाषा बदलती है वार्तिक और भाष्य भी बदलने पड़ते हैं। भाषा विमो के नियमों में वदोपि बंधी नहीं रह सकती। इस नाने हमें 'सिद्धम् नम.' को गही मानना पड़ना है। ऐसी बना में हमारी मन्तानों का भी पाला पड़ा हो है !

काकतीय राज्य-काल में आन्ध्र के अन्दर कई महान् कवि और प्रकाड विद्वान् हो गए हैं। तिकूना मोमयाजी, केतनें, मारनें, मंचेनें, गोनैबुड, पान्कुरिकी मोमनाय, भद्र भूपाल, रात्रिपाटि तिप्पन्नें, नाचनें सोमुद्द, भाम्बर, मल्लिकार्जुन पडिताराघ्य आदि सभी उमी युग के हैं। उमी प्रकार मम्बून में भी उच्चकोटि के विद्वान् मौजूद थे। कवियों के सम्बन्ध में अधिक लिखने लगे तो यह प्रकरण ही 'कवि चरित्र' बन जाय। अतः उसे यही तक समाप्त करने हैं।

### चित्रकारी

हमारे पूर्वजों में जो कला-क्षिति थी, वह अब हमसे पाई नहीं जाती। माधारण लोटे पर भी यदि तौने आदि का चित्र न होना तो वह मुञ्ज लोटा कहा जाता था। चित्रित आंचल के बिना माड़ी या घोती का पहनना अमंगल माना जाता था। घर की दीवारों पर दोनों ओर रंग-विरंगे चित्र उरे जाते थे। दरवाजों की चौखटों पर सुन्दर चित्रकारी होनी थी। बगइचों पर बेल-बूटो तथा चित्रों की रंगोली होती थी। धनिक वर्ग के लोग चित्रकारों से सुन्दर चित्र बनवाने थे। काकतीय युग में चित्रकारी को जन-माधारण में अच्छा सम्मान प्राप्त था। आंगन में नवेरे छिड़काव के बाद घर की बहू-बेटियाँ रंगोली से सुन्दर चित्र बनाती थी। (दक्षिण भारत में यह प्रथा अब भी है।) राजा प्रतापराय की प्रेमिका माचल देवी ने अपने मकान में एक चित्रशाला बना रनी थी।

(पद्य) "आंगन में चन्दन का छिड़काव है। कदमोरी बेशर तथा उज्ज्वल रंगोली से उस पर चित्र ओके हैं। द्वारों पर कमल के तोरण बंधे हैं।"

"क्यों ? इसलिए कि "माचल देवी चित्रशाला में प्रवेश कर रही है ! पुण्याहवाचन का समय है।"

वहाँ उन सुन्दर चित्रों का भी वर्णन दिया गया है। दासकावचन के

१. 'वीड़ाभिराममु'।



निव-पावती, वृष्ण-भोषिकाएँ, अहत्या-शाप-विमोचन, तारा-चन्द्र, मेनका-विद्वमित्र आदि चित्र 'मय्यर' में बनाये जाते थे। तमिल भाषा में "मैर" वानों को कहते हैं, "मय्यर" बालों का बना श्रग हो सकता है। एकाग्र-नाथ ने लिखा है कि वरगल नगर में चित्रकारों के १५०० घर थे। वेदयागों को यदि एक विशेष प्रकार के ही चित्र पमन्द हो तो यह कोई आवश्यक नहीं कि वही दूसरों को भी हों। लोग अपनी-अपनी रवि के अनुसार चित्र बनवाने थे।

"हे वैश्यराज्य, देखिये उस त्रिशूल वाली लाठी के पास जो धूने का चबूतरा बना है उस पर शीत अह्वनायुद्ध आदि सैनिक वीरों के चित्र अंकित हैं।"<sup>१</sup>

'कदमद्व', 'मपीरस', 'हरिद्व', 'धालु-राग' इत्यादि रंगों में तुलिका अर्थान् कूची द्वारा चित्र उतारे जाते थे। (बागी पृष्ठ १-१२३)।

### दस्तकारी

तेलुगु-प्रान्त प्राचीन काल से धारीक मलमल के लिए प्रसिद्ध है। मछलीबंदर (मचिली-बंदर), जिसे अंग्रेजों ने ममूलीपट्टम का नाम दिया है, ममूला नाम की धारीक मलमल की बुनाई का केन्द्र था। अंग्रेजी भाषा में मलमल के लिए प्रयुक्त "ममलिन" शब्द इसीमें बना है। पाञ्चुरिवी की सोमनाथ का विवरण पढ़ने पर हमें चिन्त हो जाना पड़ता है कि उन दिनों यहाँ कितने प्रशार के कपड़े तैयार होते थे

"थेजावलि (यु), जयरंजि (यु), भंघु

पुञ्जं (यु), मणि पट्टु, भूतिलकम् (यु),

श्री यप्रिय (यु), महा चीनो चीन्निमु (यु),

१. श्रीशक्तिराममु । ('पल्लटाटिवीरचरित्रम्' में श्री रामचन्द्र, श्रीवृष्ण भगवान् की कथाओं को सूचित करने वाले चित्रों के साथे जाने का प्रसंग है। इसमें सिद्ध होता है कि ग्रान्ध में चित्र-लेखन की कला और भी प्राचीन है। 'पल्लटाटिवीर चरित्रमु,' पृ० १२)

भावज तिलकम् (बु), पच्च (नि) पट्टु,  
 रामशेखर (मुत्रु) रायवल्लभ (मु),  
 वायुमेघमु, गजवाळंबु शंड  
 वडमु, गावुलु, सरिपिट्टु (त्रु), हंस  
 पडीयु, वीणावलि पल्लड बट्टी,  
 वारणात्ती (यु) जोकुवायु, किदोगर  
 गोरिगनयमुत्रु, क्षीरोदकम् (बु),  
 पट्टु (त्रु) रत्नम् (बु), पट्टु (त्रु) संकु  
 पट्टु (त्रु), मरकत-पट्टु, पोंबट्टु,  
 नेरपट्टु, वेलिपट्टु, नेत्रं (बु) पट्टु,  
 (मरि) तवराजम् (बु), मांदोळरवि (यु) १११

पट्टु का अर्थ है 'रेखम'। उन दिनों कई प्रकार के रेखमी कपड़ों का प्रचार था। और भी बीसियों नाम कपड़ों के गिनाये गए हैं।

त्रिपुरातक मन्दिर में भगवान् के सामने का ध्वज-स्तम्भ पच-धातु का बना हुआ था। लोहा, पीतल, ताँबा, काँसा और हेम (सोना), ये पाँच धातुएँ उसमें मिलाई गई थी। ब्रह्मनायडू ने उसकी अर्चना की थी।<sup>२</sup> नाख में गुडियाँ बनाने का काम बहुतायत से होता था। नाचना सोमडू ने इन पुतलों का वर्णन करते हुए कहा है,—“स्वर्णं वर्णं के पुतले फूले पलास के समान प्रतीत होते थे।”<sup>३</sup> 'जत्र' (यंत्र) के पुतले भी बनते थे। 'यत्र' का मतलब यही हो सकता है कि ये पुतले नचाये जाने के साथ-ही मक्के से या नचाये जाते थे।<sup>४</sup> बरंगल के 'भैला बाजार' में 'मुसरभेत्'

१ 'बसव-पुराण', पृष्ठ ५६। (कोष्ठकों में शब्द अक्षर तेलुगु भाषा की अलाभते हैं। उन्हें हटा देने पर पूरे पद्य में सिर्फ कपड़ों के नाम ही नाम रह जाते हैं।)

२. 'पटनाडिबोर चरित्रमु', पृष्ठ ६।

३. 'उत्तर-हरिवंशमु', पृष्ठ १८०।

४. " " अध्याय ५, पृष्ठ २१२।

कहलाने वाली औषधि या पाउडर-जैसी वस्तु बिका करती थी।<sup>१</sup> उस हाथी-दाँत के डब्बे में बन्द करके बेचा जाता था। बदाचित् हाथी-दाँत का काम अत्यधिक मात्रा में होता था। यहाँ तक कि मालें, मादिर्ग (चमार, पासी) आदि लोग भी हाथी-दाँत की बनी चीजें खरीदा करते थे। युद्धोपयोगी विविध शस्त्रास्त्र युद्ध-भेरी, नगाड़े, नाच-गाने के बाजे-गाजे, स्त्रियो गहने-जेवर, भिन्न-भिन्न प्रकार के रग आदि बनाने वाले तथा धनी-मानी उनके द्वारा जीवनोपार्जन करने वाले की सख्या भी काफी बड़ी थी। पालकियो की सवारी करते थे। पालकियाँ बनानेमें बड़ई अपनी कारीगरी का सुन्दर प्रदर्शन किया करते थे।

वरगल में जो मट्टेवाडें बस्ती हैं उसका यह नाम इसलिए पडा कि उस सारे मुहल्ले में मट्टे अर्थात् पैर की उँगलियो के छल्ले बनाने वाले बसते थे। वरगल में ऊन के सुन्दर कम्बल तैयार हुआ करते थे। मुसलमानों ने इन 'रत्न कम्बलों' की सारी कारीगरी भी हमसे छीन ली।<sup>२</sup> उसी को उन्होंने बाद में कालीन की दस्तकारी में बदल दिया और उसे तरक्की दी। आज भी कालीन की यह कला वरगल के अन्दर मुसलमानों के ही हाथों में है।

महाराणी मद्रम देवी के शासन-काल में जेनेवा निवासी मार्कोपोलो भारत आया था। उसने वरगल राज्य की विशेषताओं के सम्बन्ध में लिखा है—“काकतीय राज्य में बारीक तथा उत्तम कोटि के कपड़े बुने जाते हैं। ये बड़े महंगे होते हैं। यह कपड़ा सचमुच मकड़ी के जाले कासा होता है। संसार में ऐसे कोई महाराजें न होंगे, ऐसी कोई महारानियाँ न होंगी, जो इसे पहनने के लिए सालापित न हो उठें।”

निर्मल की तलवारें मशहूर थीं। आदिलाबाद जिले (हैदराबाद) में स्थित निर्मल के समीप कूर्नेसमुद्रम् में यह तलवारें बनाई जाती थी।

१. 'क्रीडाभिराममु'।

२ हा-हा नृपाल सिंहासनाधिष्ठान रत्नकम्बलकाभि रामरोमें (क्रीडा-भिराममु)।

निर्मल में तनवारों और लोहे के सामान दमस्तन (शमिस्त) तक जाया करने थे ।

### जन साधारण के लिए सुविधाएँ

वरंगल के राजाओं ने अपनी प्रजा की भलाई का सदा ध्यान रखा । प्रजा-पीडन का कहीं कोई नाम-निशान नहीं मिलता । हो सकता है कि वीर-शैवों के उग्रपयी प्रचारकों के कारण अन्य धर्मों के अनुयायियों को थोटा-बहुत कष्ट रहा हो, किन्तु राज्य की ओर से प्रजा के लिए औपचारिक और पाटशाताएँ थीं । स्त्रियों के लिए प्रमूनि-गृह भी बने हुए थे । वेद-वेदांगों की शिक्षा के लिए कलाशालाएँ अथवा कानेज खोल दिये गए थे । मन्वन् ११८३ (शालिवाहन) में म्त्रमें देवी ने बेलगपूडि नामक एक गाँव को जनहित के लिए दान दे डाला था । वहाँ पर एक मठ और एक धर्मसत्र बनवाया गया था । म्त्र में रमोई बनाने के लिए छः ब्राह्मण लगे हुए थे । प्रजा के स्वास्थ्य की देख-भाल के लिए एक कायस्थ दंड नियुक्त किया गया था । गाँव की रक्षा के लिए दम वीरभद्र अथवा वीर-भट रसे गए थे । इक्कीस तनवार या प्यादे भी थे । इन सिपाहियों को 'वीरमुष्टि' कहा जाता था । वीरमुष्टि जानि आज भी पाई जाती है । ये लोग जो नीच माने जाते हैं, और बनियों में माँग-चाहकर गुजारा करते हैं । लेकिन शब्दायं पर विचार करके देखिये तो पता लगता है कि वीर + मुष्टि = वीरता के लिए मुष्टि-भर दाना दिया जाना, और वह भी दानियों द्वारा दिया जाना । याम्त्र में ये लोग बाजार में रात्र के समय पहरा देने के लिए नियुक्त किये जाते थे । बस्ती के अन्दर मार-पीट आदि फौजदारी या कोई अपराध करने पर गाँव के अधिकारी उन्हें दण्ड दिया करते थे । अपराधी को बोजे लगाये जाते थे या और कोई शारीरिक दण्ड दिया जाता था । हाय-नैर, यहाँ तक कि चिर भी कटवा दिये जाते थे ।<sup>१</sup>

१. मल्कापुर शासन (गितालेख), जां० ए० हि० रि० सो० संख्या ४, पृष्ठ १४७-१६२ ।

राजा, सामन्त, सरदार और धनिकों ने बहुत-से तालाब बनवाये । इस प्रकार वे नैनी की उन्नति में सहायता करते थे । गणपति देव के सेनानी रुद्र ने पारवाह का तालाब बनवाया । कार-समुद्र को कार-धूमपति ने, चौड़-समुद्र को चौड़-धूमपति ने, मड्वि-समुद्र, गौर समुद्र और कोमटी समुद्र को नाभिरेड्डी ने और एरका-समुद्र को एरकैमानम्माओं ने बनवाया । इनके अलावा चिन्नल समुद्र, नामामसुद्र, विश्वनाथ समुद्र आदि भी बनवाये गए थे । इन तालाबों के जल की मिचवाई में गन्ने और पान की बाग़ भी होती थी ।<sup>१</sup> जगह-जेमरी तालाब भी इन्हीं दिनों बनाया गया था । (दक्षिण में तालाब बहने वाली, नदियों आदि को रोक्कर बड़े-बड़े बाँध से बनाये जाते हैं, तालाबों में पानी कई-कई मील तक फैला रहता है । अनु० १)

अम्बादेव नामक एक बायस्थ अधिकारी ने जमीनें नापकर उनके लिए वर मुकर्रर किये थे । जमीन की नाप के लिए 'पेनुम्-वान मान-दण्ड' की माप प्रसिद्ध है ।<sup>२</sup>

काकतीयों ने सोने और चाँदी के सिक्के बनवाये थे । यह कहना कठिन है कि आज के सिक्कों के साथ उन सिक्कों का अनुपात क्या था ! एवाग्रनाथ ने बार-बार स्वर्ण निष्प की बात कही है । प्रोलराजु के काल में सोने का प्रमाण लग प्रकार था —

१०० रत्नी = १ तोला

१०० तोला = १ बीमा

१०० बीमा = १ बाम्बा

बरहं का सिक्का भी उन्हीं समय बना था । हमारा 'बरहं' नाम सराह-भाहन के कारण पड़ा था । एक बर्गाटरी बेश्या ने अपना धुन्क 'नाटी हाटवन्तिक' अर्थात् गुन नाटी और सोने का एक सिक्का

१. मल्कापुर का शासन (गिरानेल) ।

२. " " (तिलंगाना शासन-ग्रन्थ) ।

बतलाया था ।<sup>१</sup> एक और वैश्या ने सोने के दो सिक्के माँगे थे । नागुल-पाडि के शिलालेख में 'वरहा' की चर्चा है । जमीनों रेहन रखने में 'रुका' (रूपया) का उपयोग होता था ।

"पाँच सौ 'रुका' के वर्ज के बदले में (पच) जोनों गड्डुं अग्रहार (इनामी ग्राम) रहन रखा ।"<sup>२</sup>

वरगल के 'खाँ-साहब-बाग' में जो शिलालेख है, उसमें चित्रामुनु (छोटे सिक्कों) की बात दो-तीन, बार कही गई है । सबसे छोटा सिक्का शायद 'तारा' कहलाता था । एक पिच्चकुट्टला भिखारी भीख माँगते हुए कहता है - "धर्मात्मा लोगो, 'तारा' दान करो ।" साधारण व्यवहार में 'माडा' का चलन था ।

पालनाडि के बालचन्द ने कहा है कि—

"हमारे कुल में ओलिमाडा का चलन है !"

'ओलि' कन्या-दुन्दु की कहने है । यह ध्यान देने योग्य विषय है कि उन दिनों बेलमें जाति के अन्दर 'ओलि' चलती थी । मखमल मुमलमानो की दस्तकारी थी । आन्ध्र में मखमल<sup>३</sup> अच्छा चल चुका था ।

अनाज के नापने में कुन्चम, (? मन), इरमा (२ मन) और तूम (४ मन) चलते थे ।<sup>४</sup>

### व्यापार

काकतीय युग में व्यापार की अच्छी उन्नति हुई । राज्य के अन्दर पूर्वी द्वीपो और पश्चात्य देशों से माल आता था । वन्दरगाहों पर तट-वर लिया जाता था । हर वन्दरगाह पर भिन्न-भिन्न करों की दरें सबकी जानकारी के लिए शिलालेखों के रूप में खुदवाकर लगवा दी गई थी ।

१. 'पण्डिताराण्य चरित्र', (भाग २, पृष्ठ ३०७) ।

२. 'श्रीश्रीभिराममु' ।

३. मखमल्लुगुडुलु, 'पालनाडिवीर-चरित्र', पृष्ठ १७ ।

४. 'वसव पुराणमु', पृष्ठ १४६-१५२ ।

अग्ध्र में मोटुपल्ली और मदली बन्दर (ममूली पट्टम) प्रसिद्ध बन्दरगाह थे। इन बन्दरगाहों पर अग्ध्र, ईरान और चीन के देशों से आया हुआ माल उतरता था। मोटुपल्ली में जो शिलालेख है उससे प्रतीत होता है कि अग्ध्र देश के अन्दर कर्पूर, चन्दन इत्यादि सुगन्धित सामग्री बाहर से आया करती थी। हाथों दाँत, मोती और रेशमी कपड़ों का आयात अधिक होता था। वह शिलालेख गणपति देव का लगवाया हुआ है।

गाँवों और कस्बों में भी चुट्टी ली जाती थी। वरगल के अन्दर मैला बाजार में भी कुरो की दर लिखी हुई थी। जिस स्थान पर यह शिलालेख है वह आज साँ साहब का बाग कहलाता है। शिलालेख से प्रतीत होता है कि मैला बाजार में सभी तरह का माल बिकता था। पान-सुपारी, भाजी, सरकारी, नारियल, बेल, आम, इमली, तिल, गेहूँ, मूँग, धान, ज्वार, तेल, घी, नमक, गुड़, सरसों, वाली मिर्च, राँगा, सीसा, ताँबा, चन्दन, बस्तूरी, रेशम, हल्दी, प्याज, लहसुन, अदरक आदि सभी चीजें वहाँ बिकती थी। तब है कि "एक स्थो चित्ता-चित्ताकर मदनमस्त वा तेल देव रही थी।"<sup>१</sup>

### मनोरंजन

नग्नय मट्ट ने तेलुगु देश की जन-भाषा को भी और पूर्व कवियों की कविता-मञ्जरियों को भी पर्याप्त रूप से रूपान्तरित कर दिया। जान पड़ता है कि तेलुगु के प्राचीन कवि मध्याक्षर, द्विपद, त्रिपद, पदपद, रगट जैसे सरल छन्दों में कविताओं की रचना करते थे। जन-साधारण उन्हें चाव से सुनता और स्वयं भी गाना करता था। नग्नय के बाद दो सौ बरसों के भीतर-ही-भीतर द्विपद का मान घट गया। इसीलिए शामद पाल्-बुरिवी सोमनाथ ने द्विपद को श्रेष्ठता की विनोय रूप से चर्चा की है :

"ऊँचे-ऊँचे गद्य-पद्य की अपेक्षा

सरल "जानुतेलुगु" (जनतेलुगु) में कहने से

१. 'मगुमल्लुगुडुलु', पल्लनाडि, पृष्ठ १४।

सर्व साधारण भली भाँति समझ सकेगा ।

इसलिए मैं पूर्वांतया द्विपदों की ही रचना करूँगा ।”<sup>१</sup>

उनके समय और उनसे पहले लोगों के अन्दर तरह-तरह के गीत-प्रकार, जैसे भ्रमर-पद, पर्वन-पद, शबर-पद, निवालि-पद, वानेशु-पद, चन्द्र-पद इत्यादि प्रचलित थे ।<sup>२</sup> धीरे-धीरे ये सारे पद लुप्त हो गए और इसके कारण जनता में विद्या का प्रचार और विद्या-प्राप्ति के साधन कम हो गए । कारण, जनता में गीतों की ही अधिक महत्त्व प्राप्त था । वह स्वयं अनेकों प्रकार के गीत गा लिया करती थी ।

“जगह-जगह लोग ‘भक्तकूटों’<sup>३</sup> में  
स्वयं पद रच-रचकर गाने सुनाते थे,  
प्रस्तुतोक्ति, गद्य-पद्य काव्यमय  
सांग या भाषांग या क्रियांग नाट्य  
अभिनयन करते थे । चौपालों में  
जुड़-जुड़कर, और कुछ नहीं तो फिर—  
कूटने या काटने के पद ही गा लेते थे ।  
अथवा ‘रोकटि-पाट’<sup>४</sup> के ‘पाडुद’ ।”<sup>५</sup>

‘रोकटि-पाट’ आज भी तेलुगू में चालू है । कूटने-काटने, खेत काटने और पानी मीचने हुए लोग अब भी ये पद गाया करते हैं । ‘भक्तकूट’ चौपालों और ‘रोकटि-पाट’ अष्ट जनता में आज तक जीवित हैं । यह बात समझने योग्य है ।<sup>६</sup>

१. ‘वसवपुराण’, शृष्ठ ५ ।

२. ‘पंडिताराव्य चरित्र’, द्वितीय भाग ।

३. अर्थात् भजन-मण्डलियों में ।

४. ‘रोकटि पाट’ = मूसल के गीत ।

५. पाडुद—पद ।

६. ‘वसवपुराणम्’, शृष्ठ १२४ ।



और फिर—

“.....‘रोकटि-पाँट’ बने है वेदों के स्वर  
मानो हम शिव-भक्तों के घर आकर ।”<sup>१</sup>

यहाँ पर कवि ने ‘रोकटि-पाँट’ को वेदों के समतुल्य मानकर उनके महत्त्व को ही जताने की चेष्टा की है ।

नाचना रोमयाजी ने ‘जाजर’ गीत की बड़ी प्रशंसा की है—

“दूधिया चांदनी में बीणाएँ लेकर  
गार्ती रमणीक पदों के गीत मनोहर,  
ब्राह्मण-टोलो की सुघड रमणियाँ मृदु स्वर !  
रसिको-गुनियो की तो प्रिय हैं पद ‘जाजर’ !”

यह उद्धरण ‘वसन्त-विलाप’ में लिया गया है । पूर्व-मूरियों द्वारा उद्धृत वह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है । उक्त ‘जाजर’ क्या है, यह हमें कुछ भी मालूम नहीं । सन् १६५० ई० तक शायद हमारे पूर्वजों को इसकी जानकारी थी । ‘बटुछारव चरित्र’ में दामोदर बेगळ भूपाल ने ‘जाजर’ शब्द का प्रयोग किया है, पर उसमें हमें ‘जाजर’ का कुछ पता नहीं चलता । ब्राह्मण-टोलो में ‘जाजर’ गाने की बात यही है । इसमें अनुमान हो सकता है कि यह गीत-प्रकार ब्राह्मण महिलाओं में अधिक प्रचलित रहा हो ।

इस मिलमिल में जाजर के सम्बन्ध में दो बातें जान लेने योग्य हैं । कविवर धीनाथ ने ‘जाजर’ की जगह ‘जादर’ शब्द का प्रयोग किया है । अपनी उम बहिना में वे कहते हैं—

“छर-छरकर पिये धारणी, दक्ष की वाटिका-वेदिका पर  
चन्द्रिका में कनक-धीन भंजारती मोहिनी अप्सरारण  
उन भुवन-मोहिनी-मूर्ति-घर भीम-प्रभु के हृदय मोहती  
मोदमय टेक के ‘जादर-जादरम्’ चर्चरी-गीत गाये ।”<sup>२</sup>

१. ‘वसवपुराणम्’, पृष्ठ २१६ ।

२. ‘भीमेश्वर-रण्डमु’, ५-१०३ ।

नाचनें सोम ने ब्राह्मण-टोले में 'जाजर'-गीत गवाया था तो थीनाथ ने वेश्याओं द्वारा वीणा के साथ 'जादर' गवाया। चांदनी रातों में यह गीत और भी आनन्ददायक रहा होगा। मैतों के अन्दर काम करने हुए मजदूरों के जाजर-गीत गाने का रिवाज तेलगाना के कुछ जिलों के अन्दर अब भी है। वरगल जिले के अन्तर्गत मान बोटा के एक सज्जन ने एक ऐसा गीत हमें लिख भेजा है।

"जाजोरि जाजोरि जाजोरि पापा"

जाजू खेला छूड़ी की पापा

पूरुव से आया रे भूरा सिपार

पच्छिम से आया पहाड़ी सिपार

यह सिपार यह सिपार खोद गये अपार

जोगय्या ने दिये थोड़े से ज्वार

खेती की हमने नदी-किनारे

बोस खण्डो ज्वार अगर खोंच के मारा रे

उठा के पटक तो साऽ खण्डो ज्वार

सब ले गया अप्पय्या सरदार

रेत-रेत छोड गया घड़ी-पैसेरी

भूसा भर पास रही, किस्मत मे मेरी,

मिट्टी ही मन भर बांटे हमारे

तुम्हीं कहो, दिन कसे गुजारें

पीली-सी कांजी, सो भी अलौनी

दो जून लारे जिन्दगी डोनी।

कड़वी से मूखे तन-मन हमारे

दुदही लटिया ये सेटे गुहारें,

जाजोरि जाजोरि जाजोरि पापा !"

यह गीत किसानों की दुर्दशा की जीतो-जागती नमस्वीर है। जमीन

१. पापा—प्यारा प्यारा।

भी अच्छी है, मिहनत की भी कोई कमी नहीं। बीज नहीं थे तो किसी साहूकार में कुछ ले आये। कर्ज पर। पैदावार तो खूब रही, पर लाभ क्या हुआ? साहूकार आये, सब उठा ले गए। किमानों के भाग्य में सदा भूख और नंग ही बदे हैं। पर ऐसी दशा में भी सर्व-हारा रैयत अपनी जाजरी गाकर मन्तुष्ट हो जाती है।

केतन कवि ने 'मल्ल' नाम के किसी लोक-गीत का उल्लेख किया है :

“कल्लें (भूठ) बोलते हुए, मल्लें गाते हुए” ...<sup>१</sup>

हो सकता है कि यह गीत उन दिनों प्रचलित रहा हो।

ग्रान्ध-साहित्य में पुतली-नाच के उल्लेख प्राचीन काल में ही पाये जाते हैं। ग्रान्ध की प्राचीन लोक-बग्गा होने हुए भी पुतली का नाच अब महाराष्ट्रों के हाथ में चला गया है। 'पाल्नाटि-वीरचरित्रम्' में उल्लेख है : “उसी प्रकार, जिस प्रकार पुतलियों को नचाने के लिए थापा जाता है।” और नाचनें सोमयाजी ने उपमा दी है :

“... जिस प्रकार नचबंया पुतलियां नचा-नचा  
घरती पर ढेर किये देता है।”<sup>२</sup>

ग्रान्ध-साहित्य में पाल्नाटि की सोमयाजी में लेकर तंजावर रघुनाथ राय तर्क के प्राय सभी कवियों ने पुतली-नाच की चर्चा की है। पुतली-नाच का मूलब है चमड़े की पुतलियों का नाच। यह तो कहा नहीं जा सकता कि भारत के किन-किन प्रान्तों में चमड़े की पुतली के नाच का चमत् था, परन्तु कर्णाटक और ग्रान्ध में तो यह नाच प्राचीन काल से ही चला आया है। चारों तरफ में चमड़े की चार दीवारें गड़ी करके उसके अन्दर बाँस आदि लगाकर, सामने के पतले गफंद परदे पर, अन्दर की ओर से ये पुतले नचाये जाते हैं। तम्बू के अन्दर रोगनी के लिए मगालें जलाई जाती हैं। पुतलियों के हाथ, पैर, तिर, कमर,

१. 'दशकुमार-चरित्र'।

२. 'उत्तर-चरित्रंशु', पृष्ठ २८१।

गरदन आदि में मूत्र के डोरे बंधे होते हैं, जिन्हें संदर्भ के अनुसार खींचने-झोड़ते जाने पर परदे पर पुनर्विर्षा नाचा करती हैं। मुर-ताल के साथ कथा-नायन भी होता रहता है। बुद्धारेड्डी की 'द्विपद-रामायण' से दोढ़े मुनाये जाते हैं। पुनलियों को मूत्र की डोर अर्थात् मूत्र से नचाने के कारण नचबंदियों को मूत्रधार कहा जाता था। मस्त्रुत-नाटको में तो मूत्रधार मच पर आकर, आने वाले विषय पर ही शब्द कहकर चला जाता है। विन्नु चमड़े के पुतलों के नाच में आदि से अन्त तक सूत्रधार का ही काम होना है। अतः नाटको की अपेक्षा इन पुतलों के नाच के लिए ही 'मूत्रधार' शब्द पूरा चरितार्थ होना है। यह विषय विचारणीय है कि पुतलों के नाच वाले नाटको के लिए सूत्रधार को लेकर नाट्य-विधान को तदनुसार सुधार लिया गया और नाटको से ही यह शब्द पुतलों के नाच में पहुँचा।

चाम के पुतलों में रामायण, महाभारत के राम, लक्ष्मण, रावण, कुम्भकर्ण, बालि, सुभीष, हनुमान, अंगद, भीम, अर्जुन, कृष्ण आदि सभी पात्र विविध रंगों में रंग-रंगकर विविध पूर्वक बने होते हैं। आकार में कभी-कभी ये पुतले पोरने-पोरने-भर ऊँचे मानी आदमकद हुआ करते हैं। पुतले के परदे पर आने ही दर्शक यह समझ लेते हैं कि यह पुतला अमुक पौराणिक पात्र का अभिनय करेगा। इन पुतलों और इनकी पोशाकों के रंगों से प्राचीन वेग-भूषा का अनुमान लगाया जा सकता है कि राजा की पोशाक कभी होती थी, अफवा सवार या सिपाही किस प्रकार की बरदी पहनते थे। चमड़े की पुतली के नाच में बीच-बीच में हास्य का पुट भी होता है। परन्तु वह हास्य बहुत ही असभ्य होता है। शासकों ने इन और ध्यान नहीं दिया। सिनेमा की असुभ्यता-अश्लीलता के माथ-भाप इसे भी हटाने की चेष्टा होनी चाहिए।

शाजकल मेलों के अन्दर जो बड़े-बड़े झूने गोल चक्करों में घूमते हुए देखे जाते हैं, वे अपने प्राचीन आदर-सम्मान को आज भी बनाये हुए हैं। तेलुगू भाषा में इसे 'रंकु राट्टनम्' कहा जाता है। बड़ई इन्हें

बनाने तो हैं ही, पर ऐसा लगता है कि इन मूर्तों का खेल भी वही करते थे :

घटिल-जटिल संसृति में जीव-घट  
चक्र-कर्म-यदु-यन्त्रितो-भ्रमणो के समान  
किसी कील पर सुतार  
यक चक्र 'रंकु राटनम्' को नचाता है ।<sup>१</sup>

कोलाटम यानी गिल्ली-डंडों का नाच—कोला के अर्थ हैं छड़ या डण्डा, आटा के माने हैं खेल । हाथ-भर के छिने डण्डे दोनो हाथों में लेकर, एक-दूसरे के डण्डों को बजाते हुए चक्राकार में घूमने के खेल को 'कोलाटम' कहते हैं । गोंडपात्री के कोलाटम के माथ प्ररणी, गोंडली, प्रंगवण आदि नाम भी गिनार्य गम्य हैं ।<sup>२</sup> गोंडली गभं-नृत्य को कहते हैं और प्रेरणी घड़े के नाच को । मोट जानि के इम खेल को, जिमम गिल्लाडी कुण्डलाकार वृत्त में नाचते हुए घूमते हैं, चातुर्व्य गजा सोमेश्वर ने अपने राज्य के अन्दर खूब ही प्रचलित किया था । आन्ध्र जाति के दो ग्रास खेल हैं । एक उप्पनपट्टे, और दूसरा गिल्ली-डोंडी । "उप्पनपट्टे (नमक चोर) खेलते समय यादव उप्पु (नमक) लाया करते हैं ।"<sup>३</sup> आज भी यह खेल खेला जाता है । हैदराबादी उर्दू बोली में इसे 'नोन-पाट' कहते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि समुद्र-तट से नमक उटाकर राज्य-वर तथा चोरों आदि से बचाकर घर तक नमक पहुँचाने में जो बटिनाश्या पडती थी, उन्हींकी खेल का रूप दिया गया है ।

गिल्ली-डोंडी को उभर में भी बच्चे खेलते रहते हैं । यह तो मानों हमारा देशी 'ब्रिक्जिट' है । यह खेल डडे की सहायता से लकड़ी के एक छोटे टुकड़े को जमीन में उछालकर मारने का खेल है । आन्ध्र में इसका मूख ही प्रचार था । बिल्लगोवि, दडु-गुली, चरगोने, चिन्नगोडे, गब दमीकः

१. 'पान्कुरिकी धमकपुराणम्', पृष्ठ १०२ ।
२. नाचनें सोम, 'उत्तर हरिवंशम्', पृष्ठ १७२ ।
३. नाचनें सोम, 'उत्तर हरिवंशम्', पृष्ठ १५८ ।

नाम है। दम-दम बारह-बारह की टोलियाँ बनाकर बड़े-बड़े मैदानों में खाने लोंग भी यह खेल भेला करने थे। डंडे की चोट खाकर गिल्ली आकाश में उड़ती हुई सौ दो सौ गज दूर जा पड़ती थी। अधिक चानू पढ़ति यह है कि एक छोटी लकड़ी को दूसरी बड़ी लकड़ी से मारा जाता है और फिर बड़ी लकड़ी से छोटी लकड़ी तक पहुँचने तक बड़ी लकड़ी में नापने जाने है। इस नाप में एक, दो बहने के बजाय बन्नु, रेंगचि, भूल-मुञ्जि, गेरगेरा, इस प्रकार सात तक गिनते हैं।<sup>१</sup> कहा नहीं जा सकता कि मान को सख्या तक की गिनती को इसी एक खेल में क्यों बदल दिया गया है। कवि बुद्धधोष लगभग १४०० वर्ष पूर्व का है। उसने अपने काव्यों में 'घटिका खेलनम्' का वर्णन किया है। उसने अपनी व्याख्या में छोटी लकड़ी को बड़ी से मारने को 'घटिका' कहा है। इसमें प्रतीत होता है कि अन्य प्रांतों में भी यह खेल प्रचलित है। महाभारत में भी कौरव-पाटवों ने छोटी लकड़ी को बड़ी से मारकर खेला था। महाभारत में इसका वर्णन इस प्रकार है.—

“जिस समय द्रोणाचार्य ने पहली बार हस्तिनापुर में प्रवेश किया उस समय कौरव-पाटव शहर के बाहर गेंद खेल रहे थे। वह स्वर्ण गेंद जाकर एक कुएँ में गिर पड़ी।” यह तो 'ग्रान्थ महाभारत' का पाठ है। (आदि पर्व—५-२०६)। मूल ससृष्ट पाठ यह है :

क्रीडन्तो वीटया तत्र धीराः पर्यचरन्मुदा ।

पपात कूपे सा वीटा तेषाम् वं क्रीडतान्तरा ॥

'वीट' शब्द का अर्थ महाभारत की टीका में यों दिया गया है :

“वीटया यावानारेण प्रादेशमात्रकाष्ठेन मन् हस्तमात्र दटेन उपर्यु-परि कुमारा प्रक्षिपति ।” अर्थात् धीने-भर की लकड़ी को हाथ-भर की लकड़ी से मारने का खेल ।

मराठी साहित्य के इतिहास का कहना है कि :

१. पुरषो हिन्दो में गिल्ली-डंडे की सात तक की गिनती यह है : 'एँडो, दोंडो, तिलिया, चौँडो, चन्ना, सेल, मुद्दे' ।—संपा० हि० सं० ।

“पहले महाराष्ट्र में चिन्नागोडे का खेल नहीं था। अब इसे बीटि दंडु या बीटाडंडा कहते हैं। खेलते समय मराठी बच्चे रात तक को जो गिनती गिनते हैं, वह तेलुगू गिनती है। यह कैसे हुआ? सन् १३५० ई० में जब महाराष्ट्र में भारी अकाल पड़ा था, तब लाखों महाराष्ट्री, आंध्र, कर्णाटक, तमिल आदि दूसरे प्रान्तों में चले गए थे। साथ में उनके बाल-बच्चे भी थे। अकाल मिटने पर वे अपने प्रान्त को लौट आए। उस समय जो महाराष्ट्री आंध्र में गये थे, वे जब अपने प्रान्त को लौटे, तब अपने साथ आंध्र-देश के खेल-कूद, गीत-गान आदि भी लेते आए। आज भी बच्चों में ‘चिन्न गोडे’ और बच्चों के तेलुगू गीत वहाँ चालू हैं।”

अत्तीवंच तिगा, डूगा, मत्ता, दस,

चौगा, वंचि, चव्यां चौरं, वित्तिग

इट्टुग, यद्रनु ..... ..

(‘उत्तर हरिवंशमु’, अध्याय ३, पृष्ठ १२०-१२१।)

इस सम्बन्ध में पृष्ठ १०६ से १२६ तक चौपड़ का ही वर्णन दिया गया है। परन्तु इन पद्यों में प्रयुक्त अधिकांश शब्दों के अर्थ नहीं जाने जा सकते।)

हम यह कह सकते हैं कि यह खेल आंध्र में जन्म चुका है। अब भी ब्राह्मण, स्त्री-पुरुष इसे दो पासों (पाचिकर) से खेला करते हैं। अन्य जाति वाले छ या सात कौटियों में खेलते हैं। इसे ‘पच्चीसी’ कहते हैं। पच्चीसी उर्दू अथवा हिन्दी शब्द है। ऐसा लगता है कि आंध्र में आकर मुसलमानों ने इस खेल को अपनाया और उसे अपने नाम दिये। फिर उन्हीं नामों को आंध्रों ने अपना लिया। पच्चीसी के नाम के साथ दम, बारह, पच्चीस, तीस आदि गणना-नामों को भी उर्दू-बा-र्यां अपना लिया। यह मुसलमानी खेल नहीं है। खेल के आरम्भ में बबिवर सोमयाजी ने ‘हरिवंश’ में चौपड़ का वर्णन करते हुए लिखा है कि सबसे पहले चौपड़ के विषय को नकड़ी के तम्बे पर खटिया मिट्टी-जैसे नरम परत पर गोचते थे। फिर ‘स्वर’ देतने से कि मूर्ख नाड़ी चल रही है अथवा चन्द्र नाड़ी।

खेल प्रारम्भ करने से पहले बाजी भी बढते थे । रविमणी तथा श्रीकृष्ण भगवान् ने इसी प्रकार चौपड़ खेला था । इस खेल में जो सकेत बरते गए हैं, वे ध्यान देने योग्य है । दूगा, तीगा, सत्ता, बद्रा आदि सख्या-नाम बरते गए हैं । 'शब्द रत्नाकर' में बद्रा का अर्थ 'वारह' दिया है । पाँसे दो होते हैं । दोनो पाँसों के चार-चार पहलू होते हैं । हर पहलू पर छँ-छँ, चार-चार, तीन-तीन या एक-एक अर्थात् आठ जोड़ो पर अठाईस बिन्दियाँ होती है । उन पाँसों को हथेली पर तालकर फँकने पर पाँसों के पहलू के अनुसार १२, १०, ६, ८, ७, ६, ५, ४, २ के नौ-नौ पाँसे पड जाते हैं । उक्त अतीवच पद्य में जो गिनती गिनाई गई है उसके अर्थ इस प्रकार होंगे - अतीवच (अतीवच-तीवच) = चार, तीगा = तीन, दूगा = दो, सत्ता = सात, तच्चोर्क = आठ, वचि = एक, तच्चोर्क वचि = आठ-और एक नौ, चौवच = पाँच, इरंदु = दस, इसिगा = छँ ।

अब हम देखें कि यह खेल खेला कैसे जाता है । खेलने के पाँसे हाथीदाँत, लकड़ी या धानु के बने होते हैं । चौकोर और कुछ लम्बे से । हर पाँसे पर चारो ओर नीचे दिये चिह्न बने होते हैं—

१

२

३

४



इस प्रकार हर पाँसे पर १, ३, ४, ६ के चिह्न होने हैं । पाँसों को हथेली पर लेकर जमीन पर छोड देते हैं ऊपर की ओर पडे हुए चिह्नों को मख्या का गिनकर चौपड या चौसर पर गुट्टियों (कुचड़ियों) को बढाया जाता है । पच्चीसी को, जिसे कौड़ियों से खेला जाता है, पाँच कौड़ियों के चित पडने पर पच्चीस और छँ कौड़ियों के चित पडने पर तीस बढा जाता है । और पच्चीस या तीस घरों को आगे बढाकर गुट्टी (कुचड़ी) बिठा दी जाती है । किन्तु चौसर में जितनी गिनती निकलती है उतने ही पर आगे बढते हैं । इसमें गुट्टी (कुचड़ी) जोड़ी से चल सकती



है। तब प्रतिपक्षी को गुट्टियाँ (कुक्डियाँ) भी जोड़ी से ही गाकर उन्हें मार सकती हैं। बाकी सभी बातों में पच्चीसी और चौसर दोनों एक ही समान होते हैं। चौपड का चित्र देखें। पच्चीसी भी इसे कहते हैं। इसमें प्रत्येक पक्ष में आठ गुट्टियाँ (कुक्डियाँ) होती हैं। पहचान के लिए दोनों के अलग-अलग रंग होने हैं।<sup>१</sup> मार में बचकर चारों ओर के घरों से होने हुए अपने बीच के स्थान में चौसर के बीच में पहुँचने पर और इस तरह सारी गुट्टियों को केन्द्र के घेरे में ले जाने पर जीत होती है। नाचनें सोमयाजी ने जिस खेल का वर्णन किया है, वह तेलुगू-देश में प्रचलित रहा होगा। कर्णाटक में भी सम्भवतः वही रहा हो। आजकल आन्ध्र जाने इसे जिस ढंग से खेलते हैं, वह ढंग सोमयाजी के वर्णन में नगभग मिलता-जुलता है। तमिलनाडु का खेल कुछ भिन्न है। वहाँ भी इससे मिलता हुआ एक खेल होता है, जिसे 'करल' कहते हैं। उगमें तीन पीतली पाँसे होने हैं। पहले पर एक बिद्ध, दूसरे पर दो, और तीसरे पर तीन होने हैं। गुट्टियाँ या कुक्डियाँ छँ-छँ होती हैं। एक बिन्नाडी दारों में गेलता है तो दूसरा दारों में।

वैदिक-काल अथवा महाभारत-काल का चौपड हमें भिन्न होता था, वेदों और पुराणों के अन्दर इस खेल को 'अथ खेलनम्' कहा गया है। यह नाम इसलिए पडा कि पाँसों में जो चिह्न होने थे उनकी आकृति आँकों की-सी होती थी। अथ का शब्दार्थ है आँख। उस समय अखरोट की सबड़ी के पाँसे बनते थे। वेदों के अन्दर कवय एलूप नामक शूद्र ऋषि ने उस समय व्यापे हुए इस खेल का जोरदार विरोध किया है, क्योंकि उस समय यह खेल इतना बढ गया था कि एक व्यक्ति ही बन गया था।<sup>२</sup>

वेद-काल और पुराण-काल में पाँसों के चारों ओर क्रम में १, २, ३

१. दो की जगह चार बिन्नाडी हों तो, प्रत्येक की चार-चार गुट्टियाँ होती हैं। उनके रंग भी चार होते हैं।—सम्पा० हिन्दी संस्करण।

२. 'ऋग्वेद', मंत्र १०, सूक्त ३४।

और ४ के चिह्न बने हों थे । इन चारों चिह्नों को चार युगों के नाम दिये गए थे । १. कलि, २. द्वापर, ३. त्रेता, ४. कृत । प्राचीन काल में ही लोगों के विनोद और मनोरंजन के लिए भी नामों को बदलकर उनकी जगह मर्यादें रख लेने की बात ध्यान देने योग्य है । 'द्वादोम्योपनिषद्' में इस प्रकार लिखा है—

यथा कृताय विणितापरयोः

श्रुत्येवमेनम् सर्वत्र तदभिसमेति,

यत्किञ्च प्रजाः साधु कुर्वन्ति

यस्तद्वेदपत् स वेद समर्थं तदुच्यते इति ।<sup>१</sup>

इस मंत्र का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार चौपड़ खेलने में जिसकी बाजी में कृत युग का चिह्न आ जाता है, और वह गेप सभी बाजियों को जीत लेता है, उसी प्रकार मनुष्य अपने अच्छे कर्मों के सारे फल एक साथ भोगता है । यही उदाहरण उसी उपनिषद् में दूसरी जगह पर भी मिलता है ।<sup>२</sup>

महाभारत की सारी कथा इसी अक्ष के जुए पर चली है । महाभारत में प्रनीत होता है कि कौरव और पाण्डवों ने इसी कलि, द्वापर, त्रेता और कृत के पक्ष से जुआ खेला था । विराट् पर्व में द्रोणाचार्य के अर्जुन की प्रशंसा करने पर दुर्योधन विगड़ खड़ा हुआ था । इस पर अश्वत्थामा ने कहा था :

नाक्षान् क्षिपति गांडीवम्, न कृतम् द्वापरं न च ।

ज्वलतां निक्षितान् वारणांस्तीक्ष्णान् क्षिपतिगांडीवम् ॥

अर्जुन अपने गांडीव में कृत और द्वापर की गिनती करके वारण नहीं चलाता । जब उसके जानलेवा बाण चलेंगे सभी यह जान पड़ेगा कि वह कैसा व्यक्ति है । इन शब्दों में विदित होता है कि कौरव-पाण्डवों ने यही चौपड़ खेला था । तेलुगू प्रान्त में भी आज तक नक्कंमुट्ट, नक्कमुष्टि या लक्कि-मुष्टि के नाम से एक खेल चालू है । इस कलि-द्वापर के खेल के, न केवल

१. 'द्वादोम्योपनिषद्' ४-१-४० ।

२. 'द्वादोम्योपनिषद्' ४-३-६ ।

भारत में बल्कि एशिया योरप के अनेक देशों में भी, प्रचलित रहने के प्रमाण मिलते हैं। प्राचीन यूनान तथा मिस्र में इस खेल का बड़ा जोर था। यूनानी किसी मनुष्य के मरने पर उसके दाव के साथ उसके चौपड़ भी कब्र में गाड़ देते थे। १२०० ई० पू० के लगभग दस साल की अवधि तक जो ट्राय-युद्ध चला था, उसमें सैनिक लोग, समय काटने के लिए चौपड़ खेलते थे।

यहाँ पर यह कह देना उपयुक्त है कि आंध्र साहित्य के अन्दर नाचनें सोमयाजो के बाद दो-तीन कवियों ने इस चौपड़ के वर्णन में सोमयाजो का अनुकरण किया है। पिगळ-मूर ने 'कलापूर्णादयमु' (३-१३१) में तच्चोक, चौबद, इत्तुग, बारा, दूगें आदि गिनती के माथ चौपड़ खेलने की चर्चा की है।

इसी प्रकार सकुसाल रत्नकवि ने अपने 'निर्गुणोपाख्यानमु' (२-२२) "बार पडि दच्चि (दस) इत्तुगें इगें" आदि की गिनती के वर्णन के माथ चौपड़ का उल्लेख किया है। उसने आगे और भी व्यौरा दिया है (३-२०)। बहर-हान नाचनें सोमयाजो से लेकर आधुनिक काल तक यह चौपड़ आंध्र के अन्दर चलता आ रहा है। 'विष्णु माया नाटक' (मद्रास विश्वविद्यालय में प्रकाशित) के अन्दर तीन पद्यों में विष्णु तथा लक्ष्मी के चौपड़ खेलने का वर्णन है।

उत्तर भारत में बहुरूपिये की प्रथा युगों पुरानी है। आंध्र में आज-कल भी पिच्चकृष्टला जाति के लोग दिन के समय ही रग-बिरगे भेग १. आज भी बंदिक बाह्यणों में चौसर खेलने की बात सुनकर तैलक स्वयं कर्बूस गये थे। किन्तु चार घंटों तक घूमते रहने पर भी किसी बाह्यण ने चौपड़ खेलकर नहीं बनाया। अन्त में बालमपुर में बह्यश्री गडियारम् रामकृष्ण शर्मा का खेल देखा। तैलक के वहाँ जाने, और उनका खेल देखने का कल यही रहा कि तैलक शर्मा जो का चौपाट (चौपड़ खेलने की विधात, पाँसे और बुकड़ियाँ—सम्पा०) उठा लाए।

लेकर लोगों का मनोरंजन करके माँग खाने हैं। तेलुगू में उन्हें वाक्ताय-  
कान में भी पगटिवेपम् या दिन का भेष कहते थे।<sup>१</sup>

बच्चों में भी अनेक खेल प्रचलित थे। जबान पट्टे तीतर-बटेर की  
बाजी में आनन्द लेते थे। वे हाथ के घँगूठों पर पित्तविपिट (बटेर) बिठा-  
कर खना करते थे।<sup>२</sup>

'पल्लाडि वीर चरित्रम्' में दिया है—

“कुँहड़े का खेल कुछ देर खेल-खेलकर  
गले की बाजियाँ बंद-बंदकर, बेलबर  
कुछ समय बिकाभो सुपारी के खेल से  
मोतियों की गेंदें उछालकर, गुलेल से,  
घुच्चियों में पिला-पिता बाजियाँ करो सर,  
ला-ला के कुटिल जन्तु मन्दिर में पूर कर  
आपस में उनको भिड़ा-भिड़ा मखे लो,  
रूपों के डेर भी लगा-लगा के खेलो . . .<sup>३</sup>

इसे 'गुंत-भापला' कहा है, पर यह शब्द कोश में नहीं है। घुच्चियों  
में पिलाने का खेल शायद वही है जो आजकल भी कहीं-कहीं चालू है  
(एक तख्ती पर सात-आठ चौदह गड्डे खोदे जाते हैं। इमली के बीजों को  
दोनों तरफ दो व्यक्ति भरकर फिर एक-एक गड्डे में डेरी उठाकर एक-  
एक स्थान में एक-एक छोड़ने जाते हैं। जहाँ एक खाना खाना के बाद  
भग गड्डा मिले वहाँ वह जीत लिया जाता है। जिसके मंत्र दाने पहले  
समाप्त हों, वह हारा।—अनुवादक।)

गेंद में अभिप्राय कपड़े की वह गेंद ही हो सकती है, जिसके खेलने का  
दग देग-भर में लगभग एक ही जमा है। जन्तुओं की भिडल्लों में भेटों

१. “देवंवनगनेदुता बहुरूपु” (बहुरूपियों का चलन न था); 'बसव-  
पुराणम्', पृष्ठ २०।

२. “करमुल पति दिक्किरिपिट्टु नुंड”, 'पल्लाडिवीर चरित्र', पृष्ठ २८।

३. 'पल्लाडि', पृष्ठ ३८।

की भिड़न्त, भीसों की भिड़न्त, मुरगों की लड़ाई, तीतर-बटेर की लड़ाई आदि के नाम लिये जा सकने हैं। 'गजगा' (एक काँटेदार खेन के दाने) में भी कुछ मेल मेलने जाते हैं। बाकी मव मेल क्या है ? इनके नाम भी हम लोगों तक नहीं पहुँच पाए।

लट्टू का मेल वच्चो के मेलों में प्रधान रहा है। पन्नाड बालचन्द्र ने लट्टू का वर्णन बड़े ही विस्तार के साथ किया है। 'पन्नार' भी एक मेल माना गया है। कोंग के अन्दर इसका अर्थ खताने हुए कहा गया है कि यह वच्चियों का वह मेल है जिसमें खाना पकाने के मिट्टी के गिरनीने होते हैं। पाल्कुरिवी ने भी इसके सम्बन्ध में लिखा है। न जाने यह क्या मेल है ? पाल्कुरिवी ने लिखा है "पन्नार की आइ में!"

मुर्गवाजो हिन्दुओं का प्रति प्रार्थना मनोरजन है। पन्नाडि-मुद्द का एक मुख्य कारण यह मुर्गवाजो ही थी। नायका-राजी के मुर्गों का अज्ञानायुद्द के मुर्गों को हराना, हम द्वार के कारण अज्ञानायुद्द का गान वर्ष तक राज-पाट त्यागकर परदेश में भ्रमण करना, फिर उसके बाद पन्नाडि मुद्द का होना आदि ग्रान्थ के इतिहास की सुषमिद्ध घटनाएँ हैं।

“कुकुटा सुरताम्र चूडः

कुक्कुटश्चरणायुधः”

इस प्रकार 'अमर-श्रीम' में मुर्गों को चरणायुध कहा गया है। क्योंकि मुर्ग पंजा में एक-दूसरे को मारकर लड़ा करते हैं। हमारे पूर्वज मुर्गों के पंजा में बिले-भर के चूरे बाँधकर उन्हें लड़ाया करते थे। यह प्रथा हम लोगों तक अविच्छिन्न रूप में चली आई है। तेलुगू भाषा में तो मुर्गवाजी पर एक पूरे शास्त्र की रचना हुई है। जाटों के मौनम में अकालि के अक्षर पर अपने-अपने मुर्गों को बगल में दबाये, कुक्कुट शास्त्र को गिर पर गोल-गोल गांधों में खोम छोड़ उन शास्त्र के नियमों को बरती हुए वे गिनती मुर्गवाजी में मग्न हो जाते थे। बड़ी-बड़ी बाजियाँ दाख

१. 'पन्नाडि चोर चरित्र', पृष्ठ ४५।

२. 'पंडिताराध्यचरित्र', प्रथम भाग, पृष्ठ १३०।

पर लगाई जाती थी। तीन बरप हुए कानून के द्वारा मुर्गों की लड़ाई की मनाही हो गई। तब से हमारा यह कुक्कुट शास्त्र भी वही कोतो अंतरों में पड़ा लुप्त हो जाने की बाट जोह रहा है।

सन् ७५० ई० के लगभग आध्र में 'दंड' कवि के नाम से एक प्रसिद्ध कवि हो गए हैं। उन्होंने अपने 'दशकुमारचरित्र' में मुर्गवाजी पर काफी प्रकाश डाला है। लिखा है कि 'नारिकेल' जाति के मुर्गों को जीत प्राप्त हुई। केतन ने भी 'तेलुगू दशकुमार चरित्र' में इस मुर्गवाजी पर बड़े ही विस्तार के साथ लिखा है। हमने यही प्रतीत होता है कि आध्र-देश के अन्दर इसका प्रचार बहुत अधिक था।

'क्रीडाभिरामम्' में तो इस पर और भी विस्तार के साथ लिखा गया है। बविना विनोदमय है और मनोरंजन रूप में लिखी गई है। विस्तार के डर में सूचना-भाष देकर हम इसे यही पर छोड़ देने हैं।

जन-मनोरंजन का एक साधन, 'गगिरेट्टु' भी था। गगिरेट्टु गगिर+एट्टु। एट्टु का शाब्दार्थ है बेल। (बेल की पीठ पर रंग-बिरंगे नलों में नंगार की हुई एक भारी छम्बारी-सी उड़ा दी जाती है। सींगों पर मोरछत्र दाँध दिये जाते हैं। घोंटा-बहुत खेल भी उमें मिलाया जाता है। आध्र में इनका रिवाज आज भी है।)

ये हैं घोंडे-से खेल और मनोरंजन के साधन, जिनमें काव्यतोष युग में हमारे पूर्वज मनोरंजन किया करते थे।

### स्त्रियों के आभूषण

पता नहीं पुराने जमाने में तेलुगू स्त्रियों को गहने इतने प्रिय थे। वे तरह-तरह के गहने बहुत पहनती थीं। हाथों-पैरों में कड़े, नाकों में नय, कानों में बानिपी, घाड़ुओं में वाडूबद और बकी (बाकी विजापठ),

१. 'दशकुमारचरित्र'।

२. "गगिरेट्टुलवाडुकार मराचि

मुकुदाडुपोडिविन पोतेडुलडु!"—'पल्नाडि', पृष्ठ २०।

माँग में आगे से पीछे तक छोटे-बड़े किल्ले (मोंगटीके) घादि सब पहने जाते थे। गले में वे 'जोमाल हार' पहना करती थी।<sup>१</sup> आजकल स्त्रियाँ, युवतियाँ तथा युवक भी मुख पोतने में सूत्र धन खर्च करते हैं। स्ना, पाउडर, तेल, आलते (नाखूनों के रंग), महावर आदि और फिर उनके आवश्यक उप-साधन चुम, शीमे, कचे इत्यादि का उपयोग घडल्ले से करते हैं। उन दिनों स्त्रियों के लिए हन्दी ही प्रधान धराराग थी। रोंगे भाडने और मुख का रंग निखारने के साथ-साथ हन्दी के उबटन में कृमि-महारक गुण भी है। उन दिनों स्त्रियाँ नाखूनों में मेहदी लगाया करती थी।<sup>२</sup>

होंडों में साव का यावक (लान रंग) लगाया करती थी। आँवों में काजल लगाती थी। पैरों में साव का बना लान रंग 'पारागि' लगाती थी।

दंडि ने अपने मस्कृत 'दशकुमार चरित्र' में स्त्रियों के गहनों के सम्बन्ध में मणि-नूपुर, मेखला, ककण, कटक और ताटकहार साथ का बरान किया है। किन्तु केतन ने अपने 'तेलुगू दशकुमार चरित्र' में महिलाओं के आभूषणों में धनेचो नाम गिनाये हैं। ऐसा लगता है कि आंध्र देश के धनी-वर्ग के अन्दर ये आभूषण प्रचलित थे। केतन द्वारा वर्णित आभूषण ये हैं -

मट्टे (दंर के छल्ले), मणिनूपुर (भाँभन), करधनो, मोती, कप्रवडम्, पट्टी, चमेत्ती, बाजूबंद, अंगूठियाँ, हार, कंगन, कण्ठकूल, तिलक, मेहदी, काजल आदि।

पल्ल्नाडि-बुद्ध तक गड़े शीरो (बड़े घाटने) भी चल चुके थे।<sup>३</sup> धरगन की स्त्रियाँ नाटक और मोतियों के कर्णपूल, कार्ची-नूपुर, ककण,

१ 'पंडिताराधप', पृष्ठ १३६।

२. नन्नेचोड — 'कुमारसंभवम्'।

३. 'पल्ल्नाडि', पृष्ठ १६।

त्रिपर, (तिलडो, तिहरा हार) और बड़े कगन भी धारण करती थी ।<sup>१</sup>

### विविध वस्तुएँ

रक्षा के उद्देश्य में ताबीज पहनना भी एक प्रथा-भीज ही हो गई थी । गने और वाजुओं में 'ताबीज' बांधे जाते थे । करघनी में भी ताबीज पहने थे ।<sup>२</sup> यह निश्चिन्त रूप में नहीं कहा जा सकता कि मन् ११७२ में पल्लवाडि युद्ध के समय या जब कि श्रीनाथ ने उम मुद्ध को छन्दोबद्ध किया, तब ताबीजों की प्रथा थी या नहीं । किन्तु काव्यतौषों के समय तो ताबीज जम्ह रहे । अण्य कवि ने इन पर स्वामी लम्बी चर्चा की है । ताबीज को तेलुगू और कन्नड में 'तायेतु' कहते हैं । इस शब्द के उसने अर्थ यों किये हैं—तायि (कन्नड) = माता, एतु = रक्षा । माताएँ अपने बच्चों की रक्षा के लिए ही ताबीज बाँधती थी । इसीलिए वह तायेतु कहलाना है । किन्तु क्या केवल बच्चों को ही ताबीज बाँधे जाते थे ? क्या केवल माताएँ ही बाँधती थीं ? क्या बड़े भी नहीं बाँधते थे ? क्या तायिकों में ताबीज लेकर बूटे और युवक भी नहीं पहनते थे ? फिर 'एतु' के लिए रक्षा का प्रयोग कहीं हुआ है ? मुद्दराजु ने 'तायतु' लिखा है, 'तायेतु' नहीं लिखा । अण्य कवि मुद्दराजु पर नाहक उद्घन पड़े । हमारा विचार है कि यह अमल में तेलुगू शब्द है ही नहीं । यह अरबी शब्द ताबीज ही है । कुरान की आयतों को निम्कर मुमलमान गले में डाल लेते हैं, और उमीकों हम लोगों ने अपनाया है ।

बीडा उठाना—राजस्थान आदि में जिन प्रकार किमी साहसपूर्ण कार्य के लिए बीडा उठाया जाता था, उमी प्रकार आंध्र में भी होता था । मुद्ध आदि वीर-शूर्यों पर जाने समय वीर-नाम्बूल दिया जाता था ।<sup>३</sup> ताम्बूल के माने हैं पान का बीडा । बीड़े को तेलुगू में 'विडेमु'

१. 'बीडाभिराममु' ।
२. 'पल्लवाडि', पृष्ठ १० ।
३. 'बसवपुराणमु', पृष्ठ २४१ ।



बहते हैं।

गठिया आदि वायु-रोगों के लिए वायु तैल तैयार होने थे। धनूरा, रेडी, आक और सम्भालू आदि के पत्तों से मेका जाता था।<sup>१</sup>

बेगार—उस समय बेगार की प्रथा भी थी। यह भारत की घति-प्राचीन प्रथा है। संस्कृत शब्द वेष्टि से तेलुगू में वेष्टि (बेगार) बना है। चाणक्य के अर्थशास्त्र में बेगार की चर्चा है। तेलुगू कवि पाल्कुरिकी ने एक जगह कहा है—

“शूद्र अधिकतर चह्लडमु या चिल्लाडमु (पियाऊ) बनाया करते थे।”<sup>२</sup>

गुलेन सेतों में चिड़िया उड़ाने और युद्ध में शत्रु का भगाने के काम में आती थी।<sup>३</sup> नौकर को वेतन की जगह ज्वार दी जाती थी। नौकरों के बदले नाज का रिवाज अब भी है।

मन्निचोट्टु ने लिखा है

“उधार का ज्वार जाँगर चलाके पटाऊंगा।”<sup>४</sup>

कथा पुराण—भागवतादि पुराणों की कथाएँ होनी थीं। सभी लोग बँटकर सुना करते थे। पन्नाडि के बालधन्ध की माना में कहा था—  
“बेटा! ब्राह्मणों को बुलाकर भागवत की कथा करवाओ। महाभारत की कथा सुनो, जिससे ज्ञान बढ़े।”

यह बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध की बात है। मन् ११७२ तक महाभारत के केवल आरम्भिक तीन पर्व ही तेलुगू में लिखे गए थे। और तेलुगू भागवत तो बना ही नहीं था। अभिप्राय यह हुआ कि आप्त-देग में तब ब्राह्मण लोग संस्कृत में भागवत, महाभारत आदि पढ़कर श्रोताओं को उगना अर्थ तेलुगू में समझा दिया करते थे।

व्याज-बट्टु का धन्धा खूब चलता था। “व्याज, मूगप्पोरी, बैख, ”

१. 'बसवपुगणायु', पृष्ठ ७७।

२. वही, पृष्ठ ८३। 'पडिनाराय्य', प्रथम भाग, पृष्ठ ५२१।

३. 'उत्तर हरिवंश', अध्याय ३, पृष्ठ १०३।

४. 'कुमारसंभवयु', अ० ११।

वेस्या-वृत्ति, वूडें-कूति (होटल).....”<sup>१</sup>

इससे प्रतीत होता है एक हजार वर्षों में पूर्व भी आन्ध्र में होटल की प्रथा मौजूद थी। हमारे पूर्वजों ने भी शायद इन्हीं अन्न-विक्रय (होटल प्रथा) की निन्दा की है। जब ऐसे-ऐसे प्रशस्त कवियों ने इसकी निन्दा की है, तब इसका मतलब यही हुआ कि आन्ध्र देश में हजार वर्ष पहले भी होटलों का बोल-बाला था। जहाँ बड़े शहर बसंगे वहाँ होटलों का चल पड़ना अनिवार्य है। बरगल आन्ध्र का एक विशाल नगर था। इसलिए वही पर होटल भी मूब थे। ‘श्रीडाभिरामम्’ में एक पद है—

संधियों, बिप्रहों यानादि संपुटनों

मन्थकियों, जारों, कुट्टनों-कुट्टनों

सबके जोर चलते घन्न-मण्डगृहों के भीतर

सबकी दस्तानों किया करते हैं पुष्पशर

मतलब यह कि आजकल की तरह उन समय भी शहरों के होटलों में वेस्या-वृत्ति चलती थी। ‘श्रीडाभिरामम्’ के रचयिता ने होटलों का रोचक, पर वास्तविक चित्र खींचा है। एक जून (ममय) के भोजन में क्या-क्या चीजें इन होटलों में खाने को मिलती थी उसका भी व्यौरा कवि ने दिया है -

कपूरभोगी महोन चावल

मुस्वाडु गेहूँ, पकवान में फल,

ताजा घी गाय का, मुट्टी-भर शक्कर

मूँग की दाल और केले खूब जो भर

चार-पाँच चटनियाँ, अचार, दही दूधका,

तश्मल वज्जल के घर मिलते हैं, पक्का !<sup>२</sup>

मर्थान् उसके होटल में ऐना बटिया भोजन मिलता था। और क्या

१. भद्रपाल, ‘नीतिशास्त्र-मुक्तावलि’, पृष्ठ १४०। भद्रपाल ईसवी सन् १०५० के पहले ही हो गये हैं।

२. तश्मल वज्जल कोई होटलिया रहा होगा।

चाहिए ? यह तो पूर्णतया पुष्ट, स्वादिष्ट और सन्तुलित भोजन हुआ । मानो आजकल के महाराजाओं की जेबनार हो ।

'क्रीडाभिरामम्' के रचयिता ने कहा है कि "योग राजा प्रतापरद्र की उपस्त्री का नाटक खेला करते हैं ।" पान्कुरिकी ने भी कहा है कि "योग उत्तम नाटक खेला करते हैं ।"

आखिर ये नाटक कैम होने थे ?

निश्चय ही, गीर्वाण पद्धति के नाटक तो नहीं ही थे । हो सकता है, यज्ञ-गान-सम्बन्धी हो ।

इन सूचनाओं से इन नाटकों की प्राचीनता का पता ज़रूर चलता है ।

चुङ्गी को 'मुक्कम्' (मुक्कम्) और चुङ्गी बसूल करने वालों को 'मुक्करि' कहते थे । चुङ्गी की बसूली के 'घाट' (नाके) बने हुए थे । (शायद नदियों के घाटों पर होने के कारण उनका यह नाम पड़ा होगा) मस्कृत की एक कहावत है—'घट्टुटो प्रभात न्याय' । इस कहावत के पीछे एक कहानी है । एक आदमी मरेयाम गाड़ी पर माल लादकर चुङ्गी में बचने के उद्देश्य से रात-भर रास्ता काटकर चलता रहा, परन्तु मवेरा होने-होते उसने देखा कि उसकी गाड़ी चुङ्गी-घाट की भोपडी के सामने सड़ी है । भद्र भूपाल ने स्वयं कहा है कि ये चुङ्गी वाले बड़े दुष्ट होने थे । उसने निम्ना है

"न कोई टंटा ऐसा, जो कि छुए से बदतर

न कोई पापी बड़ा 'संक्रुरी' से जगली पर !"

नहीं । कोई नहीं ।"

योग गणों की बंली, जाली की घण्टी, बमर में बांधा करते थे । आज भी गाँवों के लोग ऐसी घण्टियों का उपयोग करते हैं ।

बरगन नगर में जनता के लिए मभी ज़रूरी भच्छी-बुरी चीजें मौजूद थीं । बरगट मीने के लिए घरकोट और दरजी होने थे । ये लोग

१. 'नीति-शास्त्र-मुक्तावलि', पृष्ठ १५५ ।

मैनिको के मोहरीवाडा मोहल्ले मे रहा करते थे । शायद यह मैनिको का ही अधिक काम करने थे । फिर भी वेध्याएँ अपनी चोलियाँ इन्ही-मे मिलवाया करती थी । जुआ ग्राम था । लोग अपने शरीर पर की चादर तक बेच-बेचकर जुआ मेला करते थे । “पैसों के लिए चादर बेच दी है ।” (श्रीडाभिरामम्) ।

पशुओं की लडाईं—भेड़ों की भिड़ंत और मुर्गों की लडाईं प्रायः हर जगह होती थी । कवि वैकटनाथ ने अपने 'पंचतन्त्र' मे भेड़ों की भिड़ंत का वर्णन किया है । (१—२३२) । अपने प्रचुरता से पाये जाते थे । ढोल-डपली बजा-बजाकर कथा-बहानी सुनाने वाले भी होते थे । कोल्लू मे तेल निवानने वाले तेली भी थे । धनी लोग “कालागुरु का सेपन करके दृष्ट, पुनुगु, मृगनाभि कस्तूरी आदि से” अपना जाड़ा भगाने थे । चादर दुहरी मोढ़ते थे । ब्राह्मण आदि उच्च कुन्नों के लोग नई-नई मचमचाती चप्पलें पहनकर भूमने चलने थे ।

उन दिनों राजाओं, गामन्तों और अधिकारियों को रखेलियाँ रखना और उसे लोगों मे जताना बहुत भाता था । इस धन (हीन)-कार्य पर वे गर्व भी करते थे । “अगना-हृदय सरोज-पट्पद” कहलाने मे फूल-फूल उठते थे । एक बार वरगल में तुण्डीर (तमिल) देश से एक पित्ले नामक व्यक्ति आया और किमी वेध्या के साथ रहने लगा । बाद मे उस वेध्या से उमका भगड़ा हो गया । “जारधर्म आमन” द्वारा भगडे का निर्णय सुनाया गया । (अर्थात् उनकी अलग अदालतें थी) एवाग्रनाथ ने कहा है कि वरंगल मे “अगण्य वस्तु वाहन सोभामुक्त वेध्यागृहों की संख्या १२७०० थी ।” यह तो अतिशयोक्ति लगती है । वेध्या-कन्या को कुल-वृत्ति मे प्रवेश कराने के कुछ संस्कार होते थे । इन संस्कारों मे मन्-धन्कर शीने मे मूरत देस लेना भी शामिल था । इस 'मुकुरवीधा विधान' मे पहले वेध्या विटु (व्यभिचारी) का आलिंगन नहीं कर सकती थी ।

आध्र देगापीन के महन के बडे दरवाजे पर घडी रखी थी । उन

दिनों आज का-गा गजर नहीं, बल्कि बड़ी घड़ी का घण्टा बजा करता था। चौबीस घण्टों को माठ घड़ियों में विभाजित करके दिन में एक से तीस घड़ियाँ और उन्नीस तरह रात में तीस घड़ियाँ बजाई जाती थीं। समय की माप के लिए एक छेददार कटोरे का प्रयोग करते थे। इस कटोरे को पानी के बरतन में छोड़ देने से। घड़ी-भर में छेद द्वारा कटोरे में इतना पानी आ जाता था कि कटोरा पानी में डूबकर बैठ जाता था। उसके डूबने की आवाज के साथ ही पहरेदार घड़ी का घण्टा बजा दिया करता था।

ऐसा लगता है कि मिर्चियाँ लाल पल्लू की सफेद माड़ी बहुत पसन्द करती थी। (क्रीडाभिरामम्) इसे बोम्मचु कहा जाता था। एक रसिक कवि ने नारियों के होठों को इन ही माड़ियों के लाल आचन में उगमा दी है। श्री वाकुलमु के मने का वर्णन करते हुए कवि ने बेलम युवराज और विधवा युवतियों के दुश्चरित्र के सम्बन्ध में बहुत-बहुत कहा है। इस प्रकार की और भी अनेक बाने बतलाई जा सकती हैं। वही इगका धार-धार नहीं है।

काकतीय युग में आन्ध्र के सामाजिक इतिहास के लिए 'क्रीडाभिरामम्' प्रधान आधार है। कहा तो यह जाता है कि इसके रचयिता वन्तभराय थे। किन्तु उसकी सीढ़ी से पग-पग पर यही लगता है कि पुस्तक थीनाथ की लिखी है। अन्य आधार-भूत पुस्तकों की सूची नीचे दी जाती है।

१. 'क्रीडाभिरामम्'—प्रवासक क्षेत्रि प्रभाकर शास्त्री।
२. 'काकतीयसंचिका'—आन्ध्र इतिहास परिशोधन मण्डली, राज-महेन्द्रवरमु (राजमहेन्द्री)।
३. 'संहिताराघ्य चरित्रम्'—रचयिता, पालुदुरिकी,  
'असयपुराणम्'—प्रकाशक, आन्ध्र-पत्रिका, मद्रास।
४. 'पत्तनाडि धीर चरित्र'—प्रकाशक अकिरागु उगावाणम्।
५. 'तेनंवाणा शासनमुत्तु' (के शिलालेख)—प्रकाशक परिशोधक मद्रासी, हैदराबाद।

६. 'उत्तर हरिवंशमु'—नाचनें भोमपाजी
७. 'प्रताप चरित्रमु'—एकाग्र नाय
८. 'दशकुमार चरित्र'—केतनें
९. 'नीतिशास्त्र मुक्तावलि'—भद्रभूपालं

: ३ :

## रेड्डी राजाओं का युग

एक साम्राज्य के पतन के साथ ही छोटे-छोटे सामन्तों का मिर उठाना और छोटे-छोटे कई स्वतन्त्र राज्यों का स्थापित हो जाना, भारतीय इतिहास की एक परम्परा-सी है। काकतीय साम्राज्य का अन्त होने ही उसके अधीनस्थ सामन्तों और सेनानियों ने अपने अलग-अलग स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिए। उनमें से रेड्डी और वेल्मों के राज्य ही मुख्य हैं। उसी समय विजयनगर राज्य ने भी अपनी जड़ें जमाईं। इन तीनों में काकतीय साम्राज्य के पतन के समय रेड्डी राज्यों के प्रधानता प्राप्त करने के कारण तथा वेल्म राज्यों की परिस्थितियों से जानकारी प्राप्त करने के साधनों का अभाव होने के कारण इस युग को रेड्डी-युग का नाम दे देना हमारे लिए आवश्यक हो गया।

रेड्डी राजाओं ने अद्वि, कांडवीड, राजमहेन्द्रवरम् (राजमड्डी) तथा कंटुनूर में ईसवी सन् १३२४ से लगभग १४३४ तक शासन किया। रेड्डीयों का राज्य कर्नूल से लेकर विशाखापट्टम (बंझार) तक फैला हुआ था। वर्तमान जिला नेल्नूर उसकी दक्षिणी सीमा थी।

काकतीय राज्य के पतन के साथ मुगलमान, जिन्हें तेलुगु में तुगक कहा जाता था, सारे आंध्र देश पर छा गए और भयभीत जनता पर तरह-तरह के अत्याचार करने लगे। मन्दिरों को तोड़कर उन्हें ममाजिदों में बदल दिया। तलवार के हाथ बलात् लोगों की मुगलमान बनाने

नगे । लूट-भार का बाजार गर्म कर दिया । जनता के प्रियपात्र नेताओं तथा राजाओं और मन्त्रियों को उमड़ी आँखों के आगे तोपों में उड़ा-उड़ा डाला । परिणाम यह हुआ कि शान्तिप्रिय व्यक्ति भी भाग-बचूना ही उठे ।

वर्गल का विध्वंस करने के बाद मुसलमानों ने पूरे आन्ध्र-देश में नबाही मचा दी । इसमें छोटे-मोटे राजा, उनकी मैनाएँ और साधारण जनता घबरा उठी । मुसलमान के दिखने ही लोगों में भगदड़ मच जाती थी । प्रायः यह धारणा ही बनी थी कि मुसलमान बड़े बली हैं, उनका नामना करना अमम्भव है । भारतीय रगमच पर अंग्रेजों के आने तक मुसलमानों की यह धारणा बनी रही । कवि वेङ्कटाध्वरि ( १६५०-१७०० ई० ) ने अपने 'विध्व-गुणादर्गमु' में इन बातों का मुष्पष्ट वर्णन दिया है ।

मुसलमानों के हाथों की गई तबाहियों का वर्णन स्वयं उम समय के रेड्डी राजाओं ने जहाँ-जहाँ अपने गिला-शामनो में भी किया है ! विशेष-कर सन् १३२४ ई० में सन् १३३० ई० तक लगभग छ साल तक मुसलमानों ने आंध्र पर घोर अत्याचार किये । आखिर प्रोलयनायक और वापयनायक ने मुसलमानों को आंध्र देश में एकदम बाहर भगा दिया । प्रोलयनायक ने अपने ताम्र शामन में उस समय की परिस्थितियों का व्योरा इस प्रकार दिया है .

“पानी यवनों द्वारा लोगों की जमीनें बरजोरी जोत ली जाती थी और तैयार फसलें लूट ली जाती थी । इस कारण धनों-दरिद्र का अन्तर न रहकर किसानों के कुटुम्ब-के-कुटुम्ब तबाह हो गए हैं । उन महान् विपदा के समय लोगों के लिए अपनी जायदादें और अपनी स्त्री आदि को भी अपनी ममभ्रता अमम्भव ही चुका था । ताड़ी पीना, स्वच्छन्दता में विचरना, आश्रयों को मार डालना यही इन यवनों का पेशा बन गया था । ऐसी स्थिति में धरती पर कोई प्राणी अपने प्राण बचावे भी तो कैसे ? इन राक्षसों द्वारा प्रपीडित देश की रक्षा करने योग्य कोई व्यक्ति दोग नही पटना था । मारा देश चारों ओर में जलने हुए जगल की



तरह संतप्त हो रहा था ।<sup>१</sup>

मुसलमानों के आने की खबर सुनते ही दुर्गाधीश अपनी गंगा और सवारों में भरे जिलों का छोड़कर, मारे डर के जगनों में जा छिपते थे ।<sup>२</sup>

आंध्र की ऐसी दुरवस्था में से प्रोचयनायक नामक एक रेड्डी वीर उठ खड़ा हुआ । उसने विखरी मेनाओं को एकत्र करके और सामंतों को साथ लेकर, मुसलमानों फौजों को मार भगाया, तथा 'आंध्रमुरशाह' का विरुद्ध पाप अपने बेटे वापयनायक के साथ बरगल के राज्य पर शासन किया । किन्तु तुरकों का डर मिटने ही तेलुगू राजाओं ने फिर से आपस में लड़ना शुरू कर दिया । वेल्म राजाओं ने रावकोंडा और देवरकोंडा के किलों पर कब्जा जमाकर तेलगाना पर राज किया । रेड्डीयों ने विजयनगरा पूर्वी तट पर तथा गुण्टूर, नेल्लूर, चर्तूरुल पर शासन किया । रेड्डी और वेल्म राजाओं के बीच निरन्तर वैर-भाव बना रहा । उनके अतिरिक्त रेड्डी-राज्य के लिए कर्णाटक कहलाने वाला हम्पीराज्य बगल में खुँपा भाला-ना बन गया । गुलबर्गा में बहमनी मल्कनत की स्थापना हुई । बहमनी मुलानाओं में से एक-दो को छोड़कर सभी हिन्दू-देवी बन गए । उन्होंने अत्यन्त खर्चतापूर्ण व्यवहार किया । उत्तर में प्रोढ़ अथवा प्रोडियों ने सदा देश-द्रोही बनकर आंध्र को हथियाने की चेष्टा की ।

इस प्रकार रेड्डी राजा चारों ओर की घोर उलझनों के बीच फँस गये । ऐसी दशा में अगरे रेड्डीयों ने पूरे ही मान तक चागे और में दावने आने शत्रुओं को रोक्ते हुए, मुसलमानों को हराने हुए, और अपनी आन-दान को कायम रखते हुए शासन किया ताँ वे मवंदा प्रशासकों की साथ रहेंगे । रेड्डीयों ने न केवल प्रोडों, वेल्मों, कर्णाटकों के राजाओं और मुसलमानों में ही मोरचा लिया, बल्कि उधर बगल तर ओर इधर मध्यभारत तक अपना विजय-द्रवा बजाया । उनके मन्त्री निगर्न की द्विविजयों का व्योरा यों है :

१. 'रेड्डी संचिका', पृष्ठ ११ ।

२. यही, पृष्ठ १३ ।

भादेश<sup>१</sup> के, सप्तमाडि<sup>२</sup> के,  
 बारहदोति<sup>३</sup> के, जत्रनाडु के<sup>४</sup>  
 अधिपतियों को कर रण-पराभूत  
 ओट्टादिक मकर-वंश-समुद्भूत  
 उदयानुंन एवं पल्लव-पति से  
 कर घमूत करके नान्या-भति से  
 दंडक-जानन के रभादिक-कुल  
 के पुलिंद को देके अभय विपुल  
 रविकुल के वीरभद्र की तथा  
 गरवीले देवेन्द्र की कथा  
 कथा-शेष करके धरतीतल पर  
 यवन, कर्णाटक, कटकाधीश्वर  
 राजाओं को अपने मित्र बना  
 लिगन प्रभु ने जमा लिया अपना  
 स्वामि-राज्य आंध्र-देश के भीतर;  
 स्वामी अल्लाड धरणिनाय-प्रवर  
 के द्वारा पलवाया तेलुगू-बपु,  
 धन्य-धन्य अरिएटी लिगप्पु !<sup>५</sup>

गोमगेप्पर शर्मा ने वतुनाद को ही जत्रनाडु कहा है। भाड देश  
 आजकल बोन्विल जयपुर का इलाका है। सप्तमाडे गजाम के मन्ने  
 द्वाराओं का इलाका था। बारह-दोति उड़ीसा के अन्नगंत है। जगनाडु

- 
१. बोन्विल ।
  २. गंजाम ।
  ३. उड़ीसा ।
  ४. विशाखापट्टन ।
  ५. 'भीमखंडमु', पृ० १ ।

ओड्डारि विद्याखापट्टनम् (अर्थान् विद्याग) का इलाका है ।<sup>१</sup>

रेड्डी राजाओं ने बंगाल में पडवा के मुलतान को भी हराया था ।<sup>२</sup> पडवा बंगाल में आज के मालदह जिले के अन्तर्गत है ।<sup>३</sup> इन सफलताओं के लिए निश्चय ही उस राज्य में महान् शूरवीर, सेनानी, युद्ध-कला-कोविद आदि विद्यमान थे । वे सारे आन्ध्र-देश द्वारा प्रशंसित हुए और होने चाहिएँ । ऐसा मानने में न तो कोई अतिशयोक्ति है और न कोई विशेष आध्र-अभिमान । उन महान् योद्धाओं में से मुख्य व्यक्ति थे, प्रोलयनायक, धनैवेम, पेद कोमटी, वाटयैवेमुट्टु, अनैपातै रेड्डी, निगर्न मन्त्री, बेंडपूडि, अन्नय मन्त्री इत्यादि ।

अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि ऐसे रेड्डी-युग में आध्र की सामाजिक दशा क्या रही होगी ।

### धर्म

राजा जिस धर्म को अपनाने हैं प्रजा भी अधिकतर उसी धर्म को अपनाना करती है—'राजानुमतम् धर्मम्' । यही उन दिनों लोगों का विश्वास था । काकतीयों के काल में जिम वीर-शैव धर्म ने जोर पकड़ा था उसी का बोल-बाला अब भी था । रेड्डी राजागण वीर-शैव-धर्म का अभिमान रखने थे । उन्होंने अनेकों शिव मूर्तों का उद्धार किया । श्रीसैल के पर्वतीय मन्दिर की सीढ़ियाँ उन्होंने बनवाईं । बं दिन में छः बार शिवजी की पूजा किया करते थे । अनेक यज्ञ भी रचाये । राजाओं का अनुकरण करके उनके मन्त्रियों और सेना-नायकों ने भी शैव-धर्म के प्रचार का विशेष यत्न किया ।

रेड्डी राजा शैव मतावलम्बी होने पर भी वे अन्य धर्मों के अनुयायियों

१. 'हिस्ट्री ऑफ द रेड्डी किंगडम्स' (रि० घा० रे० कि०) भाग ५, पृष्ठ १३७-१४३ ।
२. 'पडवा मुरताण पावडम् विच्छिन,' 'भीमेश्वर-पुराणम्', घ० १ ।
३. हि० घा० रे० कि०, भाग १, पृष्ठ १४३ ।

को सताने नहीं थे : रेड्डी राज्य के अन्तिम दिनों में वैष्णव धर्म दक्षिण की ओर से आन्ध्र देश में प्रवेश करने लगा था। आसगार लोग आ-आकर लोगों को विष्णु की दीक्षा देने लगे थे। मन् १३४० ई० में मन् १३७० तक कारकोडा में मुम्मट्टि नायक नामक राजा राज्य करता था। उसके राज्य-काल में श्रीरंग पट्टण से पराशर भट्ट नामक वैष्णव गुरु ने कोटकोडा पहुँचकर राजा को अपना शिष्य बना लिया। फिर उसने सारे गोदावरी मण्डल में वैष्णव-धर्म को फैलाया।<sup>१</sup>

अन्तिम रेड्डी राजा कुमारगिरि इत्यादि स्वयं वैष्णव तो हुए, किन्तु उन्होंने दूसरों के साथ कोई शनात्कार या अत्याचार करके अपना धर्म नहीं फैलाया।

शैव-शक्ति नाम से लोगों में अनेको देवियों का भजन-पूजन चलता था। 'कोमलादुधद्वैकांक्षी गोगुलम्भी', महितगुणमन्त्री श्री मडेंतल्ली, नूकाम्बे, घट्टाम्बिके, मणिका' देवी इत्यादि शाक्त देवियों की मूर्तियाँ द्राशारानम् में वर्तमान थीं।<sup>२</sup> काकतीय युग की देवियों का प्रभाव अभी भी काफ़ी था। "बत्ती मंलाह भैरवा"<sup>३</sup>-जैसी मन्कृत-मूर्तियों के बन जाने के कारण इन नये देवताओं का आदर खूब बढ़ गया। एकबोरादेवी को भी लोग अभी भूते नहीं थे। शूद्र जानियों के अन्दर तो और भी अनेक देवियों का सम्मान था। कामाक्षी, महाकाली, चण्डिकी, नन्कादिव्या, काली, कम्बिका, विध्यवामिनी, एबोरा यह सब उनकी आराध्य देवियाँ थीं, उन्हें ताड़ी, शराब के घड़े तथा मामादि के भोग चढ़ाने थे। पूजा व इन विधि को माक पट्टु कहा जाता था और इन कार्यों में शिष्या आगे-आगे रहती थी।<sup>४</sup>

१. विनकूरि वीरभद्र राव द्वारा लिखित 'आन्ध्र-राज चरित्रम्' भाग ३, पृष्ठ १२४।

२. 'मोमेश्वर-पुराणम्', अ० १, पृ० ६६-१०२।

३. 'विहामन-शास्त्रिका' (बत्तीसी), प्रथम भाग, पृष्ठ ८५।

४. वही, पृष्ठ १०३।

उक्त 'साकपट्टु' शब्द का प्रयोग तेलगाना के ग्रामीणों के मन्दिर आज भी होता है। अर्थ है जल चढ़ाना, भोग चढ़ाना आदि। निष्पत्ति से इस शब्द की कोई व्युत्पत्ति नहीं मिलती। इससे यही सिद्ध होता है कि दार्शनिक का रचयिता तेलगाना का ही निवासी था। गोपराजु ने 'काकती' को मूल शक्ति कहा है और बरगल को ही एकशिला नगर कहा है।<sup>१</sup>

शैव-धर्म के प्रचार के साथ 'स्कन्द पुराण' का विस्तार भी बढ़ता गया। शैव गुरु अपनी कल्पित कथाओं को 'स्कन्द पुराण' में जोड़-जोड़कर यह भी कह दिया करते थे कि अमुक श्लोक अमुक खण्ड का है 'स्कन्द पुराण' सवा लाख श्लोकों का ग्रन्थ है, किन्तु उसने कई लाख श्लोक नये और बढ़ा दिये गए हैं। 'स्कन्द पुराण' का अगली रूप क्या था, इसका अनुमान अनुसन्धान के बाद ही जग सकता है।<sup>२</sup>

'मूलपूरम्भं' कोडावीटि रेड्डियों की कुलदेवी थी। देवी का यह मन्दिर गुण्टूर जिले की नन्नेपल्ली तहसील के अमीनाबाद गाँव में आज भी विद्यमान है।<sup>३</sup>

आजकल के अपने त्यौहारों में और उन दिनों के त्यौहारों में कोई अन्तर नहीं था। किन्तु निम्न उद्धरण से त्यौहारों की विनिष्टता पर प्रकाश पड़ता है।

“नाग-चोय” के दिन जाड़े का श्रीगणेश,

जाड़े-जाड़े में रथ-सप्तमी<sup>४</sup> के दिन प्रवेश।

जब पूम और अगहन, दोनों का संधिकाल :

सरदी के मारे दीन-जनों का सुराहाल।

१ 'मिहासन-दार्शनिक' (बत्तोसो), द्वितीय भाग, पृष्ठ ५०।

२ 'भीमेश्वर-पुराणमु', प्रथम अध्याय, पृष्ठ २५।

३ 'रेड्डीसंधिका', पृ० ६६।

४ कार्तिक शुक्ल चतुर्थी। नागुल-वचबिती और नाग-शंभमी भी कहते हैं।

५ माघ शुक्ल सप्तमी।

जिस दिन कि मकर-संक्रांति, तिपहरे, धूप-उले,  
भाई-भाई के खेल प्रेम के साथ चले ।  
बंठीं चूल्हे के पास बहू के संग सास  
रगड़ों-भगड़ों में गरमाती हैं सर्द साँस !<sup>१</sup>

तैलगाना में गरड-पचमी को नाग पचमी होती है । वृष्णा आदि जिलों में वातिक मुदी चौम को । ऊपर के त्योहारों को सभी जगह समान मर्यादा प्राप्त है । वैष्णव (आपाड) एकादशी को महत्त्व देते हैं, तो शैव शिवरात्रि को ; तेलुगू देश के अन्दर इसका प्रचार बढ़ाने के लिए, कवि श्रीनाथ से 'शिवरात्रि माहात्म्यमु' लिखवाया गया था । उस माहात्म्य से ही पता चलता है कि आज की तरह उन दिनों भी शिवरात्रि की रात को जुआ खेला जाता था ।

दीपावली यानी दिवाली को तेलुगू में 'दिविली' भी कहते हैं । तेलुगू में हर पूर्णिमा तथा अमावस के अलग-अलग नाम हैं । ये नाम काकतीय युग से ही चले आ रहे हैं । जैसे एरुवाक या दवनपुन्नम, नूलिपुन्नम (भावत पूतों), आदि । पाल्कुरिकी सोमनं ने अपने 'पण्डिताराघ्य' में श्रावण पूर्णिमा को ही नूलिपुन्नम कहा है, क्योंकि इस दिन स्त्रियाँ पीपल के पेड़ पर मूत चढ़ाती हैं ; 'नूलु' मूत को ही कहते हैं । विशेषकर स्त्रियाँ ही नाना प्रकार के व्रत आदि रखती हैं । इन व्रतों का उद्देश्य उनके गानों और पूजा-विधान से यही मालूम होता है कि अधिकतर व्रत गन्तानोत्पत्ति तथा ऐश्वर्य-वृद्धि के उद्देश्य से किये जाते हैं । (दक्षिण में व्रत के माने केवल उपवास के ही नहीं हैं । विशेष देवी-देवताओं की पूजा के लिए जो पूजा-विधान है, वही व्रत अथवा 'नोमु' कहलाता है । उपवास भी रखा जाता है । —अनुवादक)

भैरव आदि देवताओं को और काली आदि शक्ति देवियों को पशु-बलि दी जाती थी । इन आराधनों में तेलुगू माहित्य में जगह-  
१. 'शिवरात्रि-माहात्म्यमु', चौथा अध्याय, पृष्ठ २५ और २७ (चार-चार पंक्तियाँ) ।

जगह मिलती है। शैव सम्प्रदाय में शाक्त तथा भैरव-तन्त्र आदि वाम-मार्ग-प्रेरक तन्त्र-साहित्य का धीरे-धीरे आधिक्य हो चला। लोग वीर-शैव बनकर प्रायः आवेश में आकर जहाँ-तहाँ आत्म-बलिदान भी कर दिया करते थे। इस प्रकार की घटनाओं की चर्चा पाल्कुरिकी ने बहुत की है।

महादेव की पूजा में अपने शरीरों की बलि देने वाले अथवा लिंगायन सम्प्रदाय के लिए अपने मिरों की भेंट चढ़ाने वाले व्यक्तियों की गणना अनुपम बीरों में होने लगी। स्मारक के रूप में जगह-जगह उनके लिए बीरशिलारें खड़ी की गईं। अपने-आप पेट में तुरा भोंके हुए और अपना सिर काटकर हथेली पर रखे हुए मूर्तियाँ देश के अन्दर जहाँ-तहाँ मिलती हैं। भक्तों और अभिमानियों ने उनके स्मारक के रूप में 'वीर गुह्दम्' भी बनवा छोड़े हैं।

शाक्त ग्राम-देवियाँ तथा शिवजी के मूद्र कहलाने वाले देवता सभी झाविडी हैं। यह मूढ विश्वास कि भरे हुए लोगों की प्रेतान्भागें भून बनकर या शिव-मक्ति बनकर लोगों को मताती है, आदि वाम में भव तक बराबर चला आ रहा है। हमारे पूर्वजों में भी इस प्रकार का विश्वास था। इसके प्रमाण प्राचीन कवियों की रचनाओं में भरे पड़े हैं। श्रीनाथ की रचनाओं में अनेक स्थलों के ऊपर इन मूढाचारों पर प्रसन्न डाला गया है। पल्लुनाडि के देवी-देवताओं के सम्बन्ध में भी श्रीनाथ ने बहुत-बुद्ध कहा है :

"वीर शैव ही महादेव के दिग्ध लिंग हैं।

विष्णु, चैत्रु या कल्लिपोत राजू ही सचमुच,

गहरे हूब विचारो अगद, काल भंरय हैं।

अंकुम देवी, ग्राम शक्ति, ही शक्तपूर्णा।"

डॉ० नेल्डूर वेंकट रमणय्य ने अपनी अग्रणी पुस्तक 'धार्मिक आँक माउथ इण्डियन टेम्पुम्' ('दक्षिण भारत के मन्दिरों का उद्भव') में श्रीनाथ की रचनाओं के आधार पर ऐसे देवी-देवताओं के अनेक नाम गिनाये हैं। अकिरराडु उमाकातम् ने 'पल्लुनाडिवीरचरित्रम्' की

भूमिका में उपयुक्त पद्य को कुछ बदलकर लिखा है :

“बोर शंभ ही महादेव के दिव्य तिग हैं ।  
विष्णु नागुहू अथवा कल्लिपोत रात्रु ही,  
आंझों वालों की टाटि में, कालभैरव हैं,  
अंकम देवी ही तुहिनाडि-सुता गौरी हैं,  
मणिकणिक विमलांबु गंगाधरा पोखर ही,  
गरिमपुडि-पट्टण ही काशी है, कि जहाँ पर  
मरने वाले शिवता को पहुँचा करते हैं ।”

विजयवाड़ा के बनक दुर्गम्में के सम्बन्ध में नेलदूर वेंक्टरमणाय्ये ने अपने ग्रन्थ में लिखा है—“एक गाँव में मात भाई ब्राह्मण थे । उनके बनकम्में नाम की एक छोटी बहन थी । भाइयो ने बहन के चरित्र पर सन्देह करना शुरू किया । बनका कुए में कूदकर मर गई । फिर तो वह शक्ति (भूत) बनकर लोगों को सताने लगी । दस क्या था उसके नाम से एक मन्दिर खड़ा हो गया ।” नेलदूर ने ऐसी और भी घटनाओं का उल्लेख किया है । “नेलदूर जिले की दसों तहसील के अन्तर्गत किमी गाँव में निगम्में नामक एक गरीब औरत किसी धनवान के घर काम-काज करती थी । मालिक ने उस पर चोरी का अभियोग लगा दिया । निगम्में कुए में कूद पडी और ‘शक्ति’ बन गई । पोंदिलम्में भी ऐसी ही एक गरीब औरत थी । उसे लोगों ने किसी ऐसे ही अभियोग में मार डाला । बाद में वह ‘शक्ति’ बनकर पूजा की अधिचारिणी बनी । कोई सौ वर्ष की बात होगी, गूडा कोटय्ये नामक एक विगायन ने किमी सधवा गडरनी से सम्भोग किया, जिस पर गडरिये ने उस विगायन को मार डाला । मरकर वह “कोटय्ये कोट्टे—देवरा” के रूप में प्रसिद्ध हो गया । इस प्रकार आंध्र-देश के अन्दर नित नये देवी-देवता पैदा होने लागे हैं और मरनेवालों के अंध-विश्वास और मूर्खता को प्रकट करते रहे हैं ।

नर-बलि देने की प्रथा भी थी । नर-बलि प्रायः विगरे-विगरे निजंन



प्रदेशों में ही शक्ति या काली के मन्दिरों में हुआ करती थी :  
 भैरव के उस 'चंपुटु-गुडि' में दिग्गज-कलेवर  
 दम्पति के तिर और घड़ घों पड़े देखकर  
 सम्पादित-भय रद्राकम्पित उस 'सेट्टी' ने  
 बन्द कर लिया दोनों आँखों को, घबराकर ।<sup>१</sup>

काल-भैरव के मन्दिरों को 'चंपुटु गुडि' अर्थात् 'म.रक मन्दिर' कहा जाता था । सोड कोया आदि जगली जातियों में नर-बलि की प्रथा अर्पेक्षाकृत अधिक थी । नर-बलि चढ़ाने का ममारोह किम प्रकार का होना था, इसका वर्णन एक कवि ने यों दिया है—

“उस बस्ती की ओर से कोलाहल मचाते, मिथे फूँकते, धनगोजे  
 टेरते, डोल-दपला पीटते और इन बेंदव बाजों-गाजों की धावाजों के साथ  
 धपनी चीख-पुकारों, पाट-चिधाडों का जाँडकर दिशाएँ गुँजाने, पहाडों-  
 कदराओं को फोड़ने हुए से वे जगली लोग धपनी मण्डली के बीबीरीज  
 एक दीन-हीन व्यक्ति को कुङ्कुम, गुनाल, फूल आदि से पूजने तिर के  
 बानों को बिसेरे उछलने-बूढ़ते, हाथों में सुरे-कटार चमकाने धागे  
 बटे आ रहे थे ।”<sup>२</sup>

धीरे धीरे सम्प्रदाय की व्याप्ति के कारण इस प्रकार के बुद्ध धोर  
 आचार तैरुगू देश में फैल गये । बुद्ध प्रबोधनों ने उपदेश दिया कि  
 शिवापरायण करके अपने अर्थों को साथ बाट-बाटकर महादेव के गिर पर  
 चढ़ाना, आत्म-हिंसा करना और धन्ततोगत्वा अपने मिर को ही बाटकर  
 चढ़ा देना, असीम भक्ति के मध्याण हैं, ऐसा करने वाले निश्चय ही कैलाश-  
 याम प्राप्त करेंगे; शिव-मायुश्य पाकर गन्विदानन्द की प्राप्ति करेंगे !  
 भक्त-जनो ने उग पर विश्वास किया और उमी प्रकार आचरण किया ।

देही राजाघो में से एक अग्रय देही किसी बुद्ध में क्षीरता के साथ  
 सडना हुआ मारा गया । उसका पुण्य मानिये या कि धोर बुद्ध, थी संन

१. २. 'सिंहासन इतिहासिका', प्रथम भाग २, पृष्ठ ७८ ।

३. " " " " द्वितीय भाग, पृष्ठ ६७ ।

पर्वत पर मल्लिकार्जुन के मन्दिर से नदी-मडप के समीप सन् १३३७ ई० में 'अध्रवेमु' ने अध्रय रेड्डी के स्मारक के रूप में एक 'वीर शिरोमडप' का निर्माण करवा दिया। इस मडप के अन्दर एक शिलालेख है, जिसमें लिखा है कि "इस मंडप में अनेक वीर महा साहसपूर्ण कार्य किया करते थे। फरसों, गंडासों और कटारों से अपनी जीभ और सिर तक काट-काट लिया करते थे।" ऐसे ही मडपों को शायद चण्डुगुडु (मारक मन्दिर) कहा जाता था।

श्री शैल पर्वत पर भक्तों की सरल मृत्यु के लिए एक मार्ग और भी था। वह था 'कनुमारि' !

### कनुमारि

यह शब्द न तो 'शब्द रत्नाकर' में है, और न ही 'आध्र वाच-स्य' में। मेरे जानने तो इस शब्द का प्रयोग केवल दो ही कवियों ने किया है। पाल्बुरिकी सोमनाथ ने और नाचनें सोमयाजी ने। हाल ही में श्री वेंटरि प्रभाकर शास्त्री ने अपनी पुस्तक 'तिलुगू मेरुगुनु' में इस शब्द पर चर्चा की है। इससे मालूम हुआ कि तिककनें सोमयाजी ने भी इस शब्द का प्रयोग किया है :

“प्रायश्चित्त ताड़ी के पीने के पातक का :

कंठ में जेंडेले गरम-गरम पिघला तोहा,

धधकती ज्वाला में पंठकर जल मरे,

या कि गनुमारी से महाप्रस्थान करे !”

'गनुमारि' या 'कनुमारि' का अभिप्राय है 'भृगुपतन'। मूल संस्कृत महाभारत में लिखा है :—“मरु प्रपातन् प्रपतन्”। इसकी व्याख्या यों की गई है : “निर्जल-प्रदेश-पर्वताघात-पतनम् !” यानी निर्जन प्रदेश में पहाड़ी की चोटी से गिरकर मरना। नाचनें सोमयाजी का प्रयोग इस प्रकार है—

१. 'रेड्डी सचिका', पृष्ठ ३०, ३१।

२. 'आध्र महाभारत', शांति पर्व, १-३०७।

कनुमारि दौड़ मरो  
 घपवा विष पीके,  
 धारा में डूब मरो,  
 क्या होगर जीके ?  
 मानो यदि मेरी बात  
 कर लो आत्मघात !<sup>१</sup>

इस पर श्री वेद्विर प्रभाकर शास्त्री ने लिखा है :—“श्री शंल पर्वत पर कर्मारिश्वर नामक एक पुण्यस्थल है। यह एक पहाड़ी छोटी है। पुण्य लोक की प्राप्ति के उद्देश्य से लोग उस पर से धरती की ओर दौड़कर प्राण-त्याग किया करते थे। शिवरात्रि को कोई नोचे गिर रहा है तो कोई घघर में लटका-घटका है, और कोई दौड़ के लिए उद्यत लड़ा है। भक्तजन वहाँ पर लगातार दौड़ लगाते ही रहते थे। पता नहीं चलता था कि कौन दौड़ रहा है और कौन गिर रहा है। एक ताँता-सा लगा रहता था। शास्त्री जी ने ‘पंडिताराध्य’ का हवाला देते हुए लिखा है कि कमारिश्वर में दौड़ने वालों, गिरने वालों, और बीच ही में रह जाने वालों की लाशों की गिनती करना असम्भव था। ‘पंडिताराध्य’ के अंतिम भाग में ‘कर्महरि-महिमा’ नामक एक अध्याय<sup>२</sup> में लिखा है—“देखो यह कर्महरेश्वर है !”

प्राचीन-काल में ‘बल्लह’ नामक एक राजा कर्महरेश्वर में अपनी परनी के साथ मल्लिवाजुन का स्मरण करता हुआ पहाड़ की चोटी से गिरकर ‘शिवकवच’ की प्राप्ति हुआ। कर्मवीर का शब्द ही तेलुगू में ‘कनुमारि’ हो गया। तिवरन्ने और नाचनें दोनों ने ही ‘कनुमारि’ का प्रयोग किया है। जिस प्रकार मसूत शब्दों को तेलुगू पदों में परिवर्तित किया जाता है उसी प्रकार तेलुगू शब्दों को भी संस्कृत बना लिया जाता था। कनु (देगना) + मारि (मृत्यु)। इसीसे कमारि, कर्महरि, कर्महरेश्वर

१. ‘शान्ध महाभारत’, शांति पर्व, ४-५६।

२. पृष्ठ ४७२, ‘शान्ध-सत्रिका प्रकाशन’।

आदि बने होंगे । वीर शैव सम्प्रदाय के विजृम्भण काल में—लोग अपने

“गलदेशों में, जीभों में, अथवा कानों में  
पेटों में, सीनों में, गालों में, रानों में,  
पलक-पपोटों तक में जलते बाण धुसाकर  
अंग-अंग के चर्मस्तर को छेदों से भर”

लिया करते थे ।<sup>१</sup>

भक्तजन अपनी जीभ, हाथ, स्तन और सिर तक को काटकर अपनी भक्ति प्रकट किया करते थे । ऐसे भक्तों की कोई कमी न थी ।<sup>२</sup> काटने-छेदने के सिवा उन अंगों पर बड़े-बड़े दिवे भी जलाने थे । ऐसी दशा में यदि श्री शैल पर्वत की किसी ऊँची चोटी से नीचे गहरे खड्ड में गिरकर भृगुपात द्वारा प्राण-न्याग को पृथ्व-प्राप्ति का सरल साधन समझ लिया गया हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? तिकड़नों और नाचनों के पहले ही यह कनुमारी काफी प्रसिद्ध हो चुकी थी ।

सगुन-असगुन पर लोगों का विश्वास भी अत्यधिक था । किमी राजकुमार के शिकार को निकलने पर जो असगुन हुए उनका उल्लेख इस प्रकार किया गया है :—

बिल्लियाँ लड़ पड़ीं, बोली छिपकली  
तम्मळी दिख पड़ा, धीक आगे चली,  
बिछुड़े बछड़े को बुलाती हुई  
गाय भागी हुँकरती रँभाती हुई  
काग को कर्कशा टेर कानों पड़ी  
सादी लिये घोड़िन धागे लड़ी,  
कोड़ी सामने आके डड गया  
माये तेल चुपड़े चुप्राता हुमा !  
कौमा सारिका, बादुर, काठिया,

१. 'पद्मिनारायण चरित्र', पृष्ठ ४०६ ।

२. वही, पृष्ठ ४०७ ।

रहकटा सबने बाँधे से बाँधे कियां  
 उल्लू डाके, लूसट चीले  
 नाग फुँकारा, दम्बी तोले  
 सुर गुररा उठी, नीलश्रीवा उडा !<sup>१</sup>

सगुन के सम्बन्ध में 'क्रीडाभिरामम्' में कहा गया है :

पूरव में वह तारा टूटा, बाँधे उल्लू बोला,  
 चलो, हमारे सारे कारज निश्चय पूरे होंगे !  
 पेड़ों की फुनगी-फुनगी पर मोर मनोहर स्वर में,  
 बोल रहे हैं, जोत हमारी होगी आज समर में !  
 मुर्गा, कठफोड़ा, गोदड या मोर अगर दिख जाये,  
 अन्त सफलता घरी मिलेगी, निश्चय जानो आगे !

गोधूलि के समय नगर में पैठो, शुभ फल होगा ! ब्राह्म-मुहूर्त सभी कार्यों-प्रयोजनों के लिए उत्तम है । गार्ग्य सिद्धान्त ऊपःकाल के लिए है । बृहस्पति का मत है कि मुहूर्त निश्चित कर लेना चाहिए । विष्णु का मत है कि ब्राह्मण का वचन मानना चाहिए । जन्म-नक्षत्र के मुहूर्त के प्रश्न पर सब सहमत हैं । इसी प्रकार का एक पद्य 'क्रीडाभिरामम्' में भी है । जिसका अन्तिम चरण है—“व्यास मतसु धनः प्रसादातिशयसु !” उसको जगह धीनाथ ने “सर्वं सिद्धान्त मभिजित् सत्मतम्” कहा है । दोष तीनों चरण समान हैं ।

सगुन देखना केवल यात्रा के लिए नहीं, बल्कि अन्य सभी शुभ कार्यों के लिए भी जरूरी माना जाता था । तेल मलकर गिर से नहाने के लिए और बाल बनाने के लिए भी दिन-घड़ी देरी जाती है । नये घर में प्रवेश, मैतों की बुझाई-कटाई, रोजमर्रा के अनेक छोटे-बड़े कामों आदि के लिए घड़ी-मुहूर्त देखने की बात मनुस्मृति और पुराणों में कही गई है और हम लोग अनादि काल से उन पर ध्यान भी करते आये हैं । यह हमारी अमिट परम्परा है । यात्रा के लिए जब आज भी अच्छे दिन की

१. 'सिंहासन द्वात्रिंशिक', प्रथम भाग, पृष्ठ २५ ।

इनकी खोज रहती है तो फिर उन दिनों क्या दशा रही होगी !

### जात-पात

अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि रेड्डी-काल में जात-पात की अवस्था कैसी थी। रेड्डीयों की गिनती चतुर्थ जाति (शूद्र) में थी। वाकनीय राजाओं को भी स्पष्टतया शूद्र न कह सकने के कारण कवियों ने उन्हें 'अत्यकन्दुशूलप्रभून' (चन्द्रवंशी या सूर्यवंशी नहीं) कहकर ही सन्तोष कर लिया था।<sup>१</sup> तब भी रेड्डी राजा यज्ञ, सोमपान इत्यादि क्षत्रिय-कर्म करने रहे। उन्होंने उन सभी लोगों में सम्बन्ध जोड़ा जो अपने को क्षत्रिय बहने थे या जो क्षत्रिय कहलाते थे। चालो से, विजय-नगर के चक्रवर्ती राजाओं से, पल्लवों से, दैह्यों से तथा अन्य कुलीन राजाओं से इन्होंने विदाह-सम्पत्तिका स्थापित किये। किन्तु इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि बेलमो या कम्भो में भी इनकी कोई नाने-दारी रही होगी।

राजें और चोड़ें अपने को क्षत्रिय मानने थे। तमाम क्षत्रिय अपने सम्बन्ध में बहने हैं कि वे या तो सूर्य से पैदा हुए हैं या चन्द्र से। हम मात्र अशुद्धी तरह जानते हैं कि सूर्य या चन्द्र-मण्डलो से बच्चे पैदा नहीं हो सकते। अतः सूर्यवंशी, चन्द्रवंशी आदि होने के गौरव के ढोल में पौन है। वास्तव में वनवानों ने अपने दाह-वन से देस पर आक्रमण करके उसे जीत लिया था और पौराणिक द्राह्मणों ने जब-जब उन पर दया की तब-तब उन विजेताओं को सूर्य अथवा चन्द्रमा से जोड़कर उन्हें क्षत्रिय बना-बना डाला। दूण, शक, विष्णु, कनिष्क आदि कितने ही अनाथ क्षत्रिय बन गए।

“चोड़ें राजा क्षत्रिय थे। उनके माय रेड्डी राजाओं को किस प्रकार जोड़ा जा सकता है? ऐसी गका कुट्ट लोगों के दिनों में उठ सकती है। किन्तु चोड़ें चिरकाल से अपने को क्षत्रिय मानने और शात्र-वृत्ति निवाहने

१. 'भोमेश्वर-पुराणम्', तृतीय अध्याय, शृष्ठ ४१।

नहीं, बल्कि 'विप्र' शब्द प्रयुक्त हुआ है। वेदपाठी विद्वानों को ही विप्र कहते हैं। दूसरी बात यह कि जिस स्थान पर बया हुआ करती थी, वहाँ पर बया सुनने के लिए लोगों की भीड़ इकट्ठी हो जाती थी। तीसरे यह कि राजकुमार को भी उम्मी सार्वजनिक कथा के सुनने का उपदेश दिया गया था।

इन्हीं विशेषताओं के कारण ब्राह्मणों ने उन दिनों राजाओं के दीवान, सेनानी, विद्यागुरु और पुरोहित बनकर अपनी उच्च पदवी स्थायी कर ली थी। रेड्डी-इतिहास में ब्राह्मणों के प्रति भक्ति एक अपूर्व और विचित्र घटना है। ऐसी कि जैसी 'न भूतो न भविष्यति'। ब्राह्मणों के प्रति ऐसी भक्ति न तो रेड्डियों में पहले बनी थी और न बाद में ही कभी हो सकी। रेड्डियों का राज्याधिकार प्राप्त होने के बाद ब्राह्मणों की स्थिति किस प्रकार परिवर्तित हुई, इसका वर्णन स्वयं श्रीनाथ की कविताओं में मिलता है :

डार्यों के छल्ले ही जिनमें पड़ते थे सदा  
 भाणिक के छंगने उन उंगलियों ने पहने हैं !  
 गंगवट का लेप ही सदा था जिन भायों पर  
 तिलक, कस्तूरी के उन पर, क्या कहने हैं !  
 मृत का अनेक ही रहा है जिन बर्षों पर  
 उन्हीं पर मोतियों के हार भूमने लगे ।  
 जिन छोटियों में सात कमल ही खुसते थे  
 उन्हीं छोटियों की स्वर्णफूल धूमने लगे ।  
 राज्य में वेम भूप-सोदर धीरभद्र जी के  
 गोदावरी तट के ब्राह्मण बदल गये !<sup>१</sup>

श्री वेदूरि प्रभाकर चाम्ब्री भी अपने 'शृंगार श्रीनाथ' में स्वीकार करते हैं कि घण्टार आदि नू-शामदानों में ब्राह्मणों का विपुल भत्तार दिया जाता था।

१. 'भीमेश्वर-पुराणम्', अध्याय १, पृष्ठ ४१।

रेड्डी राजाओं के अन्दर जो श्रद्धा-भक्ति ब्राह्मणों के प्रति थी, उसकी उपमा भारतीय इतिहास में कहीं और उपलब्ध हो सकेगी, इसमें भारी सन्देह है। वरंगल के राजाओं ने जो भी दान-धर्म किये, वे तो बाद में मुसलमानों के हाथ लगे। रेड्डी राजाओं ने जिन-जिन प्रांतों को पुनः प्राप्त किया था, उनमें पुराने राजाओं के दान-पत्रों की मर्यादा रखते हुए उन सबको फिर से चालू कर दिया था। खुद रेड्डी राजाओं ने भी ब्राह्मणों को अमाप क्षेत्र और अनगिन गांव दान में दिये। जो गांव ब्राह्मणों को दान के रूप में दिये जाते थे, उन्हें अग्रहार कहा जाता था। दक्षिण भारत में, और विशेषकर आंध्र के अन्दर ऐसे अग्रहार अकसर पाये जाते हैं। इतिहासकारों का मत है कि रेड्डी राजाओं की दान-प्रवृत्ति और उनके उदार दानों से आकृष्ट होकर कितनी ही ब्राह्मण-मण्डिनियाँ दूर-दूर से आ-आकर कृष्णा-गोदावरी के दोआबों में बसने लगी थीं। आंध्र देश के एक प्रामाणिक तथा सम्माननीय कवि एरा प्रगडा हैं, जो 'प्रबन्ध परमेश्वर' के नाम में याद किये जाते हैं, और जिन्हें यह मालूम ही नहीं था कि मुख्य-स्तुति क्या चीज होती है। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'उत्तर हरिवंश' में लिखा है :

“विद्यावृद्ध तपोवृद्ध विप्रों को  
 दे-देकर अग्रहार,  
 सोंपे उन्हें पत्तों के कार-बार;  
 मनोहारो मन्दिर बनवाये,  
 खुदवाये सर,  
 सत्र, धर्मशास्त्राएँ, यात्रीघर,  
 प्याऊ, फल-ध्याया-चन-  
 उपवन लगवाये और  
 निधिपों की स्थापना की ठौर-ठौर;  
 हेमाद्रि-परिकीर्तित अमित दान  
 किये हैं, करते हैं, करेंगे भी



भरे हैं, भरते हैं, भरेंगे भी  
शुभ कर्मों के अक्षय भांडागार —

इस उदार

'पुनरुत्त-कृत' थी

द्वैत-विभु के भाग्य-वैभव की

महिमा को कौन गा सकेगा रे ?”

वैसे ही वेण्णकटि गूर कवि ने भी कहा है

“जीवन भूसुरों को

विरुद पंटकुल-नृपतिपों को

अपना विश्राम प्रजाजन को,

पों सब-कुछ अर्पित कर

अने वेमने-प्रभु ने

कीर्ति-स्वर सौपी

त्रिभुवन को !”

प्रब उन ब्राह्मणों को दगा क्या थी, वह भी देग स्वीजिए । कविवर  
गौरने ने एर पुरोहित ब्राह्मण का जुगुप्सा-जनक विष दग प्रकार  
सीचा है —

“रोगियों से वृद्ध नोच-गमोटर, मुग्धे दो-डोरे वृद्ध जुटाकर,  
बनाएँ टालने के अनुष्ठान करके, गणक आदों से 'तृप्ताम्न' होकर  
पानी जो भर गाकर, प्रहृण आदि पर्वों पर माटा (दमटो धेजा) दक्षिणा  
लेकर, घर-घर पत्रा पडकर, द्वार-द्वार 'वार' माँगकर, दान के दोनों को  
अगोच्छ के छोरों में गटिया बांधार और कोई हीला न मिले तो गले  
में भोली डाने गली-गली मुट्टी माँगकर, और इग प्रकार जुटाये धन  
को व्याज पर देकर, बागज लिप्पाकर, वृद्धि, चक्रवृद्धि, मासवृद्धि आदि  
व्याजों पर व्याज जोट-जोडगर पुरोहित अपना जीवन बिनाया  
करता है ।”<sup>१</sup>

१. 'हरिदचन्द्र', भाग २, पृष्ठ १४५-१४६ ।

गोरनों ने कर्ज लेने और कर्ज उड़ा देने के भी बड़े रोचक चित्र खींचे हैं—

“शनी महाजनो के घर जाकर, मीठी-मीठी बातें बनाकर, विश्वास बिठाकर, मन पत्राकर, नक्ली जेवर, लाखभरे गहने, नक्ली सोना, पीतल-लोहे पर मुलाम्मे का माल, नक्ली जवाहर लेकर, रात के नमय चोरी-चुपके पहुँचकर, ‘यह गत ली’ बटकर, उन पर लाख मुहर कराके, वस्त्राओं को भाँडे पर बिठाकर, इस प्रकार कर्ज लेकर, उड़ा देकर, चरे जाकर, दरवार में घसीटे जाकर, दण्ड पाकर, पत्थर ढोकर, मार खाकर, (किसी भी तरह) लोंगो को हरना चाहिए, यही उनको मान्यता है।”

रेड्डी राजाओं ने आध्र में अनेक शिवामय वनवाये और प्राचीन मन्दिरों के नाम दान-पत्र अर्पित किये। आध्र ही नहीं, दक्षिण में द्राविड देश के मन्दिरों को और उत्तर भारत के मन्दिरों को भी दान-धर्म दिये।

रेड्डीराज ने लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व हेमाद्रि नामक एक विद्वान् ने ‘आचार-व्यवहार’ के सम्बन्ध में एक विशाल शास्त्र की रचना की थी। काफी दिन तक उसका प्रचार रहा। रेड्डीकार्त्तन प्रामाणिक कविमो ने लिखा है कि हेमाद्रि के उम शास्त्र का अनुकरण करने हुए रेड्डी राजा षोडश-दान आदि देने थे। किन्तु वह दान कोई ऐसी-वैसी भीरा नहीं थी। सरस्रम लुटाकर दीवानिया बना डालने वाले होने थे ये दान नौ। गोदान, भूदान, हिरण्य दान और अग्रहार दान के नाम पर धन-दौलत के साथ गाँव-के-गाँव दान में दे दिए जाने थे। मतलब यह कि वे अपने जीवन में ही अपनी जायदादों की हिस्सा-बाँट कर डाला करने थे। इतना भारी प्रभाव था हेमाद्रि का।

आध्र में समस्त धर्मशास्त्रों में सर्वाधिक प्रचार ‘याज्ञवल्क्य स्मृति’ का था। रेड्डी राजाओं को अपने से दो सौ वर्ष पूर्व के विज्ञानेश्वरी की व्याख्या ही अधिक मान्य थी। इसीलिए तत्कालीन कवि केतन ने उमे नेनुगू गद्य में लिखा था।

१. ‘हरिदचन्द्र’, उत्तर भाग, पृष्ठ १५१, ५२।

### खेती तथा प्रजा की परिस्थिति

जान पड़ता है कि रेड्डी-युग में मारा आंध्र 'नाडुओं' अथवा 'सीमों' के नाम से अनेक प्रान्तों में बँटा हुआ था। पर यह कोई नया बँटवारा नहीं था। आंध्र में चिरराल से यह प्रथा खती आई है। राज महेंद्री से ग्यारह मील की दूरी पर 'कोम्पोंड' स्थान पर 'मुम्मडि नायक' का वासन था। उसने अपने इलाके को जिन गीमाओं में बाँट रखा था, उनके नाम थे—कोन सीमों, अगार सीमों, वीठाम गीमों, कुम्पाट गीमों, चगल नाडु सीमों आदि। ये गीमों गौनमी (गोदावरी) नदी के दोनों ओर फैले हुए थे। 'आर्यवट' के शिलालेख में उल्लेख है कि "केला, नारियल, पटहल, मुपारी, आम इत्यादि के बाग-बगीचों से भरा हुआ यह इलाका अत्यन्त समशील है तथा आंध्र देश की नीति का वादण बना हुआ है।"<sup>१</sup> इसी "श्री गौन पर्वत के पूर्वी भाग में लेकर सीधे गमुद्र-वट तक 'गुण्डला कम्मा नदी' के तटवर्ती प्रान्त को 'गु गीनाडु' कहा जाता था।"<sup>२</sup>

ऐसे सीमों अथवा प्रान्त आंध्र में अगणित नम्बर में विद्यमान थे। किन्तु रेड्डी राजाओं ने वासन की सुविधा की दृष्टि से अपने राज्य को जिन विभागों में बाँट रखा था उनके नाम ये हैं—कोट्टेवीडु, विन्दु-कोट्टे, बेन्धम कोट्टे, अहकी, उदयगिरि, कोट्टे, नेन्नूर, माग्नेन्ने, गंदु-कूरु, पोदिनी, अम्भन धोत, चु डो, दूपाडु, धोर नागाजुन कोटा।<sup>३</sup>

पल्लवों तथा पाकतीयों ने देश के जंगलों को कटवाकर नई बस्तियाँ बसाई थीं और नौतोड जमीनों को भेती के योग्य बनाकर उन्हें किसानों को सौंप रखा था। इससे विदित होता है कि ईसा से एक हजार वर्ष पूर्व कन्नूल, बल्लारी आदि प्रान्त जंगलों से भरे हुए थे। तत्कालीन शिवा-लेख में जान होता है कि राजा प्रताप रेड ने स्वयं कन्नूल प्रान्त में जाकर वर्तमान कन्नूल नगर से चारों ओर दग-गन्द्रह मील तक जंगल

१. 'आंध्र-सचरित्रमु', भाग ३, पृष्ठ १२२।

२. " " " ३, " १३८।

३. 'हिस्ट्री ऑफ द रेड्डी किङ्डम', पृष्ठ २१८।

कटवाकर बहुत सारे गाँव बसाये थे। हमारे अपने युग में नेलगाने के अन्दर कुल भी साल पहले तक भी जंगल कटवाकर गाँव बसाये जाने रहे हैं। फिर उन दिनों अगर जंगल काटकर बस्नियाँ बसाई गई हो तो हमसे आश्चर्य की क्या बात है ?

आज की तरह उस समय जमीनों का किमानों के नाम पट्टा नहीं होता था। सारी जमीन राजा की मानी जाती थी। जमीनों माल-ब-माल अथवा नियमित समय के लिए जोत पर दी जाती थी। अपने-अपने बैलों की सख्या के हिसाब में सब किमान साभे में काशन करने थे। गाँव के बारहो पौलियो वामशरो को फसल पर नियमित मात्रा में अनाज दे दिया जाता था। फिर राज्य का छेठा भाग अलग करके दोष नाज को जोत और बैलों के हिसाब में काशनकार आपस में बाँट लिया करते थे। इस प्रकार उस समय मानो सामूहिक किमानो चला करती थी। किन्तु इस सामूहिक सेती का नियम ब्राह्मणों के अग्रहारों पर लागू नहीं था। भद्र (अगला या पहला) हार (भूमि, हिस्सा) अलग करने के बाद ही बाकी जमीनें किमानों को जोत पर दी जाती थी।

सेती की जमीनों को नापने के लिए त्रिभुज नाप का एक इण्डा होता था। उसे गडी (गडा = बौम) कहा जाता था। 'बिंजर पाटी-गडा' प्रसिद्ध था। जमीन की पैमायण के लिए शास्त्रों की भी रचना हुई थी। नन्दा भट्ट, के समयवालीन उवि मल्लने ने 'गणित शास्त्र' लिखा था, जो आज भी अग्रजागित ही है। कहते हैं कि तत्कालीन सेती तथा जमीन की पैमायण आदि विषयों की आलोचना-विवेचना उस ग्रन्थ में काफी विस्तार के साथ की गई है। कई ने संस्कृत 'गणित शास्त्र' को नेलुगु में अनुवादित किया। 'क्षेत्र गणित' के नाम में ताड़ के पत्तों पर सेतों के नसों के साथ बड़े-बड़े ग्रन्थ लिगे गए थे। वाक्तीय कालीन क्षेत्र गणित के आधार पर मल्लनपल्ली मोमशेखर शर्मा ने जो बहुत सारे तथ्य उद्धृत किये हैं, उन्हीं उद्धरणों के अनुसार प्राग के माप भी दिये जा रहे हैं—

“तीन जो मिलाकर अंगुष्ठ  
मध्यांगुल का मध्यप्रदेश  
बित्ते में बारह अंगुष्ठ  
घ्राकनिष्टिका करतल-देश  
एक गड्डे बित्ते बत्तोस  
बांस सेती का माप-नवीस”

उस समय सेतो को तूम (कुहू) भर की जमीन, खंडी भर की जमीन आदि कहा करनं थे । घ्राज भी तेलगाने के अन्दर इसी तरह बोला जाता है । रायन गीमों में भी हाल तक यह अभिव्यक्ति प्रचलित थी । मतलब यह कि उस जमीन में कुहू भर या खंडी भर बीज की बुवाई हो सकती है । अनाज के नाप के सम्बन्ध में यह है ।

“चौदह ‘परके’ का ‘सेता’  
अथवा पीने दो ‘सेता’  
दो ‘सेने’ का एक ‘तीघा’  
उसके दूने का ‘माना’  
उसके दूने का ‘अट्टा’  
सपाद छप्पन पाटी’ का  
होता है भैया ‘इयमा’  
एक ‘तूम’ जिसका दूना  
और एक ‘कुंघा’ आधा ।”<sup>१</sup>

सेतो के माप में ‘नियतनम’ अथवा ‘मन्तु’ का प्रयोग किया गया है । और इस सम्बन्ध में जो माप दिये गए हैं वे यह हैं ।

१० हाथ = १ दण्ड (बांग)

१० दण्ड = १ नियतन

१० नियतन = १ गौवर<sup>२</sup>

१. ‘हिस्ट्री ऑफ द रेड्डी बिड्डम्स’, पृष्ठ ३६५ ।

२. वही, पृष्ठ ३६७ ।

इनके अनिश्चित रेड्डी युग में कुछ अन्य माप भी चालू थे :

४ हाथ = १ वार (वांट)

४ वार = १ वांस

४०० वांस = १ कुंटा

१०० कुंटा = १ कुच्चल, खडिक अथवा तूपा ।

सोने-चाँदी की धानुओं को 'माडा' से तोला जाता था । शब्द 'रत्नाकर' में 'माडा' का शब्दार्थ है 'अरवरहा' अर्थात् 'माधा वरहा' । माडा सोने का एक छोटा-सा सिक्का था । कोटावीरु राजाओं के समय कानीन कवि चोरत्रि गोपराजु ने कहा है :

“एक 'कयं' में 'माडे' चार

चार 'कयं' का एक 'पलम्'

सौ 'पलमों' का 'तोला' धार

जिसका बीस गुना मिति-भार ।”

उस समय के सिक्कों की चर्चा तत्कालीन वाक्यों में प्रायः मिलती है, विशेषकर 'सिंहासन द्वात्रिंशिक' में । उसमें 'रूक',<sup>२</sup> पमिट्टि-टक्कमु,<sup>३</sup> मिष्कमु,<sup>४</sup> गद्दे<sup>५</sup> अथवा गद्याणि के उल्लेख आये हैं । 'गद्याणि' को 'वरहा' के बराबर माना गया है ।<sup>६</sup> एक जगह एक कथा आती है कि किसी राजा ने एक मंत्र को कही काम पर भेजा और मात्र दिनों के खर्च के लिए उसे मात्र 'माडे' दिये ।<sup>७</sup> मतलब यह कि माधारणतया मन्त्रवाहक को एक 'माडा' रोज मजदूरी मिलाने की थी ।

१. 'सिंहासन द्वात्रिंशिक' भाग २, पृष्ठ ३१ ।

२. " " " २, " ८६ ।

३. " " " २, " ६६ ।

४. " " " २, " ६६ ।

५. " " " १, " २८ ।

६. " " " १, " १०२ ।

७. " " " भाग १, पृष्ठ ६४ ।

तेलगाने के अन्दर तरी की काश्त (धान की पैदावार) ही प्रधान थी। आज भी यही बात है। इसीलिए प्राचीन काल में राजा-महाराजा, मन्त्री, सेनानी, धनी महाजन और प्रजा भी छोटे-बड़े तालाब या नहरें बनवाते आये हैं। तरी की काश्त के लिए पानी मॉट (पुर), तेंकुली तथा तालाबों की नहरों-नालियों से दिया जाता था

"कर्म भूमि है देश, कर्मपुत्र कात हमारा  
कैसे समझायें अन्नक की ? अृद्धि सहारा !  
अनावृष्टि हो, सूखा पड़े, अकाल पड़े तो  
पानी की यावतियाँ और कुएँ खुदवाओ !  
मोट-रहट से जलाशयों से पानी खींचो  
नहरों और नालियों से खेतों को खींचो  
कर्म करो हे, किये बिना कुछ हो न सकेगा !  
काटेगा वह राक, बीज जो खी न सकेगा ?" १

स्पष्ट है कि यह तेलगाने के अन्दर तरी यानी पान की सेना के सम्बन्ध में ही कहा गया है। पल्लवाडु की गीमा वर्तमान नलगोंडा जिले में मिननी-जुनगी थी। इस इलाके में नापैराह्लु (एक प्रकार की पथरीली जमीन) की बहुतायत है। 'प्रीतभिराममु' का कवि आदर्शपंचकित्त होकर कहना है

"न जाने धीगिरित्तिङ्ग च्चैन्न स्वामी की कंती महिमा है !  
गगन में फिरकर भावें मेघ कि बस लेती अंकुराती है !  
कि बस यह घटियल परती हरिपाली से भर-भर जाती है !  
कि बस लेती सहाराती अलिहानों में हुन बरसाती है ।  
कृपा थी च्चैन्न या थी शैलेश्वर की अगद नहीं होनी,  
धूँद की बाट जोहती लेती बँठी किरमत को रोती !  
कहाँ से मेघ उत्तरा के नभ में यों उमड़-धुमड़ आते ?

१. 'सिंहासनशास्त्रिका', भाग २, पृष्ठ ७ ।

उमड़ते भी तो बंवरसे जी के बूटे क्यों घोंकुराते ?

कहाँ से मुल्कीनाट्टु 'विषय' के सोये भाग जाग पाते ?"

मुल्कीनाट्टु या 'विषय' में वर्तमान कर्नूल, गुण्टूर, महबूब नगर और नलगोंडा के जिले शामिल हैं।

परन्तु पल्लनाडि की सीमा में काली मिट्टी का ही राज है। यहाँ पर ज्वार की वादन ही अधिक होती थी। लोग भी ज्वार ही अधिक खाते थे। कवि श्रीनाथ ने कहा है।

"पल्लनाडि की तमाम प्रजा के लिए,

ज्वार-ही-ज्वार एक चाहिए !

ज्वार की कान्नी, ज्वार की भम्बली,

ज्वार का दलिया, भात कि खिचड़ी,

घन्न है कोई तो घस ज्वार है !

ज्वार के बिना नहीं आधार है !

क्यों महीन चावल ?—अलग्न है, इसलिए बेकार है !"

"पल्लनाडि सीमा के अन्दर भला क्या है ?

छोटे-छोटे गाँव हैं,

छोटे-छोटे कंकर हैं, पत्थर हैं,

छोटी-छोटी देवियाँ हैं, देव हैं !

घड़ो-घड़ो चट्टानें और नदी-नाले हैं,

ज्वार का घोर बाजरे का भात है,

घोर हर कहीं फिरती साँप-बिच्छुओं की जमात है !"

"पल्लनाडि सीमा में रसिक-जन तो पग भी नहीं धरेगा,

क्योंकि वहाँ, सुन्दरी रम्भा-जंसी भी क्यों न हो कोई,

रई की पूनी ही कानेगी,

यमुघेन भी कोई क्यों न हो,

वहाँ तो खेत ही तो जोतेगा,



कुसुम-बाण भगवान् भी, हों मेहमान धर  
ज्वार-भात ही परोसा जायगा !”

यह हुआ रायल सीमा का बर्खान । अब हम यह देखें कि कृष्णा गोदावरी के मुहानों पानी नेल्लूर, विशाखपट्टण की टेण्टा जर्मनो में किमानो की क्या हालत थी ।

श्रीनाथ अधिकतर कृष्णा त्रिने के अन्दर ही रहे । इस कारण और राज-कवि होने के कारण वह सदा महीन चावल और भीति-भीति के अन्यान्य स्वादिष्ट भोजन ही पाने थे । एक बार जब वह पन्नाडि प्रांत में गये तो वहाँ ज्वार का भात न था मकाने के और गहरे कुँसों में पानी खींच न सकने के कारण बड़ी मुसीबत में फँस गये । आगिर पन्नाडि प्रांत की खरी-खरी गालियाँ मुनावर वहाँ में उल्टे पाँव लौट पड़े ।

श्रीनाथ मुद्द आंध्र थे । रायल सीमा का अधिकतर भाग तर्गाटर राज्य में शामिल था । ‘कन्नड-देवी’ को सम्बोधित करने हुए उन्होंने कहा था—“हे माता, कन्नड राज्यजयमी मैं श्रीनाथ हूँ । क्या तुम मुझ पर दया नहीं छाती ? स्वाद की इच्छा करना दोष मानकर मैंने मट्टा और भ्रम्वली पी डाली ।” इसके कहता है—“हे पुत्र मरोंज नेत्री, कभी तू भी गरम-गरम बच्चली भाजों के साथ ज्वार के बीर गले में उतारें, तभी तुम पता लगेगा ।”

श्रीनाथ कृष्णा गोदावरियों के मुहानों पर उग उगजाऊ इन्टा द्वीप-माला के गामी थे, जहाँ अनेक प्रकार के अर्द्ध-अर्द्ध चावल उगते थे । श्रीनाथ ने भिन्न-भिन्न धानों में से कुछ के नाम गिनाये हैं । जैसे, नदी-मातृकाय भाव, विश्वम्भरा भरित, कनममाली, मिरामुर्गे, वाट्टिर, पनर्गे, ह्यन प्रमुम्प बहुविधि श्रीहिभेदाः ।\*

गोदावरी के मुहाने की भूमि अनेक प्रकार के पत्तो और पत्तहरियों में समृद्ध थी । पूर्वी तट के धान्य यस्य सम्पत्ति के सम्बन्ध में एक पारवाण्य

१. ‘श्रीनाथुनि चादुपारनु’ ।

२. ‘हरिबिन्नासधु’, प्रथम अध्याय, पृष्ठ १७ ।

यात्री 'जोडनिन' ने, जिमने कि १३२३-३० में भारत का भ्रमण किया था, इन प्रकार लिखा है -

"तेलुगु देश का नरेश महात् प्रतापवान है। उसके राज्य में ज्वार, चावल, गन्ना, गहूँ, दाल और अन्य धान्य, तथा अण्डे, भेड़, बकरे, भैंस, दूध, दही, तरह-तरह के तेल तथा उत्तम फलों की इतनी इफ़रान है कि किसी दूसरी जगह से इनकी तुलना नहीं की जा सकती।"<sup>१</sup>

इसने स्पष्ट है कि उस समय तेलुगु देश मुल्की और सम्पन्न था। बल्लभापुर (जो सम्भवतः कृष्णा त्रिने में है) बेंले और अंगूर के लिए प्रसिद्ध था।<sup>२</sup>

जान पड़ता है कि रेड्डी-युग में आध्र की प्रजा अपने राजाओं से काफी मनुष्ट थी। यह बात न होती तो ओडियों, कर्णाटकों, मुसलमानों और पद्मनायकों के निरन्तर आक्रमणों के बीच आन्ध्र-प्रजा अपने राजाओं के विरुद्ध बनी की उठ खड़ी होती। राजाओं को अपनी प्रजा का पूरा समर्थन प्राप्त था। तभी वह ऐसे प्रबल शत्रुओं को सरलता से परास्त कर सकें थे। रेड्डी राजाओं ने अपनी प्रजा पर बनी कोई अन्यायपूर्ण कर नहीं लगाये। आन्ध्र-प्रजा कोई अकर्मण्य प्रजा भी नहीं थी, क्योंकि फौटें गीडि के अन्तिम राजा राचें नेममें ने जब प्रजा पर नये-नये उद्योदनकारी कर लगाये तो प्रजा ने विद्रोह कर दिया था। यह तो वहाँ की चन्द्र कविताओं में ही सिद्ध है। राजा ने एक नया कर लगाया, जिसे 'छट्टी (पुरिट्टी) कर' कहने थे। अर्थात् जब किसी के घर बच्चा हो जाता तब उसे राज्य को कर चुग्ना पड़ता था। एल्लुपा नामक एक निगापन ने कर देने के बजाय उल्टे उस राजा को ही मार डाला।

रेड्डी-राज्य का पतन मन् १४३४ ई० के लगभग हुआ। लगातार कोणिंगों के बाद घोड्डू (ओडिया) राजाओं ने धन में पूर्वी तट तथा

१. 'हिस्ट्री ऑफ रेड्डी विट्टम', पृष्ठ ३७३।
२. "बल्लभापुर प्रांत कदलि-वनानर द्राशातनाफलस्तबबमुल्लु !"  
धीनायुनि चाटुधार।

युद्ध के प्रान्त को अपने अधीन कर लिया। उड़िया राजाओं को आन्ध्र प्रजा से कोई प्रेम नहीं था। देश से सारा धन लूट ले जाना ही उनका एक-मात्र उद्देश्य था। कवियों का सत्कार अथवा कला-शोषण की भावना उनमें लेश-मात्र भी नहीं थी। अखिलान्ध्र परिपूज्य, कवि मार्क-भौम तथा आन्ध्र मार्कभौम के विरुद्धों के द्वारा सम्मानित धीनाथ का भी उन्होंने तरह-तरह के श्राप दिये। अनेक रेड्डी राजाओं के यहाँ राजस्व रहकर, अमीम धन कमाकर, राजाओं के समान ही दान-धर्म देकर, रेड्डीयों के बाद भी एक हजार मासिक पुस्तकार पाने वाले श्रीनाथ की धन में उड़िया राजाओं के समय थोड़ी-सी जमीन (७०० टक) टुके पर लेकर खेती करनी पड़ी। पैदावार न होने घोर बरन पृथा मकने के कारण अगमानीत होकर कविवर ने इस प्रकार विलाप किया था

“कवियों के महाराज सरे-बाजार लड़े हैं,  
धूप लड़ी सामने ! आन्ध्रनेयधकर्ता के  
जिन हाथों में वीरभद्र रेड्डी राजा ने  
कोत्ती घटाने नगरी के सिंहद्वार की  
कुछ ती फगल बहा ले गई उफनती कृष्णा,  
बोड्डपुल्लि की संजर परती के चुनाव में,  
महँ सात सौ टंक वहाँ से किस प्रकार में !  
करके 'वोगडवड'¹-धूप का कंटातिगन,  
हाथों में लीहे की हयकडियों का कंठन !  
भेंट धरी थी, 'वेदुड-मोडिण'² मुक्त वही हैं ।  
सार्कभौम कवि के कथों पर घट बँठी हैं !

१. (सात सौ टंक लगान न चुकाने पर बंडववहप कवि को सामने ले पड़ती लड़ी धूप में) 'वोगडवड' अर्थात् बंड के मुँटड़े में बांधकर लड़ा किया था ।

२. वीणा के पच्चड़ ।

मूँग तिलादिक बोज चुग गये चिड़ियों के दल !

घोखा-ही-घोखा खाया है मैंने केवल !”

उपर के पद्य में इन बात पर अचछा प्रकाश पड़ता है कि कर न भरने पर किसानों को कैसी-कैसी सजाएँ दी जाती थी। आरक्ष्य की बात तो यह है कि सन् १९०० तक भी हैदराबाद के इलाको में पटेल-पटवारी मरवारी खमों की बमूली में इन्ही तरीको से काम लिया करते थे। गाँव के बीच चौपाल होती थी। उसके अन्दर लकड़ी की हथकड़ियाँ लगी रहती थी, जिन्हें कोडा कहते थे। दोनों कलाइयों को उन काठ की हथकड़ियों में घुमेडकर उनके बीच पच्चड मार दिया जाता था। धूप में खड़ा करके या झुवावर पीठ पर एक मोल सिल चड़ा दिया जाता था। एव बड़ा टूँठ पड़ा रहता था, जिसकी जजोर से किसान के घर वाँप दिये जाते थे। ऐसी सभी क्रूर सजाएँ जाकीदार किसानों को दी जानी थी। ये सजाएँ उडिया राजाघों की देन थी, जिनका प्रचलन देस-भर में फँलवर जम गया था। इसका यह मतलब बदापि नहीं कि उडिया राजाघों ने ही ये सब सजाएँ लागू कर दी थी। हो सकता है, ये पहले में भी चालू रही हो, किन्तु तेलुगू-साहित्य के अन्दर ऐमे उदाहरण मिले ही पाये जाते हैं। फिर भी यह निश्चिन है कि जब तक श्रीकान्त की यह कविता रहेंगी तब तक ओट्ट राजाघों का यह अपयम मिट नहीं मकेगा।

अपराधियों को बठिन दण्ड दिया जाना था। एक बनिये द्वारा अपने अन्याय-व्यापार को मान लेने पर राजा ने कहा था :

“क्यों रे बनिये जब हम

नाराज न होकर घुपचाप

रहते हैं तब भी तू

मनमानी बरता रहता है।”

इसमें ऐमा प्रतीत होता है कि उडिया राजा आन्ध्र कवियों और कुलीनों को शान नहीं देने थे।

कवि, पेरि, पौत्रि, ये तीन वेश्याएँ थी, जिन्हें राजा धनापोनु राजु ने माफी में कुछ गाँव दिये थे। इन वेश्याओं ने उन ग्रामों में नानाव वनवाये। इसमें सिद्ध होता है राजा और धनी ही नहीं, बल्कि जन-साधारण भी जनोपयोगी कार्यों को बड़े प्रेम से करने-कराते थे। नेवगाने के अन्दर वेनमें राजाओं ने अनेक बड़ी-बड़ी नदी, बाँध, भीले (तटाक) बनवाई थीं, जो आज भी उन्हीं व्यक्तियों के नाम से प्रसिद्ध हैं और जो तरी की काश्त के लिए प्रधान साधार धनी हुई हैं। इसी प्रकार मापव नापुडू, सिगमें नापुडू आदि ने अपने नामों पर नगर बसाये, जो आज भी उन्हीं नामों से चले रहे हैं।

सामूहिक दृष्टि में यह कहा जा सकता है कि सन् १३०० से १४०० ई० तक आन्ध्र देश की दशा अच्छी थी। प्रजा मुर्खी थी।

### व्यापार तथा व्यवसाय

समुद्री व्यापार से आन्ध्रों का सम्बन्ध प्राचीन काल से ही रहा है। कृष्णा, गोदावरी तथा विशाखपट्टण (बंजाम) के समुद्र-तट पर होने के कारण वहाँ के निवासियों के लिए समुद्री-व्यापार की सुविधाएँ प्रचुर थी। उनका व्यापार विशेषकर बर्मा, मलाया, इण्डोनेशिया, चीन तथा श्रीलंका के साथ अधिक चलता था। इसी प्रकार फारस, अरब आदि देशों से भी आन्ध्र के बन्दरगाहों पर भाँति-भाँति का मान उतरता था। जिग प्रकार स्थल-मार्गों पर ठाकुरों, लुटेरों का भय था, उसी प्रकार जल-मार्गों पर भी उनका डर लगा रहता था। शायद उन्हें भी कुछ जालने की कोशिश करने थे। बाकतीय सामक गणपति चक्रवर्ती ने पहले और बाकतीय राज्य के पतन के उपरान्त मुगलमनो की अधीनता में देश के घने जाने के बाद भी आन्ध्र का समुद्री-व्यापार लगभग बन्द-सा रहा। ऐसे समय में भी चेम्पारेडु के भाई दूरमेनानी मल्लारेडु ने मोंटुपल्ली बन्दर को अपने अधीन रखा।

मोंटुपल्ली का दूसरा नाम मुसुलपुर था।

जब आन्ध्रों ने समुद्री-व्यापार में इतनी उन्नति कर ली थी, तब तो तन्मन्वन्तों सांकेतिक शब्द आन्ध्र साहित्य के अन्दर निश्चय ही पाये जाने चाहिए। किन्तु ऐसे शब्दों का समावेश नेलुगू साहित्य में नहीं हुआ। यदि कुछ शब्द आ भी गये हों तो भी लोग उनका अन्वय नहीं कर सके। श्रीनाथ ने 'हरिविनाम' में द्विविध नौकाओं के कुछ नाम गिनाये हैं। इस दृष्टि में उनका यह पद्य बहुत महत्व रखता है :

“कप्पलि, सम्मन, जोकु, वल्लि मे जलपानों पर  
तरणासिरी, तवाई, गोवा रमणा मे भर  
भांति-भांति के गघ-द्वय : कम्पूरी, केसर  
चन्दन, चन्द्र-रूपूर, अगार, कु कुम हिमशंकर,  
लाद-लाद लाया करते हैं, वंश्य कुलोत्तम  
अवचि-तिप्प, महिमा में जो कि स्वयं अपने सम ।”<sup>१</sup>

उक्त पद्य में कप्पलि, सम्मन, जोकु, वल्लि आदि शब्द जलपानों के लिए आये हैं। नमिल शब्द 'कप्पल' की जगह 'कप्पलि' आया है। 'जोकु' शब्द जहाज को कहने से। अनुमान है कि आजकल के अंग्रेजों शब्द जहाज का प्राचीन रूप यही है। 'सम्मन' शब्द मलय द्वीपों में प्रचलित था।<sup>२</sup>

समुद्री व्यापार से रेड्डी राजाओं को अपरिचित आय होती थी। देश-व्यापी अराजकता के कारण बन्दे पड़े मोट्टुपल्ली बन्दरगाह को रेड्डी-राजाओं ने देश में शान्ति स्थापित करके फिर से चालू किया और जन-धन-भागों को व्यापार के लिए सुरक्षित कर दिया। उन्होंने कुछ माल पर तो चुंगी कम कर दी और कुछ की चुंगी माफ़ ही कर डाली। सब की जानकारी के लिए चुंगी की दरें गिलालेम्बों के रूप में विज्ञापित कर दी गईं। ये गिलालेम्बे मोट्टुपल्ली में आज भी मौजूद हैं। इस लेख में उन समय की भाषा के रूप तथा व्यापार के व्यौरों, दोनों का ही

१. 'हरिविनामनु कृत्वाडुनु'। (तरणासिरी आदि का निरूपण अगले लेख में अनुच्छेद में है। सम्पा० हिन्दी सं० १।)

२. 'हिस्ट्री ऑफ़ रेड्डी किङ्डम', पृष्ठ ४०५-६।

पता चपता है—

“स्वस्ति श्री शकवर्ष १२८० विलम्बी सवरमर थावरा शुद्ध ८ मंगलवार स्वस्ति श्रीमत् अनपोतय रेड्डी का मोटुपल्ली में आकर बमने वाले और मोटुपल्ली से द्वीपान्तरों को जाने वाले व्यापारियों का निगा हुआ धर्म-मानन इस प्रकार है :

इस मोटुपल्ली में जो भी व्यापारी बमने के लिए आयेंगे, उनका हम पूरा सम्मान करेंगे और उन्हें अच्छा पुरस्कार देंगे । उन्हें जमीन के साथ रहने की जगह भी देंगे । जब वे यहाँ में जाना चाहेंगे, तब हम उन पर कोई रोक नहीं लगायेंगे और उन्हें सम्मान के साथ पहुँचा देंगे । वे मान कही से भी लायें, पूरी स्वतन्त्रता के साथ जहाँ चाहे बेच सकेंगे । सरीसृपों को भी यही आज्ञा दी रहेगी । चुर्गी के बदले में मान नहीं रोका जायगा । चीरानु, गडमु, पबडमु पट्टी व्यवहार के लिए मोने पर चुर्गी बन्द करके अप्रतिवा तथा मुकादाय (कर) को हमने बन्द कर दिया । चन्दन पर ‘बन्दी मुक्कु’ पुरानी परिपाटी के साथ एक ‘मूटा’ बन्द करते हैं । इस मान पर म्यल-कर पुरानी परिपाटी के अनुसार लिया करेंगे । इन नियमों को सभी लोग मान्यता देंगे । हमने आपको अपना अभय-हस्त दिया ।”

अर्थात् इस समय के द्वारा एतान किया गया है कि मोटुपल्ली को जो भी व्यापारी आयें उन्हें सम्मान के साथ ठहराया और उनके ऊपर किसी प्रकार की रोक-टोक न होगी । जो भी मान वे जहाँ में भी चाहे आज्ञादी में ले या सकेंगे और जहाँ चाहे बेच सकेंगे तथा कर के बदले में मान को रोकना नहीं जायगा ।

राजा कुमारगिरि रेड्डी के राज्य में एक करोड़पति मेठ अर्थात् निष्प था, जो बड़े ही उदार स्वभाव का और धर्मानु भक्त पुण्य था । इसे राजा का ‘मुग्ध भाडगारी’ भी बताया है । यह मेठ इस भाँति का भी व्यापार करता था । श्रीनाथ ने अपने ‘हरिविभाग’ में इस निष्प मेठ की धन-महिमा बहुत-बहुत गाई है । यह मेठ विन्-विन् देशों में

चीन-चीन माल मंगवाया करता था उस पर श्रीनाथ ने इस प्रकार निरा है -

लाये घनसार के वृक्ष पंजार से  
 और जलजोगि से कनक-शंकर  
 मिहलद्वीप से गंध-सिद्धर श्री  
 तुरग हूरमुञ्ज से चंचल धुर  
 गोव से शुद्ध संकुमर द्रव लाये,  
 मापक से मुक्ताफल की रास लाये  
 भोट से कोश कस्तूरिका के,  
 और चीन से चीनांगुक्वाम लाये  
 जगद्-नोपाल राय वेश्या-भुजंग श्री  
 जाए श्री देव श्री चाधु-मेट्टी  
 पल्लवादित्य श्री भूदान परधुराम,  
 कोमर गिरि देवेन्द्र जगत-सेट्टी

इस पद्य में गोव (गोवा), महावीत (चीन), मिहलद्वीप (श्रीलंका), और हूरमुञ्ज (फारस के शहर हेरमुज) की तो हम जानते हैं, शेष स्थानों का निरूपण रेड्डी राज्यों के इतिहास<sup>२</sup> में इस प्रकार बताया गया है -

“पंजार—मुमात्रा का शहर पनसार ।

जलजोगि—मलाया का एक शहर ।

घांप या घांपक—धीलंका का शहर जाफना ।

भोट—भूटान ।”<sup>३</sup>

अथर्वि निम्न त्रिन ‘तदणसीरि, तवाई, गोवा, रमणा’ आदि स्थानों में ‘भांति-भांति के गन्ध द्रव्य’ लाद-नाद लाया था, उनका निरूपण

१. ‘हरमितातयु’—कृत्यादि पद्य ।

२. यैसे. भोट या भोट देश तिब्बत की भी कहते हैं ।—संवाद हि० सं० ।

३. ‘हिस्ट्री ऑफ द रेड्डी विडडमस’, पृष्ठ ४०६-४१२ ।



श्री मल्लमपल्ली (अर्थात् श्री म० मोमेश्वर शर्मा—सम्पा० हिन्दी स०) ने इस प्रकार किया है :

“तक्षणासीरि—मलाया द्वीप समूह का टेनासरीरि ।

तवाई—मलाया का ही तवाय ।

रमणा—पेरू देश का रमण ।”

व्यापार करने वालों में बलिज और कोमटी जातियों के लोग ही प्रमुख थे । पहले बलिजों को ही मेट्टी (सिठ) की पदवी थी । बाद में कोमटी लोगों ने भी उन्हींके समान विशेषकर व्यापार-कृति ही अपना ली और इस कारण उनके मेट्टी के आस्पद को भी अपना लिया ।

यह वस्त्रों में सप्ताह में एक दिन बाजार भरता था । कुछ बाजारों में विशेष वस्तुओं का ही व्यापार हुआ करता था ।

“ तेल की मंडी के बीच यह

घायल की गठरी सिर लादे पधारे,

एक मुनी न किसी ने,

यह 'तेल में तंबुल बदलो', पुकार के हारे !”<sup>१</sup>

इसमें प्रतीत होता है कि तेल के समान अन्य वस्तुओं के लिए भी अलग-अलग हाटें लगती थी । वही-वही यह भी पता चलता है कि प्रनाज देवर उसके बदले में जो चीज चाहे, ले सक्ते थे । “सातमनिका घायल के बदले एक मजिका तेल, इस पुर का धारण है ।”<sup>२</sup> (यही ‘धारण’ शब्द आज का हिन्दी शब्द ‘दर’ बन गया होगा ।) यह भी जान पड़ता है कि पुर अर्थात् शहर के व्यापारी वस्तुओं का मुख्य निर्धारित करते थे ।

ग्रान्थ देश वारिक मूर्ता बगरे के लिए प्रविद्ध था । इमें देवी के राज्य-वाल में जो पादचार्य यात्री भारत पाये थे, उन्होंने स्वयं लिखा है कि ग्रान्थ की वारिक मलमल मतराजाओं के ही पढ़ने योग्य होती है ।

१. ‘केमूरवाहु-चरित्र’, अ० २, पृ० ६ ।

२. वही, अ० २, पृष्ठ १० ।

ग्रान्प्र-भर में मूती बपडे के व्यापार की ही अग्रस्थान प्राप्त था । घर-घर चरखा चबना था—“कड़ह (सकुआ) चले और कध्वम (मयानी) नाचे तो दरिद्रता कभी न आवे” यह एक तेलुगू कहावत थी । कहा जा सकता है कि शूद्रों के घरों में प्रत्येक स्त्री चरखा चलाया करती थी । गरीब लोग अपनी जम्हरत-भर के लिए रमकर बाकी मूत बाजार में बेच दिया करते थे । उनी मूत में बपडे तैयार होने और पूरव-पच्छिम के देश-देशान्तरो में भेजे जाने थे । पन्नाडि-मीर्म के सम्बन्ध में श्रीनाथ ने लिखा था कि :

“रूपसी रम्भा भले क्यों न हो  
कोई हई की पूनी ही कातेगो ।”

इसमें प्रतीत होता है कि पन्नाडि में जाति-भेद निर्विरोध मभी निर्या चरखा बना करती थी ।

मूती बपडों के अनिरीक्त रोगों माल का प्रचलन भी सूत्र था । रोग के अनेक भेद थे “चन्दन-कावु, पट्टेडुकावु, चेंगावु, कदंबकावु, करकचु, बोम्मंचु, मुद्दुगु बोम्मंचु, मुय्यंचु, विसुकें, चाल्लु, वेटचाल्लु, निडुवग्ने, उस्तदारतपन्ने, गंडक्चिन्ने, पुष्पोडिचन्ने, रद्राक्षचन्ने, नागाबन्धम्, पूजा-बन्धम्, जलपंजरम्, कामवरम्, मूरवरम्, तारामण्डल, हंसावली, हरिणा-वनी, तुरगावली, गजावली, सिहावली, श्रौपदी स्वयंबर, लक्ष्मीविलास, मदनविधान, दलन्तविलास, रत्नकीर्तितम्, रायभृङ्गार, कनकदण्डे, गञ्चितम्, कर्पूरगन्धो, पारुचंपुगन्धो, श्योतोपु, श्रीरामतोपु, श्रीकृष्ण विनाम, श्रीदुनु, मुगिपट्टम, सन्नंवलियम्, बेतिपट्टु, होम्बट्टु, पुलिगोरु पट्टु, उदयराग-पट्टु, नेग्रपट्टु, धर्यपट्टु आदि अनेक नामों के मूती रोगों और मिलावटी बपडे” उन समय दृष्टा करते थे । गौरवें कवि ने ‘नवनाथचरित्र’ (पृष्ठ ४) में कहा है :

त्रिगि त्रिगि घाँ घाँ करने वाले चीनाम्बर !”

(जगमगाने चीनामुक दा चीनी रोगम ।)

१. ‘महासतसदात्रिगि’, भाग १, पृष्ठ ७४ ।

अभी गिनारों में मूली व रेसमी दोनों ही प्रकार के सम्मिलित हैं। तेलुगू में 'अचु' शब्द का अर्थ है विनारों या धोती, साडी आदि जिन मूली कपड़ों पर जो रेसमी अथवा सूती रंग-बिरंगी चित्र-विचित्र किनारियाँ बुनी जाती थीं, उन कपड़ों के साथ ऊपर 'अचु' शब्द जुड़ा हुआ है। इसी प्रकार 'पट्टु' रेशम को कहते हैं। 'पट्टु' शब्द से जुड़े नामों वाले सभी कपड़े रेसमी हैं। 'वन्ने' रंग कहते हैं। 'वन्ने' शब्द से युक्त नाम रंगों के भेदों को बतलाने हैं। द्रौपदी-स्वयंवर, रामविनास, कृष्णविनास आदि पता नहीं किन कपड़ों को कहते थे। पल्लवियों पर बेल-बूटे तथा चित्र होने थे। बुनाई की छपाई दोनों तरह के काम उन पर हुआ करते थे। कामचरम और वरम, ये दो नाम गाँवों के हैं। जान पड़ता है ये दोनों स्थान पर प्रसिद्ध थे।

जब इतने मारे नाम धातुना के ही गिनारों में हैं, तब स्पष्ट है कि उन दिनों रंग और रंगाई का रोजगार जोरों पर था। 'बेगावि' कदाचित् हरकें रंग को कहते थे। करकचु को (मू० रा० निवट्टु) बोग में हरकें रंग का रंग कहा है। 'करका' रंग को कहते हैं। बोम्मचु ताल पल्लु वानी उजनी माडी का नाम था। बिलुना तालों को कहते हैं। अर्चानु हरकें कपड़ा या रंग धातुना। उठना अथवा उठुना गिनट्टी को कहते हैं। उमरी धारियों की तरह कपड़े का रंग धारीदार होना होगा। 'दशभा' रंग अथवा भी चायू है। नील का उद्योग बहुत प्राचीन है। नीला रंग सभी रंगों में चंडिया होता था। नील का इतिहास नाम पड़ने का यही कारण है कि यह रंग पहले-पहले हिन्दुस्तान में ही नैवार हुआ था। मजीठ, ताप और हल्दी से भिन्न-भिन्न रंग बनाये जाते थे। नील-पट्टु का मतलब यह है कि रेशम को नील में रंगा जाता था। होमाट्टु का मतलब है रेशम के कपड़ों पर जरी का काम। बाद में रंग बनाने का रंग का काम करने वालों की एक धनग रंगरेज जाति ही बन गई थी। 'दट्टी' एक शब्द है, जिससे मति है पट्टा के। अर्चानु कम्मर-गट्टा या पेटी।

आवकम माही-घोनी को भी दट्टी कहते हैं। किन्तु उन दिनों दट्टी उन जिने-भर चौड़े पट्टे का नाम था, जिम पर जरी का काम रखा करता था, और जिने सैनिक ज़ायिने के ऊपर कमर-बन्द के तौर पर बंध लिया करते थे।<sup>१</sup>

विदेगों में आने वाले मान का उल्लेख पहने ही हो चुका है। बाहर में आने वाली अन्ध बस्तुओं का व्यौरा भी मुन लीजिए। कुमार गिरि रेड्डी को 'बमंतराध' की पदवी मिली थी। हानाकि यह पदवी उमके पद्वे में ही चली आ रही थी, पर उमके लिए तो यही प्रधान पदवी बन गई। विशेषकर कुमार रेड्डी के लिए ही इन पदवी का प्रयोग किया गया है। वह हर नाम 'बमनेत्तव' बनाया करता था। उम उमव के अवसर पर बाजारों में कपूर विद्या दिया जाता था। इनोमें उने 'कर्पूर वनत गध' की पदवी मिली। इन समारोह के लिए आवश्यक मुगधिन सामग्री जावा, मुमात्रा आदि पूर्वी द्वीपों में मंगवाई जाती थी तथा उने राज-बाजारों में भरकर रखने के लिए विशेष अधिकारी नियुक्त हुआ करते थे। उन 'मुगंधभाटागाराव्यशो' को 'अवचि मेट्टी' कहा जाता था। "महाराज कुमारगिरि वसंतोत्सव के लिए प्रति-मंवलर चीन, सिंहल, तवाइ (तवाँय), हुरमंजि (हुरमंज), जोरांगि प्रभृति नाना सुदूर द्वीपों, नगरों से कस्तूरी, जाकरान, संकुमद (जम्बायी), कपूर, हिमाम्बु, काना अगद, गंधमार (बन्दन) इत्यादि मुगंधिन सामग्री जहाजों में भर-भरकर भेजवाया करते थे।"<sup>२</sup> आज भी मसन्न मुगधिन-द्रव्य टण्डोनेगिया द्वीपों में ही आते हैं। उक्त दस्तुओं के अनिरिक्त हुरमु जी (फारम) में छोड़े और मिथल में हाथी आया करते थे। प्राचीन काल में घोड़ों के लिए फारम प्रसिद्ध था। मुन-निय मुक्तानों की फौजों में घोड़ों की मर्याद अधिक होती थी। उनलिए विद्वानगर के महाराजा और रेड्डी राजा घोड़ों पर बहुत ज्यादा धन खर्च किया करते थे। मोनी तो थोलेका में ही आता था और चीन में रेगम।

१. 'चतुर्दश धर्मन्त चित्रभारतमु', पृ० २, पृष्ठ ६६।

२. 'हरविनासमु', कृत्याडुनु।

रेड्डी राजाओं का मदा अपने अगल-बगल के राजाओं से तनाव रहता था। इसीलिए उन्होंने शस्त्रारथ भी खूब तैयार करवाये। मोहार ही शस्त्र बनाता था। भट्टी की आग से कई धातुएँ पिघलाकर उसमें हथियार तैयार करते थे। हथियारों में तलवार, छुरी, भाला, तीर, ईंटें ('फेंककर मारने का हथियार') आग है। पच-धातु से विजय-स्तम्भ और हथियार दोनों ही बनाये जाने थे। राज-सिंहासन की चौकियों में भी पच-धातु का उपयोग हुआ है।<sup>१</sup> आंध्र देश में कई स्थानों पर जमीन में कच्चा सोहा खोदकर उसमें पक्का मोहर तथा इस्पात तैयार किया जाता था। कविता की एक तुक है -

"वय्यदी<sup>२</sup> भट्टी में डाल सुहार

फौरन फौलादी चबरे-सा

पानी चढ़ा-चढ़ा करता तैयार !"<sup>३</sup>

नेलगाने के अन्दर निर्मल की बनी तलवारें दुनिया-भर में बहुत मशहूर थीं। यहाँ की तलवारें तथा यहाँ या इस्पात दमिस्क तक जाता था। दीर्घ-आग्ने आदि का काम भी यहाँ होता था। इसके लिए किंगी शुभ्र चमकीले पत्थर के बूरे का प्रयोग होता था।

इसका पता तो नहीं चलना कि काँच का काम कहीं-कहीं पर होता था, पर इतना स्पष्ट है कि वरगन शहर में घरघार युवतियाँ भी काँच की पट्टियों में चेहरा देखती थीं, (कीडाभिराममु)। अर्थात् दूगकी हनती इफरात थी रि धनी, दरिद्र सभी इसे खरीद सकते थे।

लिग्ने का काम विशेषकर ताड़ के पत्तों पर ही हुआ करता था। ताड़ के पत्ते पर लिग्ने की सोहे की बलम 'गटामु' बहनाती थी। यह

१. "पक्षतीह कल्पितं बगुनतनि फोलुषु चविके !"—'भोजराजोपमु', पृ० २, पृ० ११३।

२. 'वय्यंदी = सोहा पिघलाने की भट्टी।

३. 'सिंहासनशास्त्रिक', भाग १, पृष्ठ ७८।

गटामु भी अनेक प्रकार की बनती थी। 'गटामु' के दो छोर होते थे। एक छोर में लिखा जाता था और दूसरी छोर में ताड़ के पत्ते को छील-छानकर साफ़ किया जाता था। दुम वाले निरे पर पक्षी के पर की मुन्दर नक्काशी उतारी जाती थी। राजा-महाराजा, मन्त्री और धनी मशहूरन 'स्वर्ण गटामु' से लिखा करते थे।

“सोने की लेखनी से  
कार्य धेनु के समझ,  
रायस-प्रभु का मन्त्री वाचटु जब  
लिखने लगा, लेखनी के  
गनु गनु गल्लु गल्लु रब से  
शत्रुघों के, कटक मन्त्रियों के दित  
जनु जनु जल्लु जल्लु हो उठे,  
और सभी सत्कवि धन-धन्य-धन्य करते रहे।”<sup>१</sup>

ताड़ के पत्तों पर शीघ्र लिखना, मुन्दर लिखना, मोती की तरह प्रभर दिखाना आदि लेखन-कला के आवश्यक अंग थे। इसलिए उस समय लेखकों की निम्नार्थ बड़ी ही मुन्दर होती थी। उनमें भी राजा वाचटु के मन्त्री वाचटु की मुन्दर लिखावट तो अगु-प्रसिद्ध थी।

ताड़ के पत्तों का ही विशेष प्रयोग होता था। परन्तु समा यह मत उद नहीं कि लोग वागज के उपयोग में अनभिज्ञ थे।

“दशत्रानुं मसिबुरंतुं कलमुतुं दारेन्नि चितंबनुनुं

धर्षान्—दम्परम् या दस्था (दस्तर), मसिबुरं (दावान), कलम, इनकी के बीच की लेई, आदि वस्तुओं का प्रयोग कवि धीनाय ने भी देखा था।

“शासन पर वर्ण-पद्धति को शोभा देने ही बनती थी।”<sup>२</sup>

धर्षान् राजा तथा मन्त्रीगण वागज में काम लेते थे। फारसी का

१. एक 'चाटु'।

२. 'भौमेश्वर पुराणमु', अ० १, पृष्ठ ७४।

शब्द 'कागज' में ही तेलुगू, में 'वागितमु' बना है। अर्थात् कागज बनाने का रोजगार मुगलमानों के हाथों में ही था। कागज का सबसे पहले चीनियों ने लगाया था। उन्हींसे मुगलमानों ने कागज का काम सीखा। आज के कागज का धंधा आज भी अधिकतर मुगलमानों ही के हाथों में है। (तीस-चाबीस वर्ष पहले हैदराबाद के कुछ देहातों में यह काम होता था। कोयल कोडा, जिना महबूब नगर का मगहूर था। काम तो बन्द हो चुका है, किन्तु काम जानने वाले एक-दो अभी जीवित हैं—अनुवादक)।

साप्ताहिक कामों के लिए ताड़ के पत्तों पर भी स्याही लया बेंब की कलम से लिखा जाना था। बख्शर श्रीनाथ का पद्य है :

"वसुधास्थली के कविवर्य बरबुद्धि के मस्तिष्क को  
मयते हैं मानस-कड़ाह के कुहर में भर-भरकर  
जिह्वा-तूलिका से महाव्यसन-काव्य लिखते हैं  
तूराज ताल के पलाश, निज मुष्कामाश के ऊपर।"

### पटवारी

हिमाचल-हिमाचल का काम 'बरगम्' करने में। (यह वायस्य नहीं, ब्राह्मणों का ही एक जाति है।) सरकारी खमों की बगुनी घपवा हिमाचल करने का काम इसके पहले उनका नहीं था। यह काम उम समय विश्व-ब्राह्मणों अर्थात् मुनारों का था। आज भी बड़ी-बड़ी मुनार पटवारी पाये जाते हैं। कहते हैं कि वृष्ण देवराय के मन्त्री भास्कर ने मुनारों को इटारर नियोगी ब्राह्मणों का निपुस्त किया था। (नियोगी ब्राह्मण वे हैं जो दूसरों के घर पूजा-पाठ आदि का काम नहीं करने, बल्कि नौबरी आदि करने हैं।)

ये बरगम् पटवारी बड़े यत्ननाक और धूर्त माने जाते थे। उत्तर-भारत में हिन्दी में त्रिमे 'बही' कहते हैं, तेलुगू में उसे 'बही' या 'बई' कहते हैं। शब्द वही है, प्रयोग में उच्चारण-भेद हो गया है। बहीगाता

बहरहाल पटवारों का बदला नहीं है। तेलुगू में कहावत है कि 'पटवारों को पनियाना नहीं चाहिए।' पटवारियों की धुनना की अपत्याति प्रसिद्ध है :

“इधर से आईं घाय  
उधर जमा करके  
और कहीं खर्च दिखाने वाला  
प्रकट महा पापी है।”  
“नीतिवान् होवे यदि करण  
तो स्वामी का उपकरण  
निर्णय गुण अधिकरण  
प्रजा शरण  
शत्रुओं के लिए महा भरण है !”

### कलाएँ

वाङ्मयीय शासन-काल के समान रेड्डी-युग में भी कला-योग्य ममुचिन् रूप में होता रहा। बल्कि रेड्डी-काल में कला-योग्य और भी उच्च स्थिति की प्राप्त हुआ। अन्तिम रेड्डी राजा का 'अनंतराय' की पदवी पाना स्वयं ही इसका प्रबल प्रमाण है। कहा जाता है कि श्रीनाथ कवि, जो मैनूबंध रामेश्वर ने लेकर विन्ध्याटवी नव बेगोड़ था, ममम्म शास्त्रों तथा पुराणों का पारंगत होने के माध्य-माध्य नवीन कविता-धारा का प्रदर्शक भी था। यही श्रीनाथ आंध्र-राज्य का विद्याविहारी था। अन्तिमांध्र साहित्य-उदय की प्रामाणिक आचार्यत्रयी में 'प्रबन्ध-रामेश्वर' की पदवी में विभूषित, पूर्ण प्रगटा राज्य का धाम्यात-कवि था। 'गिवलीया विलास' का रचयिता नि शक कोम्मन रेड्डी राजाओं का स्तोत्र-गायक था। मह्य-विधान-नव-अभिनय-कला-श्री-शोभिता लक्ष्मादेवी राज-दरबार में निज नये ढंग में नाट्य-कला का प्रदर्शन करती थी। बाल मरस्वती आदि

१. 'महात्मन द्वित्रिगिक', भाग १, पृष्ठ १०४।



महापंडित दरवार की दिव्य ज्योति कहलाने थे । कपूर्-व्रमनोत्सव तथा मुगध भाडागार के अघ्यश की चर्चा पहले की जा चुकी है । स्वयं बंदू राजा तथा बेनमें राजाओं ने कविताएँ रची, व्याख्याएँ लिखी, साहित्य-मूजन किया, साहित्याचार्य मवंज-चक्रवर्ती आदि कहलाये । उनकी कीर्ति दिगतो तक व्याप्त हो चुकी थी । इन मागे बातों को देखने हुए कला की उन्नति में आश्चर्य ही भला क्या हो सकता है ।

आधुर्वेद के अन्दर 'भूनात्र घन्वतरि' की पदवी से विभूषित 'भास्वराम' को पेदे-कोमटी वेम ने अग्रहार दान में दिये थे ।<sup>१</sup>

अने वेमुनु नामक राजा के दरवार में निम्नी साधारण से कवि ने आकर एक ऐसा पद मुनाया, जिसके हर चरण का पहला अक्षर 'वे' था । इस प्रकार उस पद में चार 'वे' थे । इस पर राजा इतना प्रसन्न हुआ कि उसे चार वेनु ('वे' का बहु वचन) के बदले आठ वेनु (आठ हजार सिक्के) पुस्कार में दिये । कविता की ऐसा पूछ के कारण ही थोटा-बहुत पदा-लिखा प्रत्येक व्यक्ति तुल्यदो करने लगा था । कोंडवीट्ट की राजधानी में जिन निम्नी भी गली में तिकल जाये, कवियों की भरमार मिलनी । ये कवि माथे पर विभूषि पाँते निर्गुण धने घूमा करने थे । कविता की यह दुर्दशा देखकर श्रीनाथ ने एक कवि में पूछा था :

“तन पर भगम रमाये,  
सब उमाह गंवाये,  
पीला मुंह सटवाये,  
गलो-गली की टोकर खाते,  
जिस-तिममे फटकारे जाते,  
कोंडवीट्ट में दुबके सटवाये तुम,  
बहते हो यह क्या अत्यम-अत्यम तुम ?

१. 'रेड्डीसंविन', पृष्ठ ८६ ।

तू भी कोई कवि है, क्यों बने गये,  
मुन्झरो को तो इसमें सन्देह है।”

रेड्डी राज्य-काल में संस्कृत तथा प्रांघ्र पडितों की संख्या अच्युती थी। परन्तु उनमें से बहुत कम ही कवि ऐंने हैं, जिनकी रचनाएँ हमें उपलब्ध हैं। हमारा यह दुर्भाग्य ही है कि इन पांच सौ वर्षों के बीच श्रीनाथ की 'बहू कृतियाँ', मञ्जुदाम की रामायण तथा कुमारगिरि के 'वनतराजीयमु'-जैसे उत्तम ग्रन्थ नुस्त हो चुके हैं। हम इतना ही जानते हैं कि बाल-सरस्वती राजा भानपोत राजु का आस्थान-कवि था, और त्रिनोचनार्य राजा वेमराजु का। बहूतों की कविताओं के अवशेष केवल शिलालेखों तक सीमित रह गए हैं। हमने सुना माय है कि प्रभात भारत योगी नामक कवि ने मुन्दर गामन-श्लोक रचे थे। हम इतना ही जानते हैं कि कोई कवि महादेव भी था। भानपति के शिला-शासन से हमें पता चलता है कि कविवर अग्रय के पद्यों की संली परिपक्व है। काटयवेमु के गामन को त्रिस्र धीवल्लभ कवि ने कविता-बद्ध किया था, उनके विषय में हमें कोई भी जानकारी उपलब्ध नहीं हो सकी है। न जाने और भी कितनी की ज्ञान-विज्ञान-सम्पदा को हम खो बैठे हैं। मुप्रसिद्ध कवि-मम्राट् थी एरा प्रगड् श्रीनाथ, वेमन कटि मूरुन आदि रेड्डी राजाओं के आश्रय में ही रहा करते थे। संस्कृत कवि वामन भट्ट वाणु ने तेलुगू 'वेम भूषान चरित्र' को संस्कृत में भी लिखा था। स्वयं रेड्डी राजाओं ने संस्कृत में व्याख्याएँ तथा कविताएँ लिखीं। राजा कुमारगिरि ने नाट्य-शास्त्र पर एक ग्रन्थ 'वनतराजीयमु' लिखा था। पेट्टे-कोमटी ने भी नृत्य कला पर एक पुस्तक लिखी थी। 'साहित्य-चिन्तामणि' भी इन्हींकी रचना है। वारय वेमन ने कानिशास के वाक्यों पर टीका लिखी थी। राजा पेट्टे कोमटी ने विश्वेश्वर नामक कवि को एक ग्रान अग्रहार के रूप में दान दिया था। पता नहीं, पुरस्कार पाने वाला वह ग्रन्थ कौन-सा था और उनमें क्या लिखा था। कोई वीट्टु तथा राज महेंद्रवरम् के राजाओं के समान राचकोंड के वेमन राजा भी स्वयं

महापंडित दरवार की दिव्य ज्योति कहलाते थे । कर्पूर-धनतोत्सव तथा सुगंध भांडागार के अर्घ्यश की चर्चा पहने की जा चुकी है । स्वयं रेड्डी राजा तथा वेल्मों राजाओं ने कविताएँ रची, व्याख्याएँ लिखी, साहित्य-गृजन किया, साहित्याचार्य सर्वज्ञ-चक्रवर्ती आदि कहलाये । उनकी कीर्ति दिगंतो तक व्याप्त हो चुकी थी । इन सारी बातों को देखने हुए बला की उन्नति में आश्चर्य ही भला क्या हो सकता है ।

आपुर्वेद के अन्दर 'भूनांरु धन्वतरि' की पदवी से विभूषित 'भास्करायें' को वेदों-कांमटी वेमें ने अग्रहार दान में दिये थे ।<sup>१</sup>

अने वेमुनु नामक राजा के दरवार में किसी माधारण में कवि ने आकर एक ऐसा पद गुनाया, जिसके हर चरण का पहला अक्षर 'वे' था । इस प्रकार उम पद में चार 'वे' थे । इस पर राजा इतना प्रसन्न हुआ कि उम चार वेनु ('वे' का बहु वचन) के बदले घाठ वेनु (घाठ हजार तिकके) पुरस्कार में दिये । कविता की तेरी पूछ के कारण ही थोड़ा-बहुत पढ़ा-लिखा प्रत्येक व्यक्ति मुखबरी करने लगा था । कोडंबीट्ट की राजधानी में जिस किसी भी गनी में निकल जाइये, कवियों की भरमार मिलती । ये कवि भाषे पर विभूति पाने निरागत बने घूमा करते थे । कविता की यह दुर्दगा देववर श्रीनाथ ने एक कवि में पृष्ठा था :

"तन पर भसम रमाये,  
सय उत्साह गेंबाये,  
पीला मुँह सटकाये,  
गली-गली की ठोकर खाते,  
जिस-तिसमें फटकारे जाते,  
कोडंबीट्ट में दुबके सटकाये तुम,  
बसते हो यह क्या घल्लम-गल्लम तुम ?

१. 'रेड्डीसंचिक', पृष्ठ ८६ ।

तू भी कोई कवि है, क्यों बें गये,  
मुझको को तो इसमें सन्देह है।”

रेड्डी राज्य-काल में मस्कृत तथा आध्र पंडितों की सख्या अच्छी खानी थी। परन्तु उनमें से बहुत कम ही कवि ऐसे हैं, जिनकी रचनाएँ हमें उपलब्ध हैं। हमारा यह दुर्भाग्य ही है कि इन पाँच सौ वर्षों के बीच श्रीनाथ की 'बहु कृतिपाँ', शम्भुदास की रामायण तथा कुमारगिरि के 'वनतराजीयमु'-जैसे उत्तम ग्रन्थ नुस्त हो चुके हैं। हम इतना ही जानते हैं कि बाल-सरस्वती राजा धानपौठ राजु का आस्थान-कवि था, और त्रिनोचनाय राजा वेमराजु का। बहूतों की कविताओं के अवशेष केवल शिलालेखों तक सीमित रह गए हैं। हमने सुना मात्र है कि प्रभात भारत योगी नामक कवि ने मुन्दर शामन-रनोक रचे थे। हम इतना ही जान सके कि कोई कवि महादेव भी था। धानरति के शिला-शासन से हमें पता चलता है कि कविवर अन्नय के पद्यों की शैली परिपक्व है। काटयवेमु के शामन की त्रिम श्रीवल्लभ कवि ने कविता-बद्ध किया था, उसके विषय में हमें कोई भी जानकारी उपलब्ध नहीं हो सकी है। न जाने और भी कितनों की ज्ञान-विज्ञान-सम्पदा को हम खो बैठे हैं। सुप्रसिद्ध कवि-नम्राट् श्री एराँ प्रगड् श्रीनाथ, वेमन कट्टि मूरुनेँ आदि रेड्डी राजाघों के आश्रय में ही रहा करते थे। संस्कृत कवि वामन भट्ट वाण ने तेलुगू 'वेम भूपाल चरित्र' को संस्कृत में भी लिखा था। स्वयं रेड्डी राजाघों ने संस्कृत में व्याख्याएँ तथा कविनाएँ लिखीं। राजा कुमारगिरि ने नाट्य-शास्त्र पर एक ग्रन्थ 'वनतराजीयमु' लिखा था। पेदेँ-कोमटी ने भी नृत्य-कला पर एक पुस्तक लिखी थी। 'साहित्य-वितामणि' भी इन्हींकी रचना है। वारय वेमनेँ ने कालिदास के काव्यों पर टीका लिखी थी। राजा पेदेँ कोमटी ने विश्वेश्वर नामक काव को एक ग्राम अग्रहार के रूप में दान दिया था। पता नहीं, पुरस्कार पाने वाला वह ग्रन्थ कौन-सा था और उसमें क्या लिखा था। कोई बौद्ध तथा राज महेश्वरम् के राजाघों के ममान राचकोड के वैचर्षेँ राजा भी स्वयं

कवि और विद्वान् ग्रन्थ-प्रणेतृ थे और कवीश्वरों तथा मगीतज्ञों का सम्मान करके अच्छी स्याति प्राप्त कर चुके थे। कुछ आलोचकों का कहना है कि रेड्डी तथा वेनमें राजाओं में कुछ-ग़क कवि अथवा ग्रन्थ-प्रणेतृ नहीं थे। यदि यह बात ठीक भी हो तो भी उसमें दोष राजाओं के ज्ञान अथवा प्रतिभा पर कोई आंच नहीं आती। राचकोटा राजाओं के दरबार में मल्लिनाथ मूरि प्रधान पंडित था।

रेड्डी राजाओं के दरबारों में तेलुगू विद्वान् और कलाकारों का रहना ही था, भारत के अन्य प्रांतों तथा राज्यों के विद्वान्, कवि, कलाकार आदि भी बराबर पहुँचने ही रहते थे। ऐसे विद्वानों की योग्यता को परखने तथा उनका यथायोग्य सम्मान करने के लिए कवि सार्वभौम श्रीनाथ को नियुक्त किया गया था। राज-शासन में से कुछेक को श्रीनाथ ने स्वयं भी निगवाया था। फिरगीपुर के शिवा-शासन में निर्या है

‘विद्याधिकारी श्रीनाथोऽकरोत् !’ अर्थात् यह ‘शासन’ राज्य के विद्याधिकारी श्रीनाथ ने तैयार किया है। श्रीनाथ ने अपने मन्त्र में कहा है

“विद्यापरीक्षण

करते समय

देश-देश के बुधजन

से किये हैं तूने सभापण !”<sup>१</sup>

राजा लोग अपनी छान रगने के लिए साधारणतया उद्भट कविया को अपने वहाँ परीक्षाधिकारी या आस्थान-कवि के पद पर नियुक्त किया करते थे -

जनकर दरबारी

परीक्षाधिकारी

एक विप्र की भी

१. ‘भीमेश्वर पुराणसु’, अ० १, श्लोक ७३।

मति मारी !<sup>१</sup>

राजा ही नहीं उनके मंत्रीगण भी अच्छे विद्वान् और बहुभाषा-विद् होने थे। अग्रेटी अन्नय मंत्रों के सम्बन्ध में कहा है :

‘अरबदेश-भाषा, तुर्क भाषा, गजकर्णा,  
आंध्र देश, गांधार देश, ‘धूर्जर’ भाषा में,  
मलयाली भाषा, शक-भाषा, बवंर-भाषा,  
तथा सिंधुसौवंर-भाषा या कर्हारी में—  
भाषाओं के लेखन-पाठन-विनिवेशन में,  
अथवा गोष्ठी-संप्रयोग में, संभाषण में,  
अन्नय मंत्री दोखर की गति विस्मयकर है !  
राजा बंमं महोसुरेद्र राज्योन्नति-कामी  
मंतनान्युदय-काम शाह अहमद हुसैन को,  
वानी लिखी तत्काल ‘पारसी’ भाषा में जो,  
भाद-वर्ण-पद्धति उसकी बरानातीत है !’<sup>२</sup>

उस समय तक आंध्र पर फारसी भाषा का प्रभाव पड़ चुका था। यदि अन्नय मंत्रों ने फारसी में पत्र लिखा हो, तो उसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। विन्तु अरबी, गांधार, बवंर आदि भाषाओं के सम्बन्ध में तो उस पद्यान के दावे अनिगमोक्ति-बंमं ही लगने हैं।

बवंर अणिका या उमरी प्रदेश है। तुर्क भाषा में यही तात्पर्य फारसी है।<sup>३</sup> आधुनिक चरित्र में उक्त पद्य के ‘सन्तनान्युदयकाम शाह अहमद हुसैन’ आदि चरण का पाठानर इस प्रकार है—‘अहमद शानन दान भूमिभृत् ।’ विन्तु वास्तव में मुद्रित ‘भीमेश्वर पुराण’ का उक्त पाठ

१. ‘मिहामनडाप्रिशिक’, भाग २, पृष्ठ ५।

२. ‘भीमेश्वर-पुराणम्’, अ० १, पद्य २४।

३. तुर्कों की भाषा तुर्की नहीं, बल्कि भारत में जाकर ‘तुर्क’ बहलाने वाले मुसलमानों की उन दिनों की प्रचलित सामान्य भाषा फारसी।

—सम्पा० हिन्दी सं०।

ही उपयुक्त मालूम होता है। ग्रहमद हुमेन धयवा ग्रहमदशाह गुनवर्ग  
वा मुलतान था।

श्रीनाथ के एक पद्य में सिद्ध होता है कि राजाओं के आस्थानों में  
कवियों की धाक अवरदस्त थी।

“रे तेलुंगापीडवर साम्पराय, अक्षय रे !  
मुक विराट् वृन्दारक धेणी को कस्तूरी  
भिक्षा मे दे, जिससे उसके गंध-भार भी  
दाक्षाराम चतुव्य भीमवरवार-विलासिनि  
वरगन्धर्वाप्सरो भामिनी ललनाओ के  
वक्षोज द्वय कुम्भि कुम्भ के करें गुचसित !”

इसमें गन्देह नहीं कि यह पद्य श्रीनाथ का ही है, श्रीनाथ राजाओं  
को इसी प्रकार सम्बोधित किया करता था कि तू हमें दान दे, ताकि हम  
वेश्या-भोग करें।

श्रीनाथ ने ही तो लिखा है।

“दाक्षाराम यधूटी,  
वक्षोरुह भृगमदादि वांछित विलसद्दशः कवाट-वांधव,  
रक्षाविधिवज्रपंजर कृपा जलधि”<sup>१</sup>  
“दक्षवाटी ..... गन्धर्वपुरोभामिनी।”<sup>२</sup>  
“दाशागमचतुव्य भीमवरगंधर्वाप्सरोभामिनी-  
वक्षोजद्वयगंधसार।”<sup>३</sup>

इन प्रकार निम्नलिखित श्रीनाथ ने यदि उक्त ‘गंधर्वाप्सरो-भामिनी’  
भी लिखा हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? उन दिनों पण्डितगण  
अनेक विद्याओं का अभ्यास करते थे। ऐसे पण्डित तो होने हों नहीं थे  
जो रामायण, महाभारत न पढ़े हों। श्रीनाथ के लिए गौरीय-आणी के

१ ‘भीमेश्वर-पुराणमु’, अ० ३, पृ० २२१।

२. वही, अ० १, पद्य ६०।

३. काशीखण्डमु, अ० १।

कवियों में से कालिदास भट्ट, बाण, प्रवरसेन, हर्ष, भान-गिव-भद्र-भौमिल्य मेल्न, माघ, भारवि, विश्वरूप मन्हरा भट्टि, चित्तव, कवि शण्ड आदि विनेय आदराभिमान के पात्र थे ।<sup>१</sup> श्रीनाथ ने मुरारि की कही चर्चा तो नहीं की है, फिर भी मुरारि के समानों का प्रयोग प्रचुरता से किया है । आन्ध्र भाषा के कवियों में उनके लिए नन्नय, निहूत्र, वैमुनवाडे, भीमकवि, एरा प्रगडा आदि प्रमुख हैं ।<sup>२</sup>

श्रीनाथ कवि-सार्धभौम "अन्वहित ब्रह्माण्डादि महापुराण-तात्पर्याय-निर्धारित-ब्रह्म ज्ञान कलानिधानमु" के विरुद्ध में भी विभूषित हुए थे ।<sup>३</sup> डिटिम कवि-सार्धभौम-श्रुतों को पराजित करने वाला श्रीनाथ सचमुच किने मारे शास्त्रों का ज्ञाना रहा होगा, यह चहज ही अनुमान किया जा सकता है । उन समय की कुद्वेक प्रचलित विद्याओं का उन्नेख उन प्रचार मितना है :

“अथनिनाथ यह मुष्ठा अष्टभाषाभाषी है  
रचता है आठों में सरम चित्रकविताएँ  
मधुर आमु-विस्तर, जिनको सुन सत्कवि बरबस  
वाह-वाह कर उठें, वेद-वेदांग-शास्त्र में  
पारंगत है, सक्त-पुराण-अथा अवगत है  
जो भी चाहें पूछ देखिये, भट्ट कह देगा,  
नूनन रोनि-विधान धानु-विभ्रन का करता,  
रसों और बलों का अद्वितीय कीमती,  
अथधानी भाषाविज्ञानी को न लगाना  
अपने पारंग में, विनक में गीतमादि श्रुति,  
इसने खाने मात, इसे परदाह नहीं है !”

“...श्रुग् यदुम् साम, अथर्वण आदि वेदों, शिक्षा-कल्प-ज्योति-निहत्त

१. 'भौमेश्वर पुराणमु', अ० १, पृष्ठ ७ ।

२. वही, अ० १, पृष्ठ २३ ।

३. 'शृंगार नैपथ्यमु', कृत्वादि ।



व्याकरण-छन्द-मीमांसा आदि तत्वावबोध में ब्राह्म, शंख, वाद्य, वंश, भागवत, भविष्यन्, नारदीय, मार्कण्डेय, आग्नेय, ब्रह्म-कंवत्तें लेंग, वारह, स्कान्द, वामन, गौतम, गारुड, भास्व, वायव्य आदि महापुराणों में, नारसिंह, नारद, शिवधर्म, महाेश्वर, गालव, मानव, ब्रह्माण्ड, वारण, कालिका, साम्ब, सौर मारोच कूम, ब्राह्म-भार्गव, सौर-वंशव्य आदि समस्त उप-पुराणों में भी " "इसका भली-भाँति प्रवेश है ।" १

उन शास्त्रों और पुराणों में से कितने मिटे, कितने बढ़े यह जानना भी आज नटिन है ।

उन दिनों राजा-महाराजा 'लक्ष्मी-उत्सव' बड़े समारोह के साथ मनाया करते थे । इन अवसर पर वे महाद् उदारता में बलाबारी को दान-गुरगुरार आदि दिया करते थे ।

"क्या अवति-प्रवनीपति, क्या पाथिव रजवाड़े

लक्ष्मी-उत्सव आदि समस्त प्रसन्न वर्ष पर

सत्कवियों, गायकों, नटों पाठकोत्तमों का,

करते हैं समृद्ध विविध बंधव दे-देकर !" २

कवियों को प्राप्त होने वाले 'विविध बंधव' का वर्णन श्रीनाथ ने इस प्रकार किया है "सत्कवियों को रत्नाम्बर, कातूरी, हेमपात्राभन दैनिक खर्च इत्यादि प्राप्त थे ।"

'वर्णां सृष्टे' ३-२६ में श्रीनाथ ने एक ब्राह्मण की योग्यता का वर्णन इस प्रकार किया है ।

"मथुरा नगर में शिवशर्मा नामक एक ब्राह्मण रहता था । उसने धेवों का अध्ययन करके उनके अर्थ समझकर, धर्म-शास्त्रों का पठन करके, पुराणों पर अधिकार प्राप्त करके, तर्क-शास्त्र का मथन करके, मीमांसाद्वय का मनन करके, धनुर्वेद का अग्रगण्य करके, नाट्यवेद का अवबोध प्राप्त करके, अर्थशास्त्र पर अधिकार प्राप्त करके, मन्त्र-शास्त्र का

१. 'वीडिशुमारचरित्रमु', अर्प्याय ६, पृष्ठ १२-१६ ।

२. 'सिंहासनद्वारिणिक', भाग ३, पृष्ठ २७ ।

ज्ञान प्राप्त करके, भाषाघों तथा लिपियों का ग्रन्थात करके यथेष्ट धन कमाया ।”

राजा-महाराजा स्वयं भी साहित्य के साथ, विशेषकर संगीत तथा नृत्य-शास्त्रों का भी अभ्यास किया करते थे । नरेशो द्वारा लिखे हुए शास्त्र तथा व्याख्याएँ स्वयं ही इसके प्रमाण हैं । इसके अनिर्दिष्ट उनके लिए अश्व-शास्त्र, गज-शास्त्र, राजनीति और युद्ध-नीति के विषय तो प्रधान थे ही । राजनीति पर सस्कृत में यथेष्ट ग्रन्थ उपलब्ध थे । मडिकि मिगनें ने तेलुगू में एक प्रामाणिक ग्रन्थ ‘सबलनीतिसम्मतमु’ लिखा, जिसमें उसने तेलुगू के अनेक नीति-कवियों के उद्धरण दिये हैं । किन्तु उनमें से अधिकतर कवियों की इतर रचनाएँ आज उपलब्ध नहीं हैं ।

संगीत तथा नृत्य-शास्त्रों पर कुछ ग्रन्थ तो स्वयं राजाघों के ही लिखे हुए हैं । राजा कुमारगिरि ने ‘वसंतराजीयमु’ नाटक लिखा था । उसकी वेश्या लकुमा देवी उस नाटक को मचस्थ करके भी किया करती थी ।

“जपति महिमा लोकातोत कृमारगिरि प्रभोः  
सदसि लकुमादेवी यस्य प्रिया सहस्रो प्रिया  
नवमभिनयम् नाट्यार्थानां तनोति सहस्रधा  
वितरति बहूनार्थानि यजाय सहस्रशः ।”

न जाने ऐसी कितनी ही लकुमा देवियाँ काल के गर्भ में विलीन हो गईं ।

मुगलमानों के प्रभुत्व से देश में फारसी नृत्य का प्रचार हुआ और लोग उनकी और आकृष्ट होने लगे । यह देखकर पेट्रें रोमटी ने अपने ‘नाट्य-शास्त्र’ में फारसी नृत्य को भी स्थान दिया । उसने इसे ‘मत्तलि नर्तन’ यानी विमाता-नृत्य का नाम देकर इसका वर्णन एक नवीन नृत्य के रूप में किया है ।<sup>१</sup> जन साधारण में और भी अनेक नृत्य प्रचलित थे । उनके सम्बन्ध में हम आगे चर्चा करेंगे ।

१. ‘हिस्ट्री ऑफ रेड्डी किट्टम्मा’, पृ० २८२ ।

मगीत में गीतों को 'जतिग्राम' का विधान बहुत पसन्द था।  
'श्रीडाभिरामम्' लिखता है -

“द्रुत तान के संग-सग बीर-गुंभी रंग  
गम्भीर तर्क-धुम-धुम-धुम-कट-कटात्कार  
संगन बजे सांतरालिक 'यतिग्राम'  
ग्रामों में अभिराम, स्वर-तान-सम्भार !”

'जति' इसी 'यति' का तद्भव रूप है। 'यति' तथा 'ग्राम' स्वर के विविध भेद हैं।

रेड्डी और वेल्म-नरेडों ने बड़े-बड़े दुर्गों, मन्दिरों तथा अपूर्व भवनों का भी निर्माण करवाया। कोड बीट्टु के तिनै की गिनती देश के महान् यक्ष्मी दुर्गों में थी। उसके अन्दर बहुत सारे महल बने हुए थे। उन्हीं में एक 'गुहराज' था, जो 'एर स्तम्भ-गृह' के नाम से प्रसिद्ध था। इसके खड्डरों को लोग आज भी 'गुजरान' के नाम से याद करते हैं। आनर्पति गिन्नालेय से प्रतीत होता है कि उन्होंने 'श्रीडा-मरोवरो' तथा 'बेलि-गृहां' का भी निर्माण करवाया था। इन बड़े-बड़े मरोवरों में इन रेड्डी-वेल्म नरेडों ने भी मुसलमान बादशाहों की तरह नोवा-विहार किया होगा। कुमारगिरि रेड्डी राजा ने तो निश्चय ही इसका आनन्द लिया होगा। कोड बीट्टु में मोनिया वेला की वह बहार थी कि लोगों में यह प्रसिद्ध हो गया था कि बड़ी सड़कों पर पत्थर (गुलाब जन) का सिद्धाव किया जाता था। यह कोई मुनी या बड़ी बात नहीं है। जिन लोगों ने स्वयं देखा था, उन्होंने जैसा सूमा-ममभा गा-थजाकर सुनाया है। उन राजाओं का शासन जनसाधारण को अत्यन्त प्रिय था। सबमुन उनको जनता के मुख और मीमांस्य की बट्टन ही चिन्ता रहती थी। इनका बुद्ध अनुमान नीचे के इन गौर-गीत में लगाया जा सकता है, जो लेखक को प्राप्त हो गया है

“रेड्डी चापे, रेड्डी चापे, रेड्डी चापे री माई !

बीरभद्र रेड्डी चापे री माई !

भोर-पहर करवाते गांव की सफाई,  
 डगर-डगर पर पानी छिड़कावें  
 गलियों में गोबर के छींटे दिलावें  
 घर-घर दुधारों पर हल्दी लगवावें  
 हल्दी लगवावें, कुंकुम लगवावें  
 सौ-सौ रंगोलियों में शोभा बढ़ावें  
 घर-घर दुधारों पर तोरण सजावें  
 तोरण सजावें, बन्दनवार भावें  
 रातों की हाटों में दीये जलावें  
 करते हैं गांव का भखी भानि पालन,  
 धूप से बचाने की इतनाते छाजन,  
 पेड़ों-झीलों की करवाते हैं काट-छांट  
 ठाटदार रखते हैं हाट, घाट, राह-बाट  
 गांव के कुम्हों की उड़हवाते साल-साल  
 पूनों-के-पूनों पानी में छून-छून डाल  
 रेड्डी धाये, रेड्डी धाये री माई !”

(हर पूर्णमासी के दिन कुम्हों में नमक-नूना डालकर पानी की छून मारी जाती थी ।)

इसमें इतना तो स्पष्ट है कि रेड्डी-राजा प्रजा-जन का परिपालन करते थे, उनके प्रीति-पात्र थे, उपयुक्त मकान-जन-अनुरजक कार्यों के अनेक-विध प्रयत्न किया करते थे । न जाने ऐसे कितने ही लौह-मीन धीरे-धीरे घनाहत होकर लुप्त हो गए होंगे । जो कुछ जानकारी हमें प्राप्त हो सकी है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि रेड्डी-युग की कला 'नवामी दरजे' की थी ।

### प्रजा-जीवन

भाइये, अब हम इस बात पर विचार करें कि उन दिनों लोगों का

पहनावा क्या था, आचार-व्यवहार कैसा होता था, विचार किम प्रकार के थे ।

माधारणतया लोग धाँवी पहनते थे । रायल सीमा के चन्द्र सुद लोग चट्टी अथवा जाँघिया पहनते थे । कन्धे पर चादर और सिर पर गोल साफा माधारणतया सभी रखते थे । बुद्ध लोग तुर्रदार साफा भी बाँधते थे, जिसे यहाँ स्माल कहते हैं । अधिकतर लोग कमर में चार अंगुल चौड़ी और आठ-दम हाथ लम्बी पट्टी की एक पेंटी या फेंटा बगने थे । अंगी, अंगरखे आदि भी उन दिनों होने थे, पर उनका रिवाज कम था । अंगरखा पाँच तक लटका हुआ लम्बा हुआ करना था, जिसमें बन्द लगे होते थे । कवियों ने भिन्न-भिन्न वृत्ति वागों के पहनावों के सम्बन्ध में लिखा है .

“इतने में दूजा महावीर आया समझ:

वह धजा !—खुले-बे-खुले रह गए सकल घसु

हंसक या बाएँ पाँच, जनेऊ-सी पटकी

कन्धे में कटि तक कस बघनले रेगम की,

या अङ्ग-अङ्ग में लेष मलयगिरि चन्दन का,

कस्तूरी का टोका भाभे पर तिलकित पा,

सिर पर या कर्तोगोदार मुरंठा, प्रवेपक—

श्रीवा में लटक भूपता या हनुमन्त-पदक !

पोछे-पोछे छाई जयलक्ष्मी हंस-नामन,

मुलकानि न जिगजी टुक पाते थे अत्रगुणन

अक्षम थे चित्र किनारी बाते धूँघट पट !”<sup>१</sup>

धीनाथ ने मोरम देग का वर्णन किया है । मल्लम पल्ली ने अपने ‘नेट्टी राज्य चरित्र’ में कहा है कि मोरम देग मँमूर प्रान्त का ही नाम था । परन्तु श्री वेदूरि प्रभारर नाम्नी ने बर्नूल के पथरीले प्रान्त का मोरम माना है ।

१. ‘सिंहामनट्टाप्रसिक्’, भाग २, पृष्ठ १०८ ।

मोरम राज्य मंसूर प्रान्त ही है। श्रीनाथ मंसूर प्रान्त में स्थित गये थे। सम्भवतः यह वहाँ का व्यम्बभूगुण वर्णन है :

“सिर पर बांकी पाग  
कमर में बांकी ही तलवार  
सन पटुए की साग  
ज्वार की संरटाप्र जेवनार  
तन पर मंला बसन  
दिलेरो की बांकी बितवन  
घटपट पहिरन  
और बेंतुका भापण-सम्भापण !  
बंसा सिरज गया है मोरस  
हाथ रंक करतार !”

विजयनगर-राज्य को दरबारी पोशाक विचित्र टग की होती थी। पैरों को बूना हुआ चोगा, गले में एक लपेटा और सिर पर एक लम्बी-सी टोपी, जिसे 'बुल्लाद' कहते थे। ऐसी पोशाक के दिना दरबार में जाने की मनाही थी। श्रीनाथ को भी जब किसी कार्यवश दरबार में जाना पड़ा तो उसे यह दरबारी पोशाक पहनी पड़ी।

बुल्लाद देगो बेष है अथवा विदेशी मुसलमानों का अनुकरण, यह बनाना बुद्ध कठिन है। बुल्लाद की लम्बाई लगभग हाथ-भर की होती थी, और शकल ऐसी होती थी मानो मिर्च का पूटा उनटकर रखा हो। उस समय के अजिमा रामराजु आदि के चित्र देखने में इन बुल्लादों के आकार-प्रकार का कुछ अनुमान हो सकता है। बुल्लाद समय में फारसी का कुलाह है। 'टोपी' शब्द पहने नहीं था। ग्राम्प्र-साहित्य में 'टोपी' शब्द पहने-पहन विजयनगर के पतन के बाद भट्टमूनि की रचनाओं में मिलता है। टोपिका शब्द का प्रयोग पहने-पहन चानुबय मोनेःवर ने अपनी पुस्तक 'अभिनवित्तापे चिन्तामणि' में किया है। निम्ना है कि राजाओं के पहनावे में टोपी मुख्य वस्तु है।

बेलमें नरेमों के यहाँ भी दरबारी पोशाक अनिवार्य थी। मन्दिनाथ मूरि एक बार, शाषद पहली बार, अपने साधारण वस्त्रों में ही राज-दरबार में गये थे। विन्नु दरबान ने उन्हें भीतर जाने में रोक दिया था। इन पर उन्होंने कहा था .

“कि दाहणा वकरटिकरेण  
कि वासना'चीकिरिवाकिरेण  
सर्वज्ञभूपालविलोकनाथंम्  
वेदूपमेकं विदुषां सहायः ।”

‘शृङ्गार श्रीनाथ’ में लिखा है कि यही बात कोलाचल पेशी भट्ट, ने भी कही थी।

नेलमान के अन्दर रामानुज सम्प्रदाय के नियोगी ब्राह्मण गोवर्दाडा व्यापारी कहलाते थे। इनकी वेश-भूषा के सम्बन्ध में श्रीनाथ ने लिखा है .

“इमली के बाँजों की लेई,  
'दम्बा' कलम और दायातें  
लिये, मंस से चीकट कपड़े  
बदलू से बंतरह गन्धाते,  
अम्त-व्यस्त बड़ो मुण्डे पर  
दाढ़ी से दोचन्द भयकर  
कीन कूर व्यापार भला  
होगा इनका ? हम बंग देखकर !”

‘दम्बा’ बरने का पत्र है। फारसी का ‘दपतर’ ही नेलुगु में ‘दम्बा’ या ‘दम्बरपु’ बन गया है। अभी शून्य तक नेलमान में बांग की हाथ-भर मम्बी पोड़ी में मरकटों की बन्धों भरे रगने थे। बांग की उम पोड़ों के तीन छेदों में से तामों के माघ पीगल या सजि की दायात सटवती रहती थी। ताम म्याही घाग ही बना दिया करते थे। (गोबर-पानों और कायने में नकर नेत्र के वाजम, बट्टाई में गने पाक या शोरे के १. घागता ?—(सम्पा० हि० सं०)

माम तरह-तरह की स्वाहियां बनती थीं।) कलम को लोग ममभने हैं कि यह भी फ़ारसी शब्द है। पर संस्कृत में 'कलम' का प्रयोग लेखनी के ही अर्थ में पाया जाता है।

खैर, और तो और, इन पटवारियों के "मुखड़े पर अस्त-व्यस्त भयकर दाढ़ी क्यों?" ऐसा तो नहीं था कि मुसलमानी हुकूमती में मुसलमानों का अनुकरण करके सभी सरकारी लोग दाढ़ियां बढाने रहे हों?

साफ़े की जगह रमाल का बग़ान भी वही-वही मिलता है। 'रमाल' हो तेलगाने में 'रमाल' हो गया है। रमाल तो मुँह पौधने का लता है, पर तेलगाने का रमाल बड़ा होता है, रगीन लुगी की शक्ल का होता है, चौड़ाई लुगी जैसी ही होती है, पर लम्बाई में चौड़ाई के बराबर के चौरमां में लम्बाई जितनी दरवार हो उतनी नी जा सकती है, इसीको रमाल कहते हैं, जिसे मिर पर साफ़े की जगह लपेटने और शरीर पर चद्दर की तरह घोंदने हैं या फँसान-मा कन्धे पर टाल लेते हैं। अब यह कम हो रहा है। वञ्चित यह सब बग़ान उम तेलगाने का है, जो मुसलमानी अक्षर में आ गया था।

एक गढ़रिये का बग़ान मुनिये—“मिर पर साफ़ा, कमर में बाँसुरी, कन्धे पर कुल्हाड़ी, मिर से पैर तक लटकता हुमा वाला बम्बल, गले में मनको की माला, हाथ में बाँस की लठियां, कमर में कमर-पट्टा, टिरन का सींग, जालीदार छीवा और साय में रम्बवाने कुत्ते।”<sup>१</sup>

गढ़रिये मुरमे की पहली बाँग के माय उठते, सायियों के साथ जुटकर दोरों को नाम ले-जेकर पुहारने, दूध दुहने, उमे नगरो को भिजवाने, फिर रेवड और डोर-डगरों को लेकर जगलों में चराने चल पड़ते। चारों ओर जगली जानवरों में बचाकर साँभ तक उन्हें घर लौटा ले आने। बाढ़ों के मरने पर भी दूध देने रहने के उपाय और पेट में ही बच्चा मरने पर दवा करना वह जानते थे। इसी प्रकार पशुओं के बीमियों



नाम, उनकी दवा-दारू और मन्त्र-नन्त्र की विधियाँ भी प्रचलित थी।<sup>१</sup>

उन दिनों रई धुनने वाले धुनों की भी एक अलग जाति थी। आज सभी धुने मुमलमान हैं। न जाने तब क्या थे? इन लोगों ने अपना धर्म गायद टीपू मुलतान या औरगजेब के समय बदला है। धर्म बदलने पर भी उनका पेना नहीं बदला। उनकी आँगने भी रई धुननी थी।

श्रीनाथ ने पिजारिन की प्रणमा में कहा है

“उरघी के उर पर कापति का पर्यंत है  
पिजारो तहणी उसको धुनने में रत है !”

चुन्देने तेलुगू देग में बोदिवि कहलाने हैं। आंध्र-कनटिक मेनापो में चुन्देने मंत्रिकी की भरती प्रचुर मख्या में हुई थी। फिर वे बहो बग गये। उनकी स्त्रियों में परदे की प्रथा थी। श्रीनाथ ने चुन्देनी स्त्री का वर्णन यों दिया है

‘सरसी की तरंगमात्ता में बालकूम से  
तैर रहे हैं पैर ‘गागरे’<sup>२</sup> की चुम्नट में  
रंगीली; बोदिली भामिनी घली; मुलांबुज  
छोट किये कर-कजों से धामे छूँघट में !”

तब और घब की बोदिली स्त्रियों की (जनानी) वेग-भूया में कोई विशेष अन्तर नहीं है। नाक में लप, कमर में पट्टा और उममे टैंके छुँघरू और जड़ीरो की लटकन, पैरो में ‘घदे’ (तूपुर, मंभिन), गने में तिलडे हार (त्रेसर), बलार्ड पर बगन, कानों में ताटक (परगंपुल), नाक में मुक्कर (रत्न-बेगर) इत्यादि गहनों की सामान्यतया सभी बोदिली स्त्रियाँ पहनती थी। विगी कवि ने एक कागलनाट की सुनती का वर्णन यों किया है :

१. नवनाथ, पृष्ठ २६-३०।

२. ‘गागरा’ घर्षात् सहंगा। (‘घाघरा’—स० हि० सं०)

“अन्नी की नय, मंगल-मूत्र अघन्नी का  
 पंमे को भी महंगा करणफूल फीका,  
 पाई को भी पूछ न जिसकी, वह मोती  
 तन पर मंल-भरी चीकट-भी है घोती,  
 आती सकुधानी शरमानी पनघट पर  
 कासलनाही कनकांगी अंगना सुधर !”

गहनों के बारे में बहुत सारी कविताओं में उल्लेख है। जैसे एक यह है कि :

“उछल रहा अघराघर पर  
 ठुरमुञ्जों मोनों का बेतर !”

इस प्रकार की वटुनेरी कहावतें भी हैं। काजल उन दिनों प्रायः सभी स्त्रियाँ नगानी थीं। विवाह के बाद विदाई के समय मानाएँ जब अपनी बेटियों के दामन भरतीं, तब उमम काजल-भरी एक डिबिया भी अवश्य ही रमतीं। 'दगार चीर' (मुनहरी साडीं), 'कुमुमाचल' 'चन्द्रिका-चौली', 'यमुना चौली' इत्यादि उनके कपडेँ डूमा करते थे। 'गागरा' या नहंगा तो केवल बुन्देली स्त्रियाँ ही पहनती थीं। और बुन्देले सभी पूरे नेलुगू नहीं बने थे।

दाक्षारामम् और भीमवरम् की बेश्याएँ प्रसिद्ध थीं। ये मुन्नूर जाति की होती थीं। गेद-मुन्नूर और चिनमुन्नूर इनकी दो उपजातियाँ थीं।

“दक्षारामाधिपति भीमनाथ को  
 त्रिदशद्वयवारवामा-जन साथ में  
 अवनितन भेट किया देवनाथ ने !”<sup>१</sup>

अर्थात् राजा भीमनाथ की वनोम बेश्याएँ थीं।

रहने-महने के धरो के सम्बन्ध में भी कुछ चर्चा मिलती है :

“वित्त भर को तो कुटिया, उसमें भी ढोरों के दस-बल  
 गिजबिज, धन, शीघ, गोबर को ढेरी, पटे-चिटे पतल,

१. 'भीमेश्वरपुराणम्', अ० ५, पद्य ८४।

बासी भात, बाल-बच्चों का मत, मंले कपड़े-जले,  
गन्दे बालों वाली रॉडें, ईपन के डंठल-पत्ते  
जहाँ-तहाँ पर डेर, हाँडियाँ कालिल-पुती रसोई की,  
अरे, पुरोहित के घर का तो नाम भूल मत लेना जी !"

यह ग्राम्य ब्राह्मण का वर्णन तो जबर है, पर पूर्वी जिलों के ब्राह्मणों का नहीं ही सकता । गाँदावरी, कृष्णा आदि के डेण्टों में, विशेषकर रेहो-युग में, ब्राह्मणों की ऐसी दशा तो हरगिज नहीं थी । निश्चय ही यह पल्नाडि मीमा का वर्णन है । जब पुरोहित ब्राह्मणों के घरों की यह दशा थी, तो कंगाल झूट्रादि की भोंपड़ियों की क्या दशा रही होगी ? पल्नाडि में तथा कर्नूल, अनन्तपुर, बन्लारी आदि के बहूनेरे अचलो में आज तक एक बुराई यह चली आ रही है कि लोग अपने रहने-महने के घरों के अन्दर ही पशुओं को भी बाँधा करते हैं । तिस पर तुरी यह कि घरों में गिडरियाँ भी नहीं होती । न जाने चारों के डर से या कि क्या, भिडकी का रिवाज इधर कभी गूटा ही नहीं । राज-भवनो में भी गिड-कियाँ बिरल ही गूही होगी । हाँ घरों में 'गवाश' (रोगनदान) जबर होने थे । उन्हींमें हवा और प्रवाश अन्दर आने थे ।<sup>१</sup>

घर तो क्या थे, मानों चारों ओर में बन्द बक्से होने थे । गदवा एक ही जगली नमूना होता था । फिर उन्हींके अन्दर पशुओं का बागा भी हुआ करता था । घनी लोग घनघना पशुओं की गाँठ घनघन बनवाने थे और अपने रहने के घरों को 'बन्दुमाना भवति' बनाने थे । सामान्यतः बाहर गडपाल (बरामदा), अन्दर जाने पर चारों ओर चार बड़े-बड़े श्रो-मुँहे दालान, बीचों-बीच सच्छा चौटा रोगनदान और दालानों के चारों कोनों पर कोटरियाँ होती थी । रसोईघर और स्नानघर अलग होने थे । ऐसी 'भरति' के बाहर जाने प्रागिन में चार-द्वीवारी में बस पाटक शंका था और गिछवादे में एक गिडकी होती थी ।

फिर वास्तु-शास्त्र के नियम बने । छत की घनी बटियाँ बिरली न

१. 'भोजनानार-गवाश-भार्गम्बुन वैदिति'—वाशीपेंडु ।

कटे, दरवाजों की सख्या विपन्न न हो, इत्यादि-इत्यादि । रतोईघर प्रायः पूरव की दिशा में रखा जाता था । घर की नींव रखते समय और घर तैयार होने के बाद स्वस्ति के लिए ब्राह्मण को बुलाकर मन्त्र-पूजा आदि के नाम 'दुष्पाह्वाचन' आदि कराये जाते थे । शांति के लिए सम्बन्धियों तथा गरीबों को गचिकर भोजन कराया जाता था । घर को पशुओं की दूध भी दी जाती थी । दीवारों में जगह-जगह धलमारी-नी 'भइगु' बनाई जाती थी । घर के अन्दर मिर में जरा ऊपर छत के नीचे लकड़ियों के तख्तों की झटारियाँ बनती थी । "दिन-भर बाहर रहकर रात के समय कुछ मनुष्य अपनी घर की झटारी में पड जाते ।"<sup>१</sup> ऐसी और भी उचित जहाँ-तहाँ प्रबन्ध ग्रन्थों में पाई जाती हैं ।

छत में हाथ-भर नीचे लम्बे-लम्बे बान आड़े-आड़े बांध दिये जाते थे, जिन पर सूखने के लिए कपडे फँसाये जाते थे । उन्हे 'दडेमु' ग्हने थे । "दंडम पर तटकाया हृषा स्वर्णहार कंधों से लगने पर उन्हे उतार लेते ।"<sup>२</sup>

राज-प्रानादो के निर्माण का टग इनने भिन्न होता था । वाम्नु-शास्त्र के अनुसार सर्वतोभद्र, स्वस्तिक, पुष्पक आदि नाम गृह-निर्माण के विविध प्रकारों के हैं । राजाधीश अपने प्रानादो तथा दरबारों के अलग-अलग शुभ नाम भी दे रखते थे । कृष्णदेव राय के मन्ना-भवन का नाम 'भुवनविजय' था । बीरभद्र रेहू का सौय 'प्रीतोवन-विजयमु' कहनाता था ।

थोनाय ने लिखा है :

'प्रीतोवनविजयानिदंबेन सौधंबु  
चन्द्रशाला प्रदेशंबु ।'<sup>३</sup>

समय को माय घटियों में होनी थी । दिन की तीन और रात की

१. 'केपूर बाहूचरित्रमु', पृष्ठ २३६ ।

२. 'मिहासनशास्त्रिक', भाग २, पृष्ठ ८८ ।

३. 'काशिकाछंद्मु'—कृत्यादि ।

तीस कुल साठ घड़ियाँ होती थीं। राजमहल के फाटवों पर घड़ियों के घण्टे १ से ३० तक बजाये जाते थे। लोग इसीने समय का घन्डाजा करते थे। शादी-ब्याह आदि शुभ कार्यों के अवसरों पर नगरों के निवासी राजमहल की घड़ियों का बजना सुनकर ही अपने मुहूर्त किया करते थे। गाँवों में जहाँ घण्टे नहीं बजते थे, वहाँ पुरोहित ब्राह्मण 'गडिय-कुटुक' (कटोरि-घड़ी) का प्रयोग करते थे। इन घंटों वाली कटोरियों को पानी में घोड़ा जाता था, पर्याप्त पानी भरने पर कटोरियाँ हूँक जाती थीं। वस इसी पर मुहूर्त होता था और पुरोहित जी 'जयघण्टी' पर अक्षत डालते थे

“उत्सवानंद-रस मे निभान  
थे लोग, ध्यान से समय लगन  
के शुभ-समुदय के सूचक उस  
ताम्रक घटिका के सतिल-मग्न  
होने की घाट जोहते थे,  
ज्यो ही हूँकी, जय-घंट बजे  
मंगलाशोर्वचन-पुरस्सरम्  
अक्षत उन पर डाले सचने  
सुमुहूर्त हुआ।”

“बजा गजर :

सूर्यनाद से दिशाकाश पूंजे सखर,

उमड़ विप्रजनों के वेद-पाठ का खर !”<sup>१</sup>

“हूँक गये प्रहराज जलधि में 'गडियकुटुक' से !

बुरबुर साजा के समान तारागण दिग्गरे ।

होमबद्धि की साल-साल ली से जग जगमग

निशा-सती का पाणिप्रहरण द्विजराज ने किया !”<sup>२</sup>

१. 'भोजराजोद्यमु', अ० ४, पृष्ठ ६२-३ ।

२. 'सिंहासननामिका', भाग १, पृष्ठ १०२ ।

इसी प्रकार अन्य समकालीन कवि भी कई विगद वर्णनाएँ छोड़ गए हैं ।

### सहगमन अर्थात् सती-प्रथा

दक्षिण भारत की यह कोई प्रथा नहीं है । यह तो उत्तर में ही दक्षिण में उतरी है । जहाँ-जहाँ मुसलमानों का अत्याचार अधिक रहा वही-वही यह प्रथा अधिकाधिक फैलती गई । इसका जोर तो विशेषकर काश्मीर, पंजाब और राजस्थान में ही रहा । बाद में यह बंगाल में भी पहुँची थी और वहाँ भी इसने खामा जोर पकड़ लिया था । दक्षिण में इसने काबलीयों और रेड्डी राजाओं के समय प्रवेश किया और सती होने की इक्की-दुक्की घटनाएँ वहाँ काफी अरसे तक घटती रहीं ।

‘महात्म्य डाकिशिक’ में एक कहानी घाती है । एक मैनिक सपनी स्त्री को राजा के आश्रय में रखकर स्वयं युद्ध में भाग लेने बुद्ध ही दूर गया होगा कि कोई शक्ति उसे आकाश में उड़ा ले गई और थोड़ी ही देर बाद आकाश में उसके हाथ-पैर आदि अवयव टूट-टूटकर धरती पर गिरने लगे । मैनिक की पत्नी ने उन विश्वरे अगो को इकट्ठा किया और उन्हें साथ लेकर चिन्ता में ‘सहगमन’ करने का निश्चय किया । राजा ने उसे रोकने की बहुतैरी चेष्टा की, परन्तु बार-बार समझाने पर भी उस स्त्री ने न माना । अन्त में राजा को भी राजी होना पड़ा ।

यदि ‘सहगमन’ उन दिनों यहाँ का साधारणचार होता तो वह स्त्री इसनी ज़िद करनी ही क्यों, और उस धर्म-पालक राजा को उसे इतना रोचना ही क्यों पड़ता भला ? ‘सहगमन’ के अवसर पर उस स्त्री के इसना लम्बा-चौड़ा भाषण देने का भी फिर क्या प्रयोजन था ? निश्चय ही यह तथा सती-प्रथा के प्रचार के लिए गड़ी गई है । उस मैनिक-पत्नी ने जो तर्क किये थे, उन्हें यहाँ पर उद्धृत करना उचित होगा :

“कुल में होगी दुर्गति;

रक्ष सदा अनुभावति

रखनी होगी; गुआ-पान तक सपना होगा;  
 तरस-तरस महनों को,  
 तज सखि-मुहागनों को,  
 हर मंगल के समय चलग रह तपना होगा;  
 हृष-मंघ-भर सुमन  
 कभी ये केश भ्रविषकण  
 पहन सकेंगे नहीं; रौं बन जीना होगा;  
 जहाँ जायें, दुतकारें,  
 कटु तानों की मारें  
 सहनी होंगी, घूँट तहू का पीना होगा !  
 जीना नहीं, न मरना,  
 बहना नहीं, न तरना,  
 भीतर-भीतर एक भाग सुलपा करती है ।  
 सब विधि यही उचित  
 कि चिता को देह समर्पित  
 करूँ, कि ऐसों के गुन गाती यह धरती है !”

‘मती’ का यह पौराचार आध्र-देश में कभी अपनी जड़ें नहीं जमा सका था। ऊपर के पद्यों में विषवा की विरशाओं का नाम वर्णन किया गया है। श्री मानतपत्नी मोमरोवर नामों ने अपने ‘रेड्डी राज्य चरित्र’ में ‘पेरटानु’ का शब्दार्थ ‘मती’ किया है। किन्तु यह ठीक नहीं है। यह शब्द ‘मुहागन’ के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। ऊपर उद्धृत पद्य में भी ‘पेरटबुलनु पोरु नोरमि’ (तज सखि-मुहागनों को) धरि घरा में ‘पेरट’ शब्द है। यही ‘पेरटानु’ या ‘मती’ का अर्थ ‘मुहागन’ ही हो सकता है, पनि के शव के साथ जल करने वाली नहीं। दगने मिट्ट होना है कि विषवा स्त्रियों को विवाह आदि शुभ अवसरों पर बुलाया नहीं जाता था। विषवाओं की मर्या पर्याप्त थी और उनकी विरशाओं भी

१. ‘विहागनदर्शिक’, भाग २, पृष्ठ ११०।

संस्मृतातीत थी। फिर भी 'मती' (पति के साथ जल मरने वाली) बहुत कम होनी थी। जो 'मती' होना चाहती भी थी उन्हें समाज रोकता था। एक पाश्चात्य यात्री निकोलाकोट ने लिखा है कि, "द्वितीय देवराव की १०००० स्त्रियाँ थी। राय के मरने पर कम-से-कम ३००० तो मती हो गई।" उमने लिखा है कि "मती की प्रथा विजयनगर राज्य में खूब फैली हुई है। सती को पति की चिता पर जीवित ही जला दिया जाता है। कुछ लोग पति के साथ पत्नी को जिन्दा दफन कर देते हैं।" फिर भी यह कहा जा सकता है कि सती की प्रथा यहाँ सर्वसाधारण में नहीं थी, केवल उच्च कुली में ही कुछ-कुछ थी।

लोग अनेक प्रकार के मद्य अनेक प्रकार में स्वयं तैयार कर लेते थे। प्राचीन कवियों ने गोडी, पैठी, माघवी आदि का वर्णन किया है। उनके अनिश्चित रेड्डी-युग में कुछ और भी नाम मुने जाने हैं। एक जगह वर्णन मिलता है :

"एक बार कुद्रेक मुन्दर बाँके युवको ने पान-गोष्ठी का आयोजन किया। उन्होंने 'कादंब', 'माघव', 'ऐशव', 'क्षीर', 'आसव' 'वाप', 'रतिफल' आदि मूल-स्वघ-कुमुम-फल-सम्भव बहुविध सुरापाक भेदों को मयुर मधु-विशेषी तथा परिमल-द्रव्यों के योग में स्वादिष्ट तथा सुगन्धित बनाकर पृथक्-पृथक् मुन्दर पात्रों में भर रखा।"<sup>१</sup>

इन मद्यभेदों में 'माघव' मट्टए की दारू का नाम रहा और होगा, ऐशव गन्ने की दारू का। आसव साधारण रूप में आसुर्वेद की रीति से बने जड़ी-बूटियों के मद्य-द्रव्यों को कहते हैं। कादंब, क्षीर, वाप, रतिफल आदि पदों की व्याख्या निघट्टुओं में नहीं मिलनी।<sup>२</sup> इन शराबों को जड़ी-१. 'मिहासनट्टात्रिक', भाग १, पृष्ठ १०३।

२. कादम्ब सम्भवतः 'कादम्बरी' को ही कहते रहे होंगे। 'कादंबे जातो रसस्तं रानि कादंबरी'; कादंब के रस से बनी शराब को। 'क्षीर' दुधो घसवा खोरी की शराब रही होगी। दूध की भी हो सकती है। —सं० हि० सं०।



बूटियों और फलों-फूलों के योग से तैयार किया जाता था। प्रौढ वधि मल्लनें ने कुछ और भी मद्यों के नामों का उल्लेख किया है :

“शाकरंबु, सूनजंबु, गुग्लुमुमघृतजंबु, नारिकेलजंबु, माध्विका, फलमयंबु, गौड, ताळमयंबु नादिगा तनचि नासवमुलु ।”

(शाकरं, सूनज. गुग्लुमुमघृतज, नारिकेलज, माध्विका फलमय, गौड, ताळमय प्रभृति आसव विधे जाते हैं । )

(इनमें ‘शाकरं’ और ‘गौड’ तो क्रमशः शकर और राव के शीरे की दाह रही होगी, ‘नारिकेलज’ नारियल और ताळ की ताटी, तथा ‘माध्विका’ जो मस्कृत के माध्वी शब्द से मिलता-जुलता नाम है, अगूरी शराब की सजा रही होगी। ‘सूनज’ और ‘गुग्लुमुमघृतज’ का कुछ पता नहीं चलता। ‘गुग्लुमुमघृतज’ शायद ‘गुग्लु’ नाम के किसी फूल और घी के योग से बनने वाली सुरा होगी। ‘फलमय’ आसव कई फलों के अंक या अरक से बनता रहा होगा। —स० हि० स० ।)

नटखट गाय यदि मींग या लान मारकर दूध न दुग्ने दे तो लोग सींगों में ‘तलकील’ बांधकर बल देने थे। अर्थात् एक लाठी में रस्सी का फंदा लगाकर उसमें सींगों को फँसाकर बल देने और तब दूध दुहने थे।

परम वेदी या परम पत्थर पर तथा लोहे आदि को मोना बनाने की कीमियागिरी या रहस्य-रमायन पर लोगों को अटूट विश्वास था। अनन्तामात्य ने ‘भोजराजीयमु’ में लिखा है कि राजा भोज ने गर्पट नामक एक मिट्टी का घोंघा देकर ‘धूमवेधी’ स्पर्श-वेधि क्रिया को सीख लिया था। वेमं रेड्डी के सम्बन्ध में भी एक गाथा है कि उसने एक कोमटी (बनिया) का घोंघा देकर उससे यह क्रिया सीख ली थी और उसीके प्रताप में कोडवीडु में अपना राज्य स्थापित किया था। यह कहना बटिन है कि ये बातें वहाँ तक सच हैं। पर इतना तो मानना पड़ता है कि प्रोन्सवेम को चाहे यह ‘परमवेदी’ हो या और कुछ, उस प्रकार की कोई १. ‘सिंहासनेन्द्राप्रशक’, भाग १, पृष्ठ ५० ।

विधि मिली जहर थी । क्योंकि तुंगभद्रा नदी के तट पर स्थित 'मचालों' तीर्थ पर जो मिलालेख है उसमें यो लिखा है :

यहृच्छया स्वर्णकर प्रसिद्धि

सख्वाप्तमाम्बा पतिरा बभूव ।”<sup>१</sup>

न जाने यह 'स्वर्णकर-प्रसिद्धि' क्या बला है । कोडरीडि दंड-कविता में भी इनके सम्बन्ध में एक गाथा है ।

भारत में ईसवी मनु के आरम्भ से अथवा बौद्ध सम्बत् के आरम्भ-काल में ही लोग 'स्पर्शवेधी' का पता लगाने के विचार से पारे के माथ कुद्य जड़ी-बूटियों का रस मिलाकर उसमें लोहा, तांबा आदि किसी माधारण धातु की रखकर तरह-तरह की भट्टियाँ चटाने और सोना तैयार करने की चेष्टा करते रहे हैं । निम्न नागार्जुन को इस 'स्पर्शवेधी' की जानकारी मिली हो या नहीं, पर इतना तो सभी मानते थे कि नागार्जुन ससार-भर के रसायन-शास्त्रियों में अग्रगण्य थे । पूरे चीन देश में नागार्जुन की महान् महिमा की प्रशान्ति गाई जाती थी । इस 'रस-वाद-विद्या' की व्ययंता के सम्बन्ध में ईसवी मनु १४०० के आस-पास कवि गौरवों ने लिखा है :

“बहुत-बहुत बटका इन हेम-क्रिया-पारोण-जनों के पीछे,  
बहुत-बहुत रसग्रन्थ-पटल भी धातुवाद के पीछे छाने,  
बहुत-बहुत ध्याकुल हो-होकर सकल विल-सर्वस्व नुटाये,  
मंत्रवादियों, मंत्रवादियों, किसको-किसको दिये न जाने,  
कितने रसे सहायकार, कितने औषध-पत्रों पर फूँके  
क्या-क्या जड़ी-बूटियाँ, क्या-क्या रस-पुट नहीं खरत में डाले,  
कभी साथ तो कभी घलन बूटे-पीसे, भट्टियों चढ़ाये  
कभी उड़े तो कभी घमाके टूए, पड़े जानों के सले,  
जब निदान घर, हार मानकर बंटा, यही तोय था जी को :

१. शा० संवत् १२६२, तदनुसार मनु १३४० ई० ।

यह रसवाद-सिद्धि, ईश्वर की गति, मिलती है किसी-किसी को !”<sup>१</sup>

“वाद भ्रष्टो वैद्य श्रेष्ठः !” रसवाद में सफल न होने पर भी इन अनुसंधानों से वैद्य-शास्त्र को तो लाभ हुआ है ।

लोगों में अनेक प्रकार के विश्वास थे । स्त्रियों के विश्वास भी विचित्र होते हैं । जिनके संतान न हों, वे सतान-प्राप्ति के लिए न जाने क्या-क्या किया करती थीं । ‘पल्लनाडि-वीर-चरित्र’ में बालचन्द्र की माता के ऐसे प्रयासों का सविस्तर वर्णन है । अन्य माधारण स्त्रियाँ भी इसी प्रकार तडपा करती होगी । एक स्त्री सतान-प्राप्ति के लिए :

जाती नित्य सभक्ति शक्ति-मातृका-भवन में,  
संतत रहती निरत अतिथि-सत्कृति-सेवन में,  
बायस को दधि-बलि देती, मन्त्रों मानती,  
घड़ी-घड़ी ‘ज्येष्ठा देवी’ की, पयं ठानती,  
पुष्प संहिता-श्रवण किया करती ब्राह्मण से,  
साधु-सत के दिये मूल-माणिक-धारण से  
अनुभ-निवारण करती तन्बंगी, गंधाक्षत  
चिरंठियों को तथा विप्रजाघों को न्योछत  
देती रहती, आये से से-ले कुम्हार के  
सो-सो घड़े हवाले करती नदी-धार के,  
घाँटा करती बच्चों को मीठे-मीठे फल  
सत रखती सत्वियों के संग, जा-जाकर बेवस  
देव पूजती, और पूजती धाम-यक्षिणी  
सदा तामरस-नेत्र-पुत्र-संतान-वांक्षिणी !”<sup>२</sup>

गर्भवती स्त्री को तीसरे मास में मुद्दे (मीठे भात के बड़े-बड़े गोले), पाँचवें में गुजिये (दहली) तिलाने थे । मातृवाँ महीना मगत हो एरी

१. ‘नवनाथ’, पृष्ठ २४२ ।

२. ‘शिवरात्रिमाहात्म्यम्’, अ० ६, पृष्ठ ४० ।

पोलम्मा (शाम देवी) को पूजते और मन्त्रों मानते थे। गर्भवती के हिचकती हुई कहने पर कि देखो बहन, यहाँ वाई ओर कुछ टलक-सा गया, तमाम स्त्रियाँ जुटती और कुछ प्रक्रियाओं के वाद लडका पैदा होने की सूचना देतीं, और वह युवती छुरी से फूल जाती। बच्चा होने के वाद नाभि पर सोने का टक (सिक्का) ररकर नाल काटते। सूपो मे मोती भरकर दान करते, बच्चे के सिर मे घी-तेल मलते, घाय नरम-नरम कपडो की तह बिद्याकर बच्चे को लिटा देनी, बच्चे को नहलाती, माये पर टीका लगाती, दरवाजे पर चावल का भूसा बिनीले और आग रखकर देहरी के बराबर लोहे का डडा डाल देती तथा नीम की पत्ती डालकर पानी गरम करती। प्रभूति-गृह मे पहरा रहना। रात-भर कोई-न-कोई जागता ही रहता। अडोस-गडोम की स्त्रियो को बुलाकर उन्हें भेंट दी जाती थी। वे जो माय लाती, उमे स्वीकार किया जाता। सुगन्धिन हरे कपूरी पान के बीड़े खिताकर उन्हें बिदा किया जाता।<sup>१</sup>

साधनों के सम्बन्ध मे श्रीनाथ ने कहा है :

“कर्णाटको कमल-मुखियाँ उस समय गलियों और सड़कों पर नाचतीं और कोयल के पंचम स्वर में एतिलि, पंजल, घबल आदि विविध गीत गातीं।” अण्णय कवि ने शादी-विवाह के इन गानो के भी लक्षण लिखे हैं। कुछ घरानों मे विवाह के भवसरों पर भव भी घबल गाये जाते हैं। हमके अतिरिक्त कुमुमापी ने पूजा की चौचोर वेदी पर वासन सजाये। एक और पक्षाशी ने ‘जाजाल पाल’ मे सारी औपधियाँ भरकर जल का छिडकाव किया। एक काता ने बड की डाल से खरल खुदकाया। एक बिम्बोष्ठी ने पीडा बिद्याकर उमे पवित्र वस्त्र से ढक दिया।

मायके वालों ने प्रभूति-गृह मे ही बेटी को उपहार दिये।

दूसरे रिस्तेदारों ने हजारों नजराने दिये।

नृपालो और महोपालो ने भी भूरि-भूरि संपदा भेंट दी।<sup>२</sup>

१. सि० डा०, भा० १, पृष्ठ ५६-६०।

२. सि० डा०, भा० १, पृ० ५६-६०, भा० २, पृ० ५४, ५६, ६२।

'शिवरात्रि माहात्म्य' अ० २ पद्य ७०-७१ आदि में श्रीनाथ ने प्रसूति-गृह के साधनों का वर्णन इस प्रकार दिया है :

"अरिष्टालय अर्थात् प्रसूति-गृह में शिष्या विभिन्न प्रकार की प्रक्रियाएँ करती थीं। कोई सिरहाने धवल निद्रा-कुम्भ रखती थी, तो कोई रक्षा-रेखा खींचती थी। कोई गुलाब छिड़कती थी, तो कोई बलि चढ़ाती थी। कोई नीम के दूँसों तथा नमक का उतारा देती थी, तो कोई चेत-खाट तैयार करती थी। कोई घूप दीप जलाती थी, तो कोई शुभोदय का चिंतन करती थी। कोई असीसों देती, तो कोई गंडतल उठाती। कोई धाव (?) लगाती, तो कोई गाती और कोई हँसी-दिल्ली करती थी।"

एक युवती ने बपूर मिले चदन के लेंप में दीवार पर हथेली की छाप लगाई। एक ने मंडक सागर उगे भीतरी घर की देहरी पर चित लिटा दिया। एक ने केमिष्ठा वस्त्र पहनकर ज्येष्ठा देरी का पूजन किया। एक ने मूयं-चन्द्र का चित्र उरेहा। एक ने बूँदें बकरे के गले में फूल-हार पहनाये। एक ने घी डाला। एक ने सोप की कँचुली को भाग में जलाया।

ये प्रथाएँ कृष्णा-गोदावरी-डंल्टावासियों की हैं। इससे पहले जिनकी चर्चा आई थी, वह तेलगाणु की थी।

बपू के माता-पिता विवाह के बाद विदाई के समय बेटी को गी भेंट करते थे।<sup>१</sup>

लोगों का विश्वास था कि गड़े हुए धन पर भूत-प्रेत (धन पिशाच) बैठ जाते हैं। इन धन-पिशाचों की शान्ति के लिए उन्हें पूजा तथा पनु-बलि आदि दी जाती थी।

इस सम्बन्ध में 'दात्रिनिवा' के दो पद्य ये हैं :

"न जाने यह किसका धन है गड़ा,

युगों से भूमि-गर्भ में पड़ा।

१. 'भोजराजीपर्व', अ० ६, पद्य ३६।

अगर इसका करना है खनन  
 प्रेत को तृप्त करो राजन् !  
 मान ली राजा ने यह बात  
 मेघ-वलि दी, पकवाया भात,  
 मुरामुर-संग तृप्त कर प्रेत,  
 खनामा अपिहित निधि का खेत ।”

घरनी में दबे हुए विक्रम-मिहासन के लिए राजा भोज ने भी ऐमा ही प्रेत-तपंग किया था ।

उन दिनों धनी-भानी लोग भौंति-भौंति के अच्छे-बच्छे स्वादिष्ट भोजन किया करते थे । ब्राह्मणों में भोजन-प्रियता उनसे भी बढ-बढकर थी । ‘ब्राह्मणो भोजन प्रिय.’ रेड्डी शैव थे । शाबद इन्हीं कारण वे मानाहारी नहीं थे । भ्रात्र भी शैव रेड्डी भास नहीं छूने । नेर बाटी वापु और नानु कोंडा वापु दोनों जाति के रेड्डी हैं और शैव हैं । वे नाधारणतया मास नहीं खाते । बृद्ध मोटाटी रेड्डी भी मास नहीं खाते । वैष्णव रेड्डी मास खाते हैं । ऐमा जान पडता है कि वैष्णवाचार्यों ने मास का निषेध नहीं किया । ‘प्रामुक्त माल्यदा’ में रेड्डीयो के खान-पान के सम्बन्ध में बर्चा है । इसमें बुद्ध जानकारी प्राप्त होती है । बदिपों के बरानों में विशेषतया ब्राह्मण-भोजन के सम्बन्ध में ही उल्लेख है । कोंडावीट्ट के निगना मंत्रों की संगन में श्रीनाथ ने कई बार गने तक भोजन किया, और उन मंत्रों के अन्नदान का वर्णन करके मानो वह शृणु-मुक्त हुए । कहते हैं :

“लांड, जुन्नु-खांड, दोमं, बड़े और सेवर्पा,  
 बाली गी के तावा घी, पंभभक्ष साम्बार,  
 साग दाम भूंग की’ मधु, शरवन अनार-रस  
 अमृत सबल में अमृत खंड पांडु दधि के साथ

१. भ्रात्र साहित्य में भूंग की बर्चा बराबर आती है, किन्तु दूसरी दालों की नहीं के बराबर है ।

द्वादशी की पारणा विधियों की कराने में

लिंग मंत्रों की मानो अभिन्नव रवमागद हैं ।”<sup>१</sup>

जान पड़ता है कि द्विजाति-वर्ग के लोग एकादशी व्रत का पालन निष्ठा के साथ करते थे । एकादशी-व्रत तथा द्वादशी पारणा का प्रतिपादन करने वाली रवमागद की कथा का प्रचार उस समय तक हो चुका था ।

भीमेश्वर पुराण अ० २, पद्य १४२ का भावार्थ इस प्रकार है :  
“शंभू का शर्बत, खांड, शकर या मिसरी, केलों के गुच्छे, गाय का दूध, भड्ढिगा (भक्ष्य), ताजा घी, दाल आदि का अक्षय आहार पेट-भर खूब खाया और अक्षुद्र सुधा की शान्ति की ।”

अन्यराज काशीखंड में भोज्य, चोष्य, लेह्य, और पेय भोजन-पदार्थों का वर्णन आया है । केले के पत्तों अथवा पलाश की पत्तियों तथा पत्त-पात्रों में भोजन-सामग्री परोसी जाती थी । भोजन के पदार्थों के नाम ये हैं—भापूम, लहह, इडली, बुट्टुम (गोजिये), पापड, इमट, गोल्तेडा, जिलेड्डा, दोने, सेर्यपी, अजर पोली, सारसत, बोतर कुट्टुम, चकली, मडगर मोरुण्डा, उड्डेक्षुण्ड, पिडगजूर, द्राशा, नारियम, केला, कटहन, जामुन, आम, लिडुच, घनार, कंध, कर्काधू, रगलम, मूंग की लिचटो, गन्ने का गुड, अरिगे, विसविगलय, चिरगडम, बडिदेम, बुलुपा, पुनिघरक, दालपूडो, चापट (चपाती), पायस (खीर), ककडी, कारवेन, क्रूमाण्ड, निष्पाय पटोतिका, कोशानावू, मिथू, दुम्बर वार्तार, विम्बिका, करविद, पालाट्टुवे (सालास), धन्द, बोदा, चारु, भाजी, चटनी, भुरता, वडियम्, कडियम्, गायम्, मुगन्धिन जल, उड्डाल, नानप्रोम, अणुम, मिनुम (उडद), बुट्टुक, नडुक निळमिडी, चानिमिडी, इम्पेडा, बडा, मुक्केरा, चक्केरा (शक्कर), धो, दोने, सोला, विट्टु, गट्टु, दाल निम्पन, दोप, पूया, मोदकम्, गुडोदकम्..... ।

राने की इन चीजों में से आधे से अधिक के अर्घ्य का पता नहीं

१. 'भीमेश्वर पुराण', अ० १, पद्य ११ ।

चलता। कुछ नाम तो लोग में भी नहीं पाये जाते। जिन्हें लोगों में लिया भी गया है, कोंगकारों ने उनके अर्थ खाने की वस्तु, पीने की वस्तु आदि लिखकर सन्तोष कर लिया है। इनमें से कुछ तो आज भी किसी-न-किसी तेलुगू सीमा में चालू हैं। ये भोज्य पदार्थ उन समय के जीवन में साधारणतया विशेष भवनों के भोजन जान पड़ते हैं। अनुसन्धान से और भी नई बातें मासूम हो सकती हैं।

### मनोरंजन

मनोरंजन के जो मेल-बूद, नाच-गान आदि साधन काव्यकाल में प्रचलित थे, वही रेड्डी युग में भी चालू रहे। कुछ नये भी चल पड़े।

राज-धराने में प्रायः ऐसे दुष्ट रहने ही हैं, जो राजा को तरह-तरह से सताया करते हैं। उन दिनों भी ऐसे ही लोगों को लक्ष्य करके कवि मचला ने लिखा था :

“बूढ़ों के शिकार के बहाने लोगों के घरों को गिरवा देते, बाज्र के लिए गिरगिट पकड़ने के नाम पर अंगूर के बागों को बरबाद कर डालते, मुंगवाजो के नाम पर गल्लो-कूचों में घूमकर पड़े-बरतन फोड़ते फिरते, शिकारी कुत्तों को लेकर रेवड़ में घुस पड़ते और भेड़-बकरियों पर हल्लाकर घुसा होने।”

‘भोज-रात्रीयम्’ के अ० १ पद्य ७६ में औरतों के जो खेल गिनाये गए हैं वे ये हैं—“अत्रिय, सोगरा, अच्चनगल्लु और मोमन गुना।” अत्रिय कौन-सा खेल है? कौश में यह शब्द नहीं मिलता। सोगरा<sup>१</sup> चौसर या कौड़ियों का खेल है। इसीको पगडामारे और पगडामाला भी कहा गया है। बहूनेरे कवियों ने अपने ग्रन्थों में इनका वर्णन किया है। धर्ती लोग इनकी पाटियाँ रखते थे। ‘अच्चनगल्लु’ आज भी छोटी बच्चियों से लेकर युवतियों तक सभी मेना करती हैं। यह खेल छोटी-छोटी गोल बकड़ियों

१. ‘कंपूर बाहु चरित्र’, अ० ३, पद्य २६१।

२. ‘चौसर’ का बदला हुआ रूप जान पड़ता है। सं० हि० सं०



या 'गजगा' के दानों से खेला जाता है। 'शोमनगुना' के खेल में एक पटिया पर दो बतारों में बने चौदह गड्डों में इमली के बीज भरकर खाली करते जाते हैं।

युवकों के खेलों में गेंद (कदुक-केलि) एक प्रसिद्ध खेल है। कदुक कपड़े की होती थी। रगड़ से बचाने के लिए उस पर प्रायः जानी बुन देते थे। पचास वर्ष पहले तक यह खेल हर बही मेला जाता था।

'पिल्लादीपाटा' नाम के खेल के सम्बन्ध में लिखते हुए श्रीनाथ ने कहा है कि यह खेल चाँदनी रातों में मेला जाता था। शब्द-भोग में इसे 'बीडाविशेष' कहकर मनोप कर लिया गया है। केवल पाँच सौ वर्ष पहले के अपने जातीय खेलों को न जानना हमारे लिए गेद का विषय है।

'भांड' - उन्टी-मीधी बातें कहकर लोगों को हँसाने वाले को तेलुगु में विकट-कवि कहते हैं। नेमक के विचार से भांडालिका भी ऐसा ही व्यक्ति है। उत्तर भारत में तो इस शब्द को सभी जानते हैं किन्तु तेलुगु में यह या इसका समानार्थवाची कोई शब्द प्रचलित नहीं है। किसी गद्य-वाक्य का उद्धरण यह है—“कुछ समय भांडिक-जनों की परिहात-भोष्टी में बट जाना।” भांडिक शब्द शब्द-भोग में नहीं है। 'समृत-शब्द-वल्पद्रुम' में भी नहीं है। किन्तु 'भरः' के अर्थ दिये हैं अस्मीन-भाषी। उस तरह की धारणा करने वाला 'भांडिक' हुआ। यही ठीक ही सरता है।

'विन्दुमती विद्या'—तेलुगु भोग 'शब्द-रत्नावर' अथवा समृत निघंटु 'शब्द-वल्पद्रुम' में यह शब्द नहीं है। 'विप्र-विनोद' एक विद्या है। इस विनोद में जादू के कुछ तमामों करके लोगों का मनोरंजन किया जाता था। यह विद्या उन दिनों ब्राह्मणों के अधिकार में थी। इसीलिए इसे 'विप्र-विनोद' कहा जाता था। ऐसे तेलुगु ब्राह्मण ही मात्रकल नहीं रहे। (विन्दुमती विद्या भी कुछ ऐसी ही रही होगी। हाथ की सफाई दिवाने में देवी-देवताओं के नाम जोड़ने में लोगों की अट्टा चढ़नी हीं टहरी।)

प्रहेलिका और प्रवृद्धिका दोनों पर्यायवाची शब्द हैं, जिनके अर्थ 'शब्द-रत्नावर' में यों हैं—“गुप्तार्थ रसने वाले वाक्य-विशेष।” पर यह

स्पष्ट नहीं है। तेलुगू में एक शब्द 'तट्ट' है, जिसे बच्चे से बूढ़े तक सभी जानते हैं। यह धर्ती बुभुवना या 'पहेली' है, जो उत्तर-दक्षिण सब जगह प्रचलित है। उदाहरण के लिए तेलुगू की एक बुभुवना लीजिए—  
 "ताने छाते पर सामने रखकर रोते हैं।" पहेली है प्याज, जिसे छीलने में झान्वां से पानी आ जाना है। कवि निरुमलेश ने मंथकों पहेली-पद्य लिखे हैं। ये बहुत प्रसिद्ध भी हैं; पर पता नहीं चलना कि यह निरुमलेश कौन हैं।

शिकार—कवियों ने विशेषकर राजाओं के ही शिकार का वर्णन किया है। शिकार में चिड़ियों का शिकार प्रधान था। धनी-भानी लोग बाज के द्वारा चिड़ियों का शिकार 'खेलने' थे। हिन्दी में तो शिकार के साथ करना, मारना, भेजना आदि कई क्रियाएँ चलती हैं, किन्तु तेलुगू में ऐसा नहीं है। शिकार के साथ भेजना ही प्रयुक्त होना है। जान पड़ता है आन्ध्र के लोग मान का त्याग करने के बाद भी शिकार को त्याग न सके। इसीलिए विनोद के रूप में शिकार को जारी रखा। इन तरह शिकार भी खेल हो गया। परन्तु आश्चर्य तो यह है कि संकड़ों कामों के साथ भी खेल का शब्द छुटा हुआ है। हमने और मगडने को भी खेल समझना बहुत ही अच्छी बात है।

श्रीनाथ ने 'निहानन द्वात्रिंशति' भा० १ पृ० २६ में राजा विजयपाल के शिकार का वर्णन एक बड़े पद्य में किया है। पद्य इस प्रकार है :

'केरिज' का करके घात,  
 'पूरेड' को घूत्तिसात्,  
 नीलकण्ठ नीचे डाल,  
 'वेत्तिमेल' को बेहाल,  
 'बेणु' को तुञ्ज कर,  
 बगलों का दर्प हर,  
 सोहू 'क्वक्केरा' में,  
 उगतवा करके सामे,

या 'गजगा' के दानों से खेला जाता है। 'घोमनगुना' के खेल में एक पटिया पर दो कतारों में बने चौदह गड्ढों में इमली के बीज भरकर खाली करते जाते हैं।

युवकों के खेलों में गॅद (कंदुक-केलि) एक प्रसिद्ध खेल है। कंदुक कपड़े की होती थी। रगड़ से बचाने के लिए उस पर प्रायः जाली बुन देते थे। पचास वर्ष पहले तक यह खेल हर जगह खेला जाता था।

'पिल्लाडीपाटा' नाम के खेल के सम्बन्ध में लिखते हुए श्रीनाथ ने कहा है कि यह खेल चाँदनी रातों में खेला जाता था। शब्द-कोश में इसे 'क्रीडाविशेष' कहकर सन्तोष कर लिया गया है। केवल पाँच सौ वर्ष पहले के अपने जातीय खेलों को न जानना हमारे लिए खेद का विषय है।

'भाङ्ग' - उल्टी-मोथी बातें कहकर लोगों को हँसाने वाले को तेलुगु में विकट-कवि कहते हैं। लेखक के विचार से भाङ्गालिका भी ऐसा ही व्यक्ति है। उत्तर भारत में तो इस शब्द को सभी जानते हैं किन्तु तेलुगु में यह या इसका समानार्थवाची कोई शब्द प्रचलित नहीं है। विती गद्य-वाच्य का उद्धरण ये है—“कुछ समय भाङ्गिक-जनों की परिहास-गोष्ठी में बट जाता।” भाङ्गिक शब्द शब्द-कोश में नहीं है। 'मस्त्रुत-शब्द-कल्पद्रुम' में भी नहीं है। किन्तु 'भङ्ग' के अर्थ दिये हैं भ्रष्टनील-भाषी। उस तरह की बातें करने वाला 'भाङ्गिक' हुआ। यही ठीक ही सचता है।

'विन्दुमती विद्या'—तेलुगु लोग 'शब्द-रत्नावर' अथवा मस्त्रुत निघण्टु 'शब्द-कल्पद्रुम' में यह शब्द नहीं है। 'विप्र-विनोद' एक विद्या है। इस विनोद में जादू के कुछ तमामों करके लोगों का मनोरंजन किया जाता था। यह विद्या उन दिनों ब्राह्मणों के अधिकार में थी। इसीलिए इसे 'विप्र-विनोद' कहा जाता था। ऐसे तेलुगु ब्राह्मण ही आजकल नहीं रहे। (विन्दुमती विद्या भी कुछ ऐसी ही रही होगी। हाथ की सफाई दिवाने में देवी-देवताओं के नाम जोड़ने में लोगों की अट्टा बबनी ही ठहरी।)

प्रहेलिका और प्रयत्निका दोनों पर्यायवाची शब्द हैं, जिनके अर्थ 'शब्द-रत्नावर' में यों हैं—“गुप्तार्थ रखने वाले वाच्य-विशेष।” पर यह

स्पष्ट नहीं है। तेलुगू में एक शब्द 'तट्ट' है, जिसे बच्चे से बूढ़े तक सभी जानते हैं। यह वही बुभौवन या 'पहेली' है, जो उत्तर-दक्षिण सब जगह प्रचलित है। उदाहरण के लिए तेलुगू की एक बुभौवत लीजिए—  
 "लाते खाते पर सामने रखकर रोते हैं।" पहेली है प्याज, जिसे छीलने में आँखों से पानी आ जाता है। कवि तिरुमलेश ने सँकड़ी पहेली-पद्य लिखे हैं। ये बहुत प्रसिद्ध भी हैं; पर पता नहीं चलता कि यह तिरुमलेश कौन हैं।

शिकार—कवियों ने विशेषकर राजाओं के ही शिकार का वर्णन किया है। शिकार में चिड़ियों का शिकार प्रधान था। धनी-मानी लोग बाज के द्वारा चिड़ियों का शिकार 'खेलते' थे। हिन्दी में तो शिकार के साथ करना, मारना, खेलना आदि कई क्रियाएँ चलती हैं, किन्तु तेलुगू में ऐसा नहीं है। शिकार के साथ खेलना ही प्रयुक्त होता है। जान पड़ता है आन्ध्र के लोग मांस का त्याग करने के बाद भी शिकार को त्याग न सके। इसीलिए विनोद के रूप में शिकार को जारी रखा। इस तरह शिकार भी खेल हो गया। परन्तु आश्चर्य तो यह है कि सँकड़ी कामों के साथ भी खेल का शब्द जुड़ा हुआ है। हँसने और भगड़ने को भी खेल समझना बहुत ही अच्छी बात है।

श्रीनाथ ने 'सिंहासन द्वात्रिंशति' भा० १ पृ० २६ में राजा विजयपाल के शिकार का वर्णन एक बड़े पद्य में किया है। पद्य इस प्रकार है :

'केरिज' का करके घात,  
 'पूरेड' को धूलिसात्,  
 नीलकण्ठ नीचे डाल,  
 'बेलियेल' को बेहाल,  
 'बेगुह' को चुञ्ज कर,  
 बगलों का दर्प हर,  
 लोह 'कक्केरा' से,  
 उगलवा करके खासे,

या 'गजगा' के दानों से खेला जाता है। 'धोमनगुना' के खेल में एक पटिया पर दो कतारों में बने चौदह गहड़ों में इमली के बीज भरकर खाली करते जाते हैं।

युवकों के खेलों में गेंद (कदुक्-केलि) एक प्रसिद्ध खेल है। कदुक् कपड़े की होती थी। रगड से बचाने के लिए उस पर प्रायः जानी बुन देते थे। पचास वर्ष पहले तक यह खेल हर बही खेला जाता था।

'पिल्लाचीपाटा' नाम के खेल के सम्बन्ध में लिखते हुए श्रीनाथ ने कहा है कि यह खेल चौदनी रातों में खेला जाता था। शब्द-कोश में इसे 'जीडाविशेष' कहकर मन्त्रोप कर लिया गया है। केवल पाँच मी वर्ष पहले के अपने जातीय खेलों को न जानना हमारे लिए भेद का विषय है।

'भाड़' - उल्टी-सीधी बातें कहकर लोगों को हँसाने वाले को तेलुगु में विकट-कवि कहते हैं। लेखक के विचार में भाडालिवा भी ऐसा ही व्यक्ति है। उत्तर भारत में तो दम शब्द को सभी जानते हैं किन्तु तेलुगु में यह या इसका समानार्थवाची कोई शब्द प्रचलित नहीं है। किसी गद्य-वाक्य का उद्धरण यह है— "कुछ समय भाडिक-जनों की परिहास-भोछी में कट जाना।" भाडिक शब्द शब्द-कोश में नहीं है। 'मस्हत-शब्द-कल्पद्रुम' में भी नहीं है। किन्तु 'भड' के अर्थ दिये हैं भरलील-भाषी। उस तरह की बातें करने वाला 'भाडिक' हुआ। यही ठीक ही सचता है।

'विन्दुमती विद्या'—तेलुगु भाषा 'शब्द-रत्नावर' अधिका मन्त्रन निघण्टु 'शब्द-कल्पद्रुम' में यह शब्द नहीं है। 'विप्र-विनोद' एक विद्या है। दम विनोद में जादू के कुछ तमामों करने लोगों का मनोरंजन किया जाता था। यह विद्या उन दिनों ब्राह्मणों के अधिकार में थी। इसीलिए इसे 'विप्र-विनोद' कहा जाता था। मने तेलुगु ब्राह्मण ही धारकन नहीं रहे। (विन्दुमती विद्या भी कुछ ऐसी ही रहो होगी। हाथ की सफाई दिग्गाने में देवी-देवताओं के नाम जोड़ने में लोगों की थडा बढ़नी ही ठहरी।)

प्रहेलिका और प्रवह्लिका दोनों पर्यायवाची शब्द हैं, जिनके अर्थ 'शब्द-रत्नावर' में यों है— "गुप्तार्थ रखने वाले वाक्य-विशेष।" पर यह

स्पष्ट नहीं है। तेलुगू में एक शब्द 'तट्ट' है, जिसे बच्चे से बूढ़े तक सभी जानते हैं। यह वही बुभौवल या 'पहेली' है, जो उत्तर-दक्षिण सब जगह प्रचलित है। उदाहरण के लिए तेलुगू की एक बुभौवल लीजिए—  
 "लाते खाने पर सामने रखकर रोते हैं।" पहेली है प्याज, जिसे धीलने में घोंघों से पानी धा जाता है। कवि तिरुमलेसा ने सैंकडों पहेली-पद्य लिखे हैं। ये बहुत प्रसिद्ध भी हैं; पर पता नहीं चलता कि यह तिरुमलेसा कौन हैं।

शिकार—कवियों ने विशेषकर राजाओं के ही शिकार का वर्णन किया है। शिकार में चिड़ियों का शिकार प्रधान था। धनी-भानी लोग बाज के द्वारा चिड़ियों का शिकार 'खेलने' थे। हिन्दी में तो शिकार के साथ करना, मारना, खेलना आदि कई क्रियाएँ चलती हैं, किन्तु तेलुगू में ऐसा नहीं है। शिकार के साथ खेलना ही प्रयुक्त होता है। जान पड़ता है आन्द्र के लोग माल का त्याग करने के बाद भी शिकार को त्याग न सकें। इसीलिए विनोद के रूप में शिकार को जारी रखा। इन तरह शिकार भी खेल हो गया। परन्तु आश्चर्य तो यह है कि सैंकडों कामों के साथ भी मेन का शब्द जुड़ा हुआ है। हँसने और भगड़ने का भी खेल समझना बहुत ही अच्छी बात है।

श्रीनाथ ने 'सिंहासन द्वाविदाति' भा० १ पृ० २६ में राजा विजयपाल के शिकार का वर्णन एक बड़े पद्य में किया है। पद्य इस प्रकार है :

'किरिज' का करके घात,  
 'पूरेड' को घृतिसात्,  
 नीतरुण्ठ नीचे डाल,  
 'वेसियेल' को बेहाल,  
 'बेगुह' को लुप्त कर,  
 बगलों का दपं हर,  
 लोहू 'बबकेरा' से,  
 उगतवा करके छाते,

या 'गजगा' के दानों से खेला जाता है। 'श्रीमनगुना' के खेल में एक पटिया पर दो बतारों में बने चौदह गड्ढों में इमली के बीज भरकर खाली करते जाते हैं।

युवकों के खेलों में गेंद (कंदुक-केलि) एक प्रसिद्ध खेल है। कंदुक बपड़े की होती थी। रगड़ से बचाने के लिए उस पर प्रायः जाली बुन देते थे। पचास वर्ष पहले तक यह खेल हर जगह खेला जाता था।

'पिल्लादीपाटा' नाम के खेल के सम्बन्ध में लिखते हुए श्रीनाथ ने कहा है कि यह खेल चाँदनी रातों में खेला जाता था। शब्द-कोश में इसे 'बीडाविरोध' कहकर सन्तोष कर लिया गया है। केवल पाँच सौ वर्ष पहले के अपने जातीय खेलों को न जानना हमारे लिए शर्म का विषय है।

'भांड'—उन्टी-मीठी बातें कहकर लोगों को हँसाने वाले को तेलुगु में विकट-कवि कहते हैं। लेखक के विचार से भांडालिका भी ऐसा ही व्यक्ति है। उत्तर भारत में तो इस शब्द को सभी जानते हैं किन्तु तेलुगु में यह या इसका समानार्थवाची कोई शब्द प्रचलित नहीं है। किसी गद्य-काव्य का उद्धरण ये है—“कुछ समय भांडिक-जनों की परिहास-गोष्ठी में बट जाता।” भांडिक शब्द शब्द-कोश में नहीं है। 'मसृत्त-शब्द-कलाद्रुम' में भी नहीं है। किन्तु 'भंड' के अर्थ दिये हैं भद्रलील-भाषी। उस तरह की बातें करने वाला 'भांडिक' हुआ। यही ठीक हो सकता है।

'बिन्दुमती विद्या'—तेलुगु कोश 'शब्द-रत्नाकर' अथवा मसृत्त निघण्टु 'शब्द-कलाद्रुम' में यह शब्द नहीं है। 'विप्र-विनोद' एक विद्या है। इस विनोद में जादू के कुछ तमामों करके लोगों का मनोरंजन किया जाता था। यह विद्या उन दिनों शास्त्रियों के अधिभार में थी। इसीलिए इसे 'विप्र-विनोद' कहा जाता था। ऐसे तेलुगु शास्त्रियों ही आज तक नहीं रहे। (बिन्दुमती विद्या भी कुछ ऐसी ही रही होगी। हाथ की सफाई दिगाने में देवी-देवताओं के नाम जोड़ने में लोगों की श्रद्धा बढ़नी ही टहरी।)

प्रेक्षिका और प्रयत्निका दोनों पर्यायवाची शब्द हैं, जिनके अर्थ 'शब्द-रत्नाकर' में यों हैं—“गुप्तापं रत्नने वाले चाप-विरोध।” पर यह

देकर उनकी जीवन-विधि के सम्बन्ध में थोड़ा-बहुत लिख देना चाहिए। 'पक्षी विशेष', 'कीड़ा विशेष'-मात्र लिख देने से क्या लाभ? अंग्रेजी में आज नहीं, आज से डेढ़ सौ साल पहले, बल्कि उससे भी पहले, एक-दो नहीं सैकड़ों सचित्र पुस्तकें इस विषय पर लिखकर प्रकाशित की जा चुकी थी। हमारे देश में किसी एक ने भी पक्षियों और उनके जीवन की ओर ध्यान नहीं दिया? किसी एक ने भी किसी ऐसी पुस्तक का अनुवाद ही नहीं किया? बच्चों की रीडरों की बात की छोड़ दीजिए, उनकी इसमें गिनती नहीं। नतीजा यह है कि प्राचीन कवियों के लिखने पर भी हमारे 'कोशकार' बहाना करके बच निकलते हैं और हम अर्थ को जानने-समझने से वंचित रह जाते हैं।

प्राचीन कवियों में नाचन्ना मोमयाजी से लेकर अनेक कवियों ने शिकार का वर्णन किया है। किन्तु चिड़ियों के शिकार पर शायद ही किसी ने लिखा हो। अतः पक्ष का विशेष मूल्य है।

'जट्टी' माने पहलवान। किन्तु उन दिनों सैनिकों को भी जट्टी ही कहा जाता था। सैनिक प्रायः पहलवानी भी करते रहे हैं। बाद में आये पाश्चात्य अंग्रेज-कंध सैनिकों की तरह उस समय हमारे यहाँ कोई बरदी नहीं थी। फिर भी उनकी पोशाक में कुछ विशेषता जरूर थी। वे सिर पर तो तुर्रदार साफ़ा बाँधते थे और कमर में काछ खींचकर पीछे टोबी हुई धोती अथवा चट्टी या जाँघिया पहनते थे। कमर में पट्टी लपेटते थे, जिसे दट्टी कहा जाता था। फिर उस दट्टी में छुरी, कटार और शरीर पर एक चुस्त अघबहियाँ, तथा पीठ पर ढाल; साधारणतया यही उस समय के सैनिकों की पोशाक थी।

एक तेलुगू कहावत है कि "जब तक 'जट्टी' सजे-सजे, तब तक शत्रु का गोला छूट गया।" जान पड़ता है कि युद्ध के समय सिपाहियों को सजने-भजाने में काफी समय लगता था, और वे अच्छी तैयारी के साथ मैदान में उतरते थे। सैनिकों के दो भेद थे, (१)—राज लेंकधु (२) बंडुवार। कहावत है कि "बंडु को कटार से बढ़कर और क्या चाहिए?"



'कोवकर' के दिल दहला,  
 बनमुगों को जला-जला,  
 मँना की झकड़ करके डीलो,  
 चमरू की भी चमड़ी छोली,  
 तीतर को तीतर-बटोर कर,  
 बटेरों को चीर-फाड़ डेरकर  
 बाघ उड़ता आकास  
 लौटा राजा के पास !

इस पद्य में आये हुए नीलकण्ठ, बगला, बनमुगों, मँना, तीतर आदि पक्षियों को तो गाँव के रहन-सहन वाले जानते हैं। हाँ, शहर वाले मल-बत्ता इन सभी को नहीं पहचानते। परन्तु शेष नामों वाले पक्षियों में तो गाँव वाले भी परिचित नहीं। 'केरिज' को 'शब्द-रत्नाकर' में 'एक पक्षी' कहकर बस कर दिया गया है। 'पूरेड' को भी पक्षी विशेष भर ही कहा है। 'कोवकर' भी फिर 'पक्षी विशेष' भर ही है। 'चमरवोतु' शब्द कोश में नहीं है। किन्तु चमर का अर्थ 'चमरू कौघा' दिया हुआ है। यह पक्षी कोए में छोटा होता है। रंग इसका नीला होता है। दुम लम्बी होती है। स्वर भी कोए की-सी गग-खग का-सा निकलता है। तीतर को लोग पिजड़ों में पालनर सुबह-साम गेती में ले जाते हैं। तीतरों को लड़ाया भी जाता है। जंगल में जान विद्याकर सधे हुए तीतर को वहाँ छोड़ने हैं। उसके बोलने ही उगकी आवाज पर जंगली तीतरों के झुण्ड उससे लड़ने पहुँचते हैं और जाल में फँग जाते हैं। स्व-जाति से लड़ने वाली चिड़ियों में मुगाँ, तीतर और बुनबुन विशेष के नाम विशेष रूप से लिये जा सकते हैं।

तेनुगू में पक्षियों पर कोई ग्रन्थ ही नहीं। मसूत में 'दयेन शास्त्र' के नाम से एक पुस्तक है। उगमें जो लिखा है उगकी उगभने वाले मसूत विद्वान् ही आज वहाँ हैं? शब्द-कोशों में उन पक्षियों के चित्र

सहम गया। बोला, "राजा का सिपाही हूँ, इसलिए यह तेरा दोष है।"

अवम्या में मैं तुमने छोटा ज़रूर हूँ, पर हूँ एकागवीर! मुझे ललकारने पर, मेरी हँसी उड़ाने पर, चिढ़ाने पर, मूर्खों पर ताव देने पर मेरा तुम्हें घर धसीटना, कोई अनुचित है ?

ऐसी दशा में द्वन्द्व-युद्ध की आज्ञा मिल जाती थी। इस द्वन्द्व के कुछ विशेष नियम भी होने थे। एक ने अपनी जो शर्तें रखी, वे इस इकार हैं :

"निगाने की लकड़ी गाड़ना, जमीन लेना, चोट बचाना, बाजू बचाना, बच उछलना ललकारना . . . . . छिपना, हकना . . . . . घर धसीटना, एडो मारना, अँगुली तोड़ना, अदल-बदल करना, सिर नवाकर मारना, द्वन्द्व-युद्ध के नियमों के अत्रुत्तार वे सब किये जा सकते हैं।"

इस पर प्रतिस्पर्धा की जवाबी शर्तें ये हैं

"होश में रहकर, निगाह ठिकाने रखकर, सूकर-दृष्टि से घुडककर, गर्जन न करके, मार्जाल दृष्टि से कूच न करके टक्कर लेने को तैयार रहो !"

इसी प्रकार मल्लूकदृष्टि, गुध्रदृष्टि, फण्हदृष्टि, कपिदृष्टि, चोरदृष्टि, गार्दूल दृष्टि आदि का बखान करके, कहा है कि दूरों की शर्तें यही हैं। इस प्रकार सवाल-जबाब हुआ करने, भीड़ बढ जाती। कुछ लोग एक के समर्थक बनते तो कुछ दूमरे के, गडबड मच जाती। तब राजा आगे बढकर सबको चुप होने का आदेश देने और बीच में गोल जगह बनाकर चारों तरफ लोगों को बिठाने। कोई गडबड न करे, इसलिए बीच-बीच में चार सिपाहियों को खडा करके लडने वालों को आगे बुलाया जाना। उनके चारों ओर और बीच में सिपाहियों को खडा करके तलवारें मँगाई जाती। उनमें में बराबर नाप की दो तलव रें लेकर और उनमें नीवू पहनाकर दोनों के हाथ में एक-एक तलवार दी जाती। फिर वे धीर धीरता के साथ एक-दूमरे पर झपटते।

इस वर्णन में जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है, उनमें से कुछ के अर्थ तो शब्द-कोशों में भी नहीं मिलते। जैसे चौबल, दाण्डि, अस्त्र

इस कहावत से विदित होना है कि चटार ही बटु का वास हथियार था ।<sup>१</sup>

एक बार वसंतोत्सव के अवसर पर एक राजलंबा अपनी टोली से बिगुडकर भीड़-भाड़ में से होता हुआ मूर्छों पर पड़ा गुलाब आदि पाँधना-पाँधना चला जा रहा था । सामने में एकागवीर नामक दूसरा सैनिक आ रहा था । वह बिगडकर बोला—“क्यों रे, आगे नहीं देगता ? बड़ा-बड़ी करके मेरे आगे मूर्छों पर ताव दे रहा है । जानता नहीं मैं एकागवीर हूँ ?” इतना सुनना था कि उन सिपाही को भी ताव धा गया । दोनों भिड़ पड़े । दोनों द्वन्द्व-युद्ध के लिए तैयार हो गए । बटुनेरा बोच-बचाव किया गया, पर वे नहीं माने । यहाँ तक कि स्वयं राजा का कहा भी नहीं माना । अन्त में राजा ने सबके सामने दोनों को तलवारों से द्वन्द्व-युद्ध की अनुमति दी । हार-जीत के नियंत्रण के लिए एक सैनिक ने अपनी कुछ शर्तें रखी । फिर दूसरे ने जवाबी शर्तें रखी । गोरवी गोपराजु ने इन शर्तों का वर्णन इस प्रकार किया है :

“अकारण रुठकर, अचकर आगे आने पर दुम दबाकर भागना नहीं, हाँ ! एक दूसरे सिपाही ने तलवारा ।”

एक और घटना का वर्णन इस प्रकार दिया हुआ है -

भगवान् के भण्डार का एक सिपाही प्रसाद पा-पाकर भंगा बना हुआ था । एक दिन दगंजापियों की भीड़ में उसके पैर पर किसी बलवार का पैर पड़ गया । वह बिगडकर कहने लगा—“क्यों रे जानता नहीं कि मैं बटुभलू हूँ !” बलवार ने कहा, “मैंने जान-बूझकर ऐसा नहीं किया । भीड़-भाड़ में पैर लग गया है ।” सिपाही ने डाँटा—“जान-बूझकर ही तो तूने मुझे साँ मारी है, ‘अनजाने हो गया’ कहने भर से मैं तुझे छोड़ छोड़ ही दूँगा ? यों कहकर धरका-मुरही करने लगा । सब बलवार भी बिगड गया और बापें हाथ की चटार बापें हाथ में लेकर बोला—“हाँ ! मैंने सात चटार मारी है, बोल क्या कर लेगा तू ? सिपाही १. ‘सिंहासनप्रतिष्ठा’, भा० २, पृष्ठ २२ ।

सहम गया। बोला, "राजा का सिपाही हूँ, इसलिए यह तेरा दोष है।"

श्रवस्मा मे मैं तुमसे छोटा जहर हूँ, पर हूँ एकागवीर! मुझे लनकारने पर, मेरी हैनी उड़ाने पर, चिड़ाने पर, मूँछों पर ताव देने पर मेरा तुम्हें घर घसीटना, कोई अनुचिन है ?

ऐसी दगा में द्वन्द्व-युद्ध की आज्ञा मिल जाती थी। इस द्वन्द्व के कुछ विशेष नियम भी होने थे। एक ने अपनी जो शर्तें रखी, वे इस इकार हैं :

"निशाने की लकड़ी गाड़ना, जमीन लेना, चोट बचाना, बाजू बचाना, बच उछलना ललकारना.....दिपना, रकना.....घर घसीटना, एड़ी मारना, भँगुली तोड़ना, श्रवल-बदल करना, सिर नवाकर मारना, द्वन्द्व-युद्ध के नियमों के अनुसार ये सब किये जा सकते हैं।"

इस पर प्रतिस्पर्धा की जवाबी शर्तें ये हैं :

"होश में रहकर, निगाह ठिकाने रखकर, सूकर-दृष्टि से घुडककर, गर्जन न करके, भार्जाल दृष्टि से कूच न करके टक्कर लेने को तैयार रहो !"

इसी प्रकार मल्लूकदृष्टि, शृघ्रदृष्टि, फणितदृष्टि, कपितदृष्टि, चोरदृष्टि, शार्ङ्गल दृष्टि आदि का बन्धान करके, कहा है कि शूरो की शर्तें यही हैं। इस प्रकार सवाल-जवाब हुआ करने, भीड़ बढ जाती। कुछ लोग एक के ममर्षक बनने तो कुछ दूसरे के, गडबड मच जाती। तब राजा आगे बढ़कर सबको चुप होने का आदेश देने और बीच में गोल जगह बनाकर चारों तरफ लोगों को बिठाने। कोई गड़बड़ न करे, इसलिए बीच-बीच में चार मिपाहियों को खड़ा करके लड़ने वालों को आगे बुनाया जाता। उनके चारों ओर और बीच में मिपाहियों को खड़ा करके तनवारें मँगाई जाती। उनमें में बराबर नाप की दो तलवारें लेकर और उनमें नीबू पहनाकर दोनों के हाथ में एक-एक तलवार दी जाती। फिर वे वीर धीरता के साथ एक-दूसरे पर भपटते।

इस वर्णन में जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है, उनमें में कुछ के अर्थ तो शब्द-कोशों में भी नहीं मिलते। जैसे चौबल, दाणि, अस्व

आदि के । मल्लूक दृष्टि, गृध्रदृष्टि, फणितृष्टि, कपितृष्टि, चोरदृष्टि, शार्ङ्गल-  
दृष्टि आदि शब्दों के शब्दार्थ स्पष्ट होने पर भी तात्पर्य पत्ते नहीं पड़ता ।

बाजीगरी—बाजीगरी बाजारू शब्द है । इसे तेलुगू में 'गारडी  
विद्या' कहते हैं । पहले इन्द्रजाल भी कहा जाता था । 'विश्व विनोद' भी  
इसीका नाम है । लगभग ४० वर्ष पूर्व इंगलिस्तान के समाचार-पत्रों  
में इस विषय पर चर्चा छिड़ी थी । कोई डेढ़ सौ वर्ष पुरानी बात है ।  
एक भ्रष्ट ने हिन्दुस्तान के किसी स्थान पर बाजीगरों का यह समाशा  
देखा था । वह इतना प्रभावित हुआ कि उसी दिन उसने एक लेख लिखकर  
अपने देश के समाचार-पत्रों को भेज दिया । बाजीगर ने एक लम्बे  
रस्से को हवा में आकाश की ओर फेंककर वगैर किसी आधार के रस्से  
को सीधा लटका दिया, फिर उसको पकड़कर ऊपर चढ़ता गया और  
कुछ ऊपर जाकर गायब हो गया । थोड़ी देर में उसके शरीर के लोथड़े  
हाथ-पैर आदि जमीन पर आ-आकर गिरने लगे । फिर थोड़ी देर के  
बाद बाजीगर ज्यों-का-त्यों रस्से से उतर आया । इंग्लैण्ड-निवागियों ने  
इसे निरा गपोडा समझा । कुछ लोगों ने एतान किया कि अगर उस  
आदमी को इंगलिस्तान लाया जाय तो आने-जाने का खर्च और हजारों  
पौंड इनाम में दिये जायेंगे । यह तो भ्रष्टों के जमाने की बात है ।  
कविवर कोरवि गोपराजु ने मुसलिम-युग में भी पढ़ने इसी प्रकार  
की जादुई घटना का वर्णन किया है । वह लिखते हैं :

"राजा के दरबार में एक बार एक व्यक्ति आया । उसके साथ में  
एक स्त्री भी थी । उसे उसने अपनी पत्नी बतलाया । राजा ने कहा—  
'देवताओं पर आक्रमण हुआ है; आकाश में उनकी ओर से सड़ने जा  
रहा हूँ । मेरे सौतेले लक मेरी इस पत्नी को अपने आश्रय में रख लें ।'

फिर एक रस्से को आकाश की ओर फेंककर उसके सहारे वह ऊपर  
पड़ गया और देखते-ही-देखते गायब हो गया । थोड़ी ही देर में उसके  
पैर, हाथ, घड़, सिर एक-एक करके अलग-अलग जमीन पर गिर पड़े ।  
तब उसकी स्त्री ने आगे बढ़कर कहा कि 'मेरा पति आकाश-मुझ में

मारा गया है, मैं उसके अंगों के साथ चिता में बैठकर सती हो जाऊँगी।' राजा को अनुमति देनी पड़ी। थोड़ी देर बाद वह व्यक्ति उसी रस्ती पर से नीचे उतरकर अपनी स्त्री को माँगने लगा। राजा ने दुखी होकर सती की सब बातें बता दी। तब इन्द्रजाली ने कहा—'हे नाथ, मैं तो जादूगर हूँ। मैंने तमाशा दिखाकर आपसे इनाम पाने भर के लिए ही यह सब किया है'।<sup>१</sup>

यह तो इन्द्रजाल हुआ। इसके सिवा एक महेन्द्रजाल भी हुआ करता था। इसीको 'जल-स्तम्भ' भी कहते थे। प्राचीन भारत की चौमठ विद्याओं में वेद, शास्त्र, पुराणों के साथ वास्तु, आयुर्वेद, संगीत, नृत्य, मन्त्रविद्या, तन्त्रविद्या, जुआ, इन्द्रजाल, महेन्द्रजाल, अष्टावधान, बहुरूप-विद्या, विद्वेषक विद्या इत्यादि सभी सम्मिलित हैं।<sup>२</sup>

मेले—'क्षीडाभिरामम्' में लिखा है कि वाक्तीय राज्य में भी थी काकुल का मेला बहुत प्रसिद्ध था। कविवर मंचना ने 'वेयूर वाट्टु चरित्र' में लिखा है कि थी काकुल के मेले के अन्दर गुण्डामन्त्री ने भीड़ पर भाडा आदि सिक्के तथा रत्न आदि बखेर दिये। जान पड़ता है कि उन दिनों राजा-महाराजा तथा धनी-मानी मेले-ठेले के अवसर पर भीड़ पर पैसे फेंककर गरीबों को दान-पुण्य किया करते थे।

जुआ वाक्तीयों के काल में भी चालुक्यों और रेड्डियों के राज्य-काल की तरह ही प्रचलित रहा। एक जुआरी अपनी धनुराई का बखान इस प्रकार करता है—'लक्कि मुष्टि या नक्कीमुट्टी एक प्रकार का बहुत प्रसिद्ध जुआ है, जो आज तक जारी है। एक व्यक्ति कुछ कौड़ियों या कंवडी आदि कोई ऐसी ही चीज़ लेकर आता है। चार कौड़ियों का एक 'उदा' (गंडा) कहलाता है ! मुट्टी बांधे व्यक्ति के पाम रोप तीनों जुआरी और अन्य जन रुपये-बैसो<sup>३</sup> के ढेर लगा देते हैं।

१. 'सि० द्वा०', भा० २, पृष्ठ १००।

२. 'सि० द्वा०', भा० २, पृ० १०२।

३. या कौड़ियों आदि के, सं० हि० सं०।

'उहे' लगाने पर अन्त में यदि चार बचे तो 'मष्टा' होगा, तीन बचे तो तिग्गा, दो पर दुग्गा और एक बचने पर नक्का। इस प्रकार नक्का से मष्टा तक बाजी होने के कारण ही इसे 'नक्कामुष्टि' कहते थे। यही शब्द बदलकर 'लक्कामुष्टि' बन गया। यदि मुट्टी बाँधने वाले के लिए पाली छोड़ी गई संख्या ही निकले तो वह सब के पैसे ले लेगा, नहीं तो जिसकी संख्या निकलेगी, उसे उतने पैसे दे देगा। बाकी लोगों के छोड़ देगा। जुमारी ने इन संख्याओं के जो नाम दिये हैं, वे कुछ भिन्न हैं। अनुमान यही है कि काना शब्द चार के लिए, तिग्गा तीन के लिए, जोगरा दो के लिए और नदी एक के लिए आया है। सेत की विधि और मख्या के क्रम से भी यही प्रतीत होना है। लक्कामुष्टि उत्तर भारत में भी चलती है, वहाँ 'नक्की दुग्गा' कहते हैं और इसे देहाती प्रायः सभी जगह सेना करते हैं। विचित्र बात तो यह है कि यह और तेने बहुत-से और सेत भारत-भर में एक ही नाम से और एक ही रूप में सेने जाने हैं तथा लोग उनमें समान रूप से आनन्द लेने हैं। दुग्गा-तिग्गा की हिन्दी गिनती तेलुगू में भी चालू है। ऐसा तो नहीं कि यह सेल उत्तर से ही दक्षिण में गया हो ?

शतरंज—एक पद्य—“मैं शतरंज का बड़ा माहिर हूँ। हाथी, घोड़े, खड़ीर, रथ, प्यादे सबको मार दूँगा।”<sup>१</sup>

इस सेल का जन्म भारत में ही हुआ है। हिन्दुओं से अरबों ने सीखा। शतरंज में हाथी, घोड़े, प्यादे आदि के साथ 'रथ' के भी मोहरे हैं। हिन्दी क्षेत्र के कुछ भागों में इसे 'नक्कीमुट्टी', 'नाक्कीमुट्टी' या 'नाक्की दूधा' कहते हैं। एक-दो-तीन-चार = नक्की या नाक्की, दूधा या दुक्का, तीसा या तिक्का, घोर मुट्टी या मुट्टी। गर्मियों की घसम दुपहरियों में किसान छाँच-सते बँठकर खेलते हैं। पत्तों-बौड़ियों की जगह रँड के बोज, मट्टए के कोपने, मूँगफली या मेम के बीजों का उपयोग भी हुआ करता है।—सं० हि० सं०।

२. 'सि० द्वा०', भा० २, पृ० ५५।

होने थे। चतुरंग सेना तभी पूरी हो सकती थी। लेकिन अरबों के पास रथ नहीं थे। उनके लिए ऊँट ही प्रधान है। रथ की जगह उन्होंने ऊँट रथ लिये। अरबों से यूरोप ने सीखा। यूरोप में हाथी नहीं होते, इसलिए यूरोप वालों ने 'काँस्ट' (Castll) रख लिये। चौपड़ इसके बाद ही चला था।

**शेर-बकरी**—इस खेल का प्रचार आन्ध्र में अत्यधिक है। मकानों के दानाओं में फसों पर, पत्थरों पर और मन्दिरों में भी शेर-बकरी के घर खुदवाये जाने थे। लोग इस खेल को बड़ी दक्षता के साथ खेला करते थे। आज भी, जब कि ताग के खेलों का ही हर वही बोल-बाला है, जहाँ-तहाँ इस खेल के माहिर बड़े-बूढ़े मिल जाते हैं। अब भी अगर इस खेल के पूरे व्योरे को नकलों के साथ पुस्तकालय में प्रकाशित नहीं किया गया तो जिस प्रकार हमारे पूर्वजों के दो-चार सौ साल पुराने खेल आज हमारी समझ में परे हो रहे हैं, उसी प्रकार यह खेल भी ताग के पत्तों की दाढ़ में बह जायगा।

**चौपड़**—बोस सान पहले तक यह खेल तेलगाने और रायल सीमा के अन्दर घड़ल्ले में खेला जाता था। स्त्री-पुरुष, बच्चे-बूढ़े सभी खेलते थे। पर, अब इसका प्रचार कम हो गया है। अब 'बोगरार' या तो चौपड़ के माने 'विशेष बाल-झोडा' निम्न दोगे, या नाम ही गन्द-मोग में उड़ाकर अपनी जान बचावेंगे। यह कोई अच्छा दग नहीं है। अनु-संधान करने वालों की जानकारी के लिए हमने इनकी बात निम्न दी है।

### शेर-बकरी के विविध खेल

शेर-बकरी के प्रसिद्ध खेल के सम्बन्ध में एक कवि ने कहा है कि यह खेल तीन प्रकार का होता था। शेरों और बकरियों की संख्या भी अनग-अनग प्रकार के खेल में अनग-अनग होती है। पर हर खेल में बकरीयों द्वारा शेर को बेधम करने को चेष्टा की जाती है।

(१) एक प्रकार का खेल एक शेर और तीन बकरीयों में खेला जाता

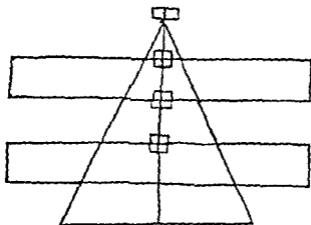


है। शेर के लिए बड़ी कंकड़ी और बकरों के लिए छोटी कंकड़ियाँ रख ली जाती हैं। शेर को चोटी पर बिठाया जाता है। बकरी के पास पहुँचने पर शेर छलांग मारकर उसे मार देता है। जब शेर की पीठ पर और कोई बकरा न हो, तो बकरे वाला पहले तीसरे घर पर बकरा बिठाता है और फिर शेर के पास वाले घर में दूसरे बकरे को बिठाता या पहुँचा देता है। शेर के बढ़ने के लिए घर न रहने पर खेल खत्म हो जाता है।



चित्र न० १

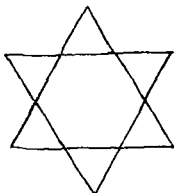
(२) दूसरी प्रकार के खेल में चार शेर और मोलह बकरे होते हैं। शेरों को बीच की लकीर पर एक के नीचे दूसरा बिठा दिया जाता



चित्र नं० २

है। बकरे वाला पहले पास के घर को छोड़कर दूसरे घर पर बकरे को बिठाता है। फिर शेर वाला एक घर बढ़ता है तब बकरे वाला दूसरे बकरे को बिठा देता है। इसमें भी एक ही लकीर पर बकरे की पीठ पर कोई और बकरा न होने पर शेर फाँदकर उसे मार देता है। इस प्रकार सोलहो बकरो को बिठा चुकने के बाद, इस बीच में मर-खपकर जो बकरे बच रहते हैं, उन्हें बकरे वाला इस प्रकार हटाता और बढ़ाता है कि शेर राह न पाकर बेवस हो जाय। बकरे मरते ही जायँ और जीत की आशा न रहे, तो बकरे वाला हार मान लेता है, और बाजी समाप्त हो जाती है। ऐसी हालत में जीत शेर वाले की होती है और अगर शेर ही बँध जाय, तो बकरे वाले की जीत मानी जायगी।

(३) तीसरे प्रकार के खेल का पता मुझे नहीं था। मारेडपल्ली सिकन्दराबाद-निवासी श्री ताडेपल्ली कृष्णमूर्ति ने हमें इसकी बाबत लिख भेजा है। इसमें तीन शेर और चौदह या पन्द्रह बकरे होते हैं। पहले शेर वाला एक शेर बिठा देता है। फिर बकरे वाला बकरे बिठाता है



चित्र नं० ३

दूसरे शेर एक-एक करके तीन बाजियों में आते हैं। खेल आगे बढ़ता है, इसमें शेर के हारने या बकरो के मरने पर खेल समाप्त होता है। यह

खेल उत्तर सरकार के इलाके में अधिक प्रचलित है।

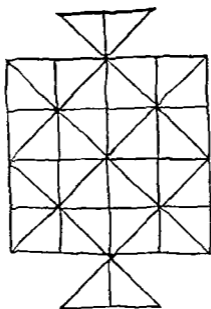
[ (४) दोर-बकरी के खेल का एक चौथा प्रकार भी है। ग्रन्थकार को संभवतः इस चौथे प्रकार की जानकारी नहीं थी। अनुवादक को इसके खेलने का अनुभव है। इसमें दो दोर और चौबीस बकरे होते हैं। पहले दोनों दोर नवशे के बीचो-बीच बिठा दिये जाते हैं। बकरे वाला पहली ही बार घाठ बकरे उसके चारों घोर बिठा देता है। अब बाड़ी गुरू होती है। पहली बाड़ी में दोनों दोर एक साथ भलग दिसा में ध्वनि मारते हैं और दो बकरो को मार देते हैं। अब बकरे वाला भी दो नये बकरे बिठा देता है। कोई-कोई खिलाड़ी एक ही दोर को बढाता है। ऐसी हालत में बकरे वाले का भी एक ही नया बकरा बिठाना होगा। सारे बकरो को बिठा चुपने पर जो बकरे मरने में बच जाते हैं, उनमें दोर को बाँधने की कोशिश की जाती है। कम बकरे मारे जाने भयवा कम बकरो से दोर को बाँधने में बकरे वाले की बुद्धिमानी मानी जाती है। ]

इस खेल को खेलने की एक दूसरी भी पद्धति है। इसमें दोनों घोर बकरे ही होते हैं।

[दोनों घोर के गिट्टे बकरे नहीं कहलाते। परस्पर विरोधी जीव होने चाहिएँ। हम इसे 'मुगल पठान' का खेल कहते थे। अनु०]

दोनों तरफ मौलह-मोलह भलग-भलग रग के गिट्टे होते हैं। एक घोर का गिनार्थी कण्डी लेता है तो दूसरी घोर का टीकरी लेता है। दोनों अपने मारे गिट्टों को एक ही साथ अपनी-अपनी घोर बिठा लेते हैं। नवशे के बीच आदी सरीर स्थानी रगी जाती है। अब बाड़ी गुरू होती है। इसकी चालें भी दोर-बकरी की तरह होती हैं। अन्तर यह है कि इस खेल के अन्दर एक ही चाल में जिन घोर आगे बूद-बूदकर बर्द गिट्टे मार सके हैं। शर्त केवल इतनी है कि बूद मोधी सरीर पर ही घोर गिट्टे की पीठ का पर गावी हो। इसमें दोर-बकरी के खेल में भी अधिक आनन्द आता है।

(५) घर पर—इस खेल में दोनों के नौ-नौ गिट्टे होते हैं। इसका



चित्र नं० ४

विधान कुछ भिन्न है। दोनों खिलाड़ी जहाँ भी चाहे अपना गिट्टा बिठा सकते हैं। हर एक की कोशिश यही होती है कि तीन गिट्टे एक सीध में कहीं पर बिठा दें। विपक्षी इस ताक में रहना है कि उसे ऐसा न करने दे और बीच में एक अपना गिट्टा बिठा दे। जैसे ही कोई खिलाड़ी अपने तीन गिट्टों को एक सीध में बिठाने में सफल होना है, धैरे ही 'चर' कहकर दूसरे के किसी एक गिट्टे को हटा देता है। इसी प्रकार भरे गिट्टे वाला भी अपने तीन गिट्टों को एक सीध में लाते ही 'पर' कहकर गिट्टा जिला लेता है। जिसके सब गिट्टे भर जायें वह हारता है। इस खेल के कई और नाम हैं। उत्तर सरकार में इसे 'दांडि' कहते हैं। उक्त श्री वृष्णमूर्ति ने ही हमें इसकी सूचना दी है।

'चरपर' को अत्यन्त प्राचीन खेल माना जाता है। कहते हैं कि

एशिया और यूरोप के सभी देशों में इस खेल का प्रचार था। गैलों के विशेषज्ञ श्री मोरहेड ने अपनी पुस्तक 'Pock book of games' में 'Mill' के नाम से एक खेल का वर्णन किया है। यह वर्णन 'चरपर' खेल से एकदम मिलता-जुलता है। मोरहेड ने लिखा है कि 'Mill' खेल के यूरोप-भर में बच्चा-बच्चा जानता है, पर गमरीवा-वासी इसे नहीं जानते। इसकी गिनती प्राचीन खेलों में भी होती है। एथेन्स के मन्दिरों में इसके 'घर' खुदे हुए थे। रोम की इंटों पर इसके चित्र थे। नार्वे-नरेशों के जहाजों पर इसका नक्शा होता था।

जुए से हानि-लाभ के सम्बन्ध में भी प्राचीन साहित्य में बहुत-कुछ पाया जाता है। एक पद्य है :

"धन का अर्जन, पुराणादि का अध्ययन, शास्त्र वा योग-विधान,  
काव्य, नाटक, संगीत, वाद्य क्या हो सकते हैं जुधा-समान?"

यथा चुके हैं कि प्राचीन काल में लोग पुराणादि को बड़ी श्रद्धा से सुना करते थे। यह भी उसीका एक प्रमाण है। योग-विधान में लोहे आदि धातुओं का सोना बनाना भी शामिल है। धातु भी कुछ व्यक्ति उसे 'योग' कहते हैं। उक्त पद्य के साथ आगे कहा है :

"धातुवाद धानिधायं जुए से, जिनसे निदधय सत्यानाश !"

वसन्तोत्सव में राजा-महाराजाओं को विशेष रवि हाँती थी। इससे यह उत्सव जनता में भी मूब फैला। दश-काटिका में वेदपाठों की दो टोलियाँ थी। वे वसन्तोत्सव के अवसर पर भीमेश्वर के सम्मुख नृत्य-गान किया करती थी। वसन्तोत्सवों में लोग एक-दूसरे पर 'जुमुमराज' चन्दन, हल्दी, चन्दन के लड्डू आदि फेंक मारते थे। विष्णुकारियों में रग, अवीर, सुगन्ध-जल आदि भर-भरकर एक-दूसरे पर मारा करते थे। 'भीमेश्वर-पुराण', अध्याय ५, पद्य ११६ से पता चलता है कि लोग रग में तेल-पी आदि भी मिला दिया करते थे। धनी-मानी वाप की कुण्डियों में बस्तूरी का पानी भर-भरकर एक-दूसरे पर छिड़कते थे। " 'कलह कंटक' नामक

१. 'सिंहासन द्वात्रिंशिका', भाग २, पृष्ठ ८६।

सैनिक वसंतोत्सव में से अपनी मूर्धों पर पड़े 'सुगन्धित कर्पूर'रादि रज' को पोंछता हुआ भौड़ से बाहर निकला था।" इससे भी प्रतीत होता है कि वसंतोत्सव सर्वप्रिय बन चुका था।

नाटक में लोग बहुत रस लेते थे। आधुनिक साहित्य में नाटको की चर्चा बार-बार आती है। यहाँ का नाटक मस्कृत नाटक अथवा संस्कृत विधान का अनुकरण-मात्र नहीं था। न जाने क्या कारण है कि बीसवीं शताब्दी तक तेलुगू साहित्य में मस्कृत-नाटक-विधान का अनुकरण नहीं हुआ। बड़े-बड़े कवियों ने भी 'यज्ञ-गान' लिखे। 'यज्ञगान' का नाम कैसे पड़ा इनका पता नहीं चलता। यज्ञगान संस्कृत शैली से सर्वदा भिन्न होने से। 'दिसी कविता' के रूप में मारे दक्षिण देश में इनका बहुत प्रचार था। लोग इन यज्ञगानों को आदर तथा प्रेम के साथ देखते थे। आधुनिक में एक जाति है 'जक्कुन'। ये लोग कामेश्वरो आदि देवियों को मानते हैं। उन्हें 'मूर्तस्वरूप', 'मङ्गल जोगू' आदि कहते हैं। आधुनिक के कवि प्राचीन काल में ही 'जक्कुला पुरन्नी' का वर्णन करते आये हैं। वास्तव में यह 'जक्क' ही 'यज्ञ' है। यज्ञ शब्द संस्कृत का नहीं है। सम्भवतः द्रविड शब्द 'नक्कू' को यज्ञ रूप देकर मस्कृत बना लिया गया है। यज्ञों की गिनती अनायों में होती है। यज्ञ, सिन्नर, गधवं, पन्नग, पिशाच, राक्षस आदि सभी वर्ग अनायें ही हैं।

किन्नरों को प्राचीन यूनानियों किनारे (Kinaries) कहते थे। काश्मीर के पास गांधार के निवासी गधवं कहलाये। पन्नग मध्य एशिया के निवासी थे। तिब्बत और मंगोलिया निवासियों को पिशाच कहते थे। राक्षस (Araxes) नामक नदी के पास-पाम के लोग हो सकते हैं। इसी प्रकार यज्ञ अक्षस (Oxus) अथवा यज्ञार्त्स (Jaxartes) प्रान्तों के निवासी हो सकते हैं। यह भी हो सकता है कि ये यज्ञ वही यची हों, जिन्होंने ईसवी सम्बत् आरम्भ-काल में भारत के पश्चिमोत्तर प्रान्तों पर आक्रमण करके वहाँ पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था। इन सब

का दक्षिण भारत के जुकुमो से भी कोई सम्बन्ध था अथवा नहीं, यह कहना कठिन है। ऐसा भी हो सकता है कि यह नाच-गान की वृत्ति वाली जबकु जाति उन यक्षों की कथाओं को नाटकों में प्रदर्शित करने का धन्धा करती हो हों तथा उन्हींके नाम रख लिये हों। शायद इसी कारण इनके नाटकों को 'यक्षगान' कहा जाने लगा हो। 'जबकु' और 'यक्ष' का सम्बन्ध चाहे कुछ भी क्यों न रहा हो, इतना तो निर्विवाद है कि यक्षगान का प्रचार दक्षिण देश में अत्यधिक मात्रा में था। यह क्या जनता को प्रिय थी। यहाँ तक कि बड़े-बड़े कवि भी यक्षगानों की रचना किया करते थे।

यक्षगान का साहित्य हमें विजयनगर राज्य-काल से प्राप्त होने लगता है। परन्तु इनका प्रचार उममें भी पहले रहा होगा इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। "यक्षगान-सरणी में जिसके यक्ष गाने गंधर्व।"।

पहले इस 'जबकुल' जाति के लोग ही नाटक सेना करते थे। और लोग शिवजी की कथाओं को नाटक के रूप में प्रदर्शित किया करते थे। पान कुरिची सामनाथ-रचित 'पडिताराध्य चरित्र' के पर्वत-प्रकरण से सिद्ध होता है कि गंधर्व, यक्ष, विद्याधर आदि की भूमिकाएँ धारण करने थे।

किन्तु सम्भवतः बाद में जब वैष्णव सम्प्रदाय का प्रचार होने लगा, तो वैष्णव धाचार्यों तथा राजाओं ने इन्हे वैष्णव धर्म में दीक्षित कराया होगा, वैष्णव-कथाओं को नाटक-रूप में लेखने के लिए प्रेरित किया होगा। तथा इस प्रभावशाली साधन का उपयोग वेप सम्प्रदायों को कुचलने तथा वैष्णव सम्प्रदाय के प्रचार के लिए किया होगा। भागवत की कथाओं को मंच पर लेखने के कारण सही लोग 'भागवतुतु' (भागवती) भी कहने लगे थे। श्रीनाथ ने अथवा उमके समकालीन कवि और कवि ने एक जगह 'भागवतु वच्चिगाट्ट' के सम्बन्ध में कहा है कि यह स्त्री का स्वयं बनाकर बड़े ही आकर्षक रूप में नाचना और गाना

१. 'भीमेश्वर पुराण'।

या । एक स्त्री पेंडलानागी के सम्बन्ध में भी यही बात बही गई है । पुरुष-पात्र और स्त्री-पात्र दोनों ही के लिए वृच्चिजें नागी के तुब्ध नाम का प्रयोग इस बात को प्रकट करता है कि भागवत के खेल करने वाले हीन जाति के होने रहे होंगे । 'क्रीडाभिरामम्' को 'वीधि नाटकम्' कहा जाता है । 'वीधि' माने बाजार या मुहल्ला । 'क्रीडाभिरामम्' में कहा गया है — "दोर समुद्र में नट (नर्तक) गल (वरंगल) में छिट और विनु-कोंडा में कवि रहते । सभी रसिक जन इनको प्रशंसा करते हैं । न जाने बहाने इस त्रितय को किस प्रकार रचा । किन्तु 'क्रीडाभिरामम्' मञ्च प्रदर्शन के योग्य नहीं है । यदि मंच पर उतारा भी जाय तो लोगों के लिए रोचक नहीं होगा । लोग उसे समझ भी नहीं सकेंगे ।" ये नाटक खुले में ही मेले जाते थे । कोई टिकट बर्गरा नहीं होता था । ग्रामाधिकारी या धनी-मानी खर्च देते थे । कुछ दिन खेल दिखाने के बाद नाटक वाले भाँव छोड़ने समय धर-धर जाकर कुछ और बमूल लेते थे । भले ही वे नीच माने जायें अथवा माँग छावें, पर उनके खेल सभी लोग श्रद्धा और प्रेम से देखा करते थे ।

घोर-गाथाएँ गा-याकर सुनाने वालों की भी कुछ जातियाँ बन गईं । पिच्चें कुण्टला जाति पत्तनाडि की घोर-गाथाएँ सुनाती है । बारमाराडु की कथा को गडरिये, और एल्लम्मा की कथा को ववन जाति के लोग, सुनाते हैं । इनके गाने भिन्न-भिन्न शैली के दोहों में होने हैं । एल्लम्मा की कथा का दूसरा नाम रेणुका की कथा भी है । यह बड़ी लम्बी-चौड़ी गाया है । 'जवनिवा' नामक डोल बजाने हुए ववनी लोग दो-दो दिन तक कथा चनाने हैं । पेद्देवरें की कथा का रिवाज रायल सीमा में है । पर यह कोई पौराणिक गाथा नहीं है । उक्त दोनों कथाएँ प्रायः शूद्रों में प्रचलित हैं । ब्राह्मणों में इसी प्रकार की एक कथा है जिसे 'वामेश्वरी कथा' कहा जाता है । यह कथा सवेरे शुरू होती है तो शाम तक चलती रहती है । सारी स्त्रियाँ बंठी ही रहती हैं । कदाचित् इसी पर एक कहावत चल पड़ी — "स्त्रियों के उठने तक तियार बोल



पड़े।" अर्थात् रात हो गई। इस कथा का प्रचलन कृष्णा-नोदावरी के इलाको में अधिक है। श्रीडाभिराम् से पता चलता है कि इस कथा को जबकू जाति के लोग सुनाया करते थे। 'श्रीडाभिरामम्' के अन्तर्गत काम-वल्ली की जो चर्चा है वह इसी कथा से सम्बद्ध है। ये गाने लोगों को इतने पसन्द थे कि काम-काज करने वाले, मेहनत-मजूरी करने वाले, रहट चलाने वाले, भेत निरामे वाले पुरुष तथा कूटने-पीसने वाली स्त्रियाँ सभी पर मस्ती छा जाती थी। मस्त होकर गाते हुए लोग शारीरिक थकान का भूल-से जाते थे। पालकुरिकी ने इसके सम्बन्ध में कहा है— "गरीब दिन-भर हाड़तोड़ मेहनत करके, शाम को चावल का भाँड या घाटे का गटका (पतली लेई), जो भी सामने डाल दो पीकर पड़े रहते. पर चाँदनी रातों में बेन्नेलागुडि पाटें गाना सुनकर उनकी घ्रात्माएँ तृप्त हो जातीं। बेन्नेलागुडि पाटें (चन्दागान) क्या है यह तो नहीं मालूम, पर इसे शामद चाँदनी रातों में गाया ही जाता था। पालकुरिकी द्वारा सूचित 'बेन्नेलापाटें' (चन्दा गीत) भी सम्भवतः यही है।"<sup>१</sup>

घुडसवार—घोड़ों को चाल मिलाया भी एक कला थी। इसके लिए बड़े अनुभव की आवश्यकता होती थी। कुछ घुडसवार केवल घोड़ों को साधने और चाल मिलाने के लिए ही होते थे। घोड़े की चालें विविध प्रकार की होती थी। उस समय के कवियों ने जिन चालों के उल्लेख किये हैं उनमें से ये हैं : जाड नय चाल, जगा चाल, तुरफो चाल, मगाल चाल आदि। योश में इन शब्दों के जो अर्थ दिये हैं, उनमें इन चालों पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। जैसे जोहनय = घना-दोरितरम्, जगना = पैर फँसाकर चलना, मगाल = धक्कदितम् (दाग्द रत्नाकर); किन्तु तुरफो के माने 'घोड़ा' दिया गया है, जो मद्भं को देखते हुए जेंब नहीं पाता। चौरही भरने को धातुरीक चाल कहा जाता है। चौतिरिक् भी शायद यही चाल है।<sup>२</sup>

१. सि० डा०, भा० २, पृ० ५६।

२. सि० डा०, भा० २, पृ० ४१।

चोरी-इकंती—चोरी, विशेषकर संध लगाने, घोर डाका पड़ने से लोगों को असहनीय कष्ट होता था। फिर भी कवियों के वर्णनों से ऐसा प्रतीत होता है कि चोरी भी एक कला बन गई थी। संस्कृत-साहित्य में दंडि के 'दशकुमार चरित' तथा 'मृच्छकटिक' नाटक में चोरी के वर्णन पढ़ने पर ऐसा लगता है कि वह भी एक भ्रान्तमयी कला थी। उन्हीं संस्कृत मर्यादा का अनुकरण करते हुए तेलुगू कवि कोरवी गोपराजु ने चौर-विद्या का वर्णन इस प्रकार किया है :

“उपर गांव के चौकीदार रात होने पर पहरे के लिए तैयार होते घोर उपर चोर काली के मन्दिर पर जाकर मन्त्र भांगते कि आज की रात उनकी चोरी सफल रहे।”

चोरों की अपनी तैयारी मुनिये :

“शालिवीर (शम्भुवर्धन), मसान की राख, घोल नख, कुण्डा या कोंकी, लाठी, दिया-बुझाऊ कीड़े, बांस की काँड़ियाँ, गेंदकाँटा, बेहोशी की दवाएँ, कंची, नकबकार, नीले गेंद, काली पोत, इन सबको चतुराई से संभालकर चोर चल पड़ते।”

घोर तब ।

“पहरेदारों पर मसान की राख छिड़ककर, बड़े फाटक का कुछ भाग खोद गिराकर राजकुमारी के महल में संध लगाकर बांस की काँड़ियों से कीड़ों को छोड़कर दिया बुझा डालकर।”<sup>१</sup>

उक्त वर्णन में मसान की राख और दिया बुझाने वाले कीड़ों आदि चोरी के साधनों की बात कही गई है। चोरों का विश्वास था कि मसान की राख छिड़कने पर सोने बालों की नीद नहीं खुलती। वे पहरेदारों पर इसका प्रयोग करते थे।

सौमान्तो पर दुर्गाधिपति पर्याप्त सेनाएँ रखते और उसके बदले में जागीर पाते थे। इन जागीरदारों की सेना को पालेम (पहरेदार) कहा जाता था।

१. सि० द्वा०, भा० २, पृ० ८२।

'वायु वस्त्र' क्या है ? नकब के रास्ते हवा-घर के अन्दर न घुसे इसके लिए कपड़ा आड़े पकड़ते थे । यही 'वायु-वस्त्र' है । 'चील नख' के माने बोझ में तो 'चोरी का विशेष साधन' भर है । इतना तो सभी जानते हैं, पर इससे काम नहीं चलता । जहाँ नकब या सेंध लगता हो चोर पहले चील के नाखून से उस जगह लकीर चींचते थे और इस प्रकार अन्दाज करते थे कि दीवार नरम है या सख्त । सख्त दीवार निकलने पर दूसरी जगह नकब लगाते थे । यही 'चील-नख' का उपयोग था । तेलगाने के कुछ जिलों के अन्दर यह विश्वास आज भी है । कुण्डा, लोहे की नोकदार टेढ़ी चील को बहने से । इसे रस्ती से बाँधकर घर के अन्दर छोड़ते । चोरी के माल की गठरी बाँधकर उसे कुण्डे में सगा दिया जाता था और रस्ती को हिलाकर इशारा करते ही ऊपर वाले उसे खींच लेते थे । अन्त में अन्दर का चोर भी उसीसे टंगा ऊपर आ जाता । ऊपर वाले उसे भी उगी तरह बाहर कर लेते । बाँस की बाँडियों में कीड़े-भनगे रमे रहते थे । घर में यदि दिया जल रहा होता, तो कीड़े छोड़ दिये जाते । छुटते ही वे दिये पर टूट पड़ने और दिया बुझ जाता । ये कौन-से कीड़े होते थे, इस पर बाद में विचार करेंगे । 'गंद काटा' क्या है, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता । हो सकता है कि कुएँ से डोल खादि निकालने के भंगर की तरह का कोई काटा होता रहा हो । उसे घन पर से रोज़ानदानों की राह पर के अन्दर छोड़कर इधर-उधर फेंकने से जो-कुछ कटि से लग जाय, बाहर गीच लेने होंगे । 'कानीपोन' कदाचिन् घटन पर पोलने की कोई कालिम रही होगी । अंधेरे में काले भून बनकर दूरों की नजरो से बचने अथवा भयकर भय घनाने के लिए घटन पर कालिम पोल लिपा करने होंगे । चोरी के इन साधनों में से कई एक आज हमारी समझ के बाहर की वस्तु बन गये हैं ।

एक दूसरे कवि निम्मा भवर ने 'परमयोगी-विलासमु' में चोरी के साधनों के सम्बन्ध में लिखा है :

"लरिया, नकब घुरा, तिर का डाटा, चोबहु, नौली बट्टो, रेन,

चोंटीदान, चीलनख, गेंद कांटा, कंचो आदि ।”

‘सिर का डाटा’ वह कपड़ा होना होगा, जिससे सिर के बालों को बांध रखें। नौली दट्टी से मतलब नीला कपड़ा है, अँधेरे में छिपने के लिए। रेत शायद इसलिए रखते थे कि कोई आगे आ पड़े या पीछा करे तब उमकी आँखों में भोज दी जाय। चीटी का शब्द दिया बुझाने के बीडों के लिए आया है। चीटियाँ दिपे को नहीं बुझा सकतीं। दिपे को देखने ही झुण्ड-के-झुण्ड पिल पडने वाले कीड़े और भी कई प्रकार के होते हैं। परन्तु बाद के कवियों ने इनकी जगह भौरे का उल्लेख किया है। (कविवर गौरना का हरिश्चन्द्र उत्तर भाग, पृ० २२६) कवि वैकटनाथ (म० १५५०) ने अपने ‘पंचनन्द’ (३-१६६-२००) में चोरो और उनके साधनों का बड़ा ही रोचक वर्णन दिया है :

“भवन दीपाहित भ्रमर, बालुका-भस्मि, सिर के डाट, चील-नख, कांटा तोरण, कमर की रस्सी. दिशा बंद, काबुबोद्धु, सेंध छुरा, खरिया, मायामंडु, ताल पांत, मंली लंगोटी, मोठ पुराकु, सुपारी के चूरे की डिविया, इन्हरे चप्पल, साँप बिच्छू की दवा, मुक्ति वृद्धिकर औषधि, और काले कपड़ों से लंत टेढ़ी चोटी, चिक्ने शरीर और ताल-ताल आँवों वाला एक निडर चोर आया और गदत लगाने वाले पहरेदारों की आँव बचाकर मौके पर पहुँच गया। दीवार पर खरिया से घेरा खींचकर उसने अच्छी तरह सेंध मारी। दीवार के पत्थरों को हटाया। हवा और रोगनी को रोकने के लिए सेंध पर काला कपड़ा आड़े बांध दिया।” इनमें काली पढ़ने म० १२५० में ही पालकुरिकी ने चोरी का वर्णन इस प्रकार किया है :

“छुरो खरिया, गेरमा वस्त्र, कतग्री, बालू, अक्षत (हल्दी चावल), गेंद कांटा, काला लत्ता, कमरबंद, जाडूई काजल, कोडा, इन्हरा चप्पल, मसान रास, घाटुरानु, कुजुर-मुँहबंद, कुष्ठा, कटिरज्जु आदि से लंत होकर अड़गडा नखब, देहरी नखब, दीवार नखब, मुरंग नखब आदि

सैंधे खोदकर घर में धूसा और चारों ओर परख कर..... ।”<sup>१</sup>

उक्त पद्य में आये कुछ शब्दों के अर्थ शब्दकोश में भी नहीं हैं। ‘ध्यात्र महाभारत’ के एक पद्य का अभिप्राय यह है कि जिस घर में उल्लू, चीत, दिया-बुझाऊ कीड़े आदि पहुँचें, उसमें शांति का अनुष्ठान करना चाहिए। [ ४—११६ ] मूल संस्कृत महाभारत में इसीको यों कहा गया है :

“गृहेष्वेतेन पापाय तथा चै संल पायिकाः

उद्दीपकाश्च गुध्राश्च कपोताश्चमरास्तथा ।

निविशेद्युयंदा तत्र शान्तिमेव तदाचरेत्

धर्मगल्यानि चंतानि तथोत्क्रोशा महात्मनाम् ।”<sup>२</sup>

तिलचट्टे, गीष, बबूतर, उद्दीपक (पहाड़ी चीटे) और भीरे। ‘उद्दीपक’ का अर्थ कोशकार ने ‘पहाड़ी चीटा’ बताया है। पता नहीं वे कैसे होने हैं। उल्लू की आँसू रात में चमकती है। इसलिए वह भी दीपक कहला सकता है। उगुन्न भी रात में चमकते हैं। पर हमें इस यक्ष में पड़ने की जरूरत नहीं। तिरप्रा सोमयाजी ने “दिव्याधप्रपुरव” (अर्थात् ‘दिया बुझाने वाला कीड़ा’) शब्द प्रयुक्त किया है। दिये के लिए तेलुगु में ‘दिवा’ शब्द आया है, वस यही भ्रामा है और वही हमारा प्रयोग नहीं मिलता। दिवरी अथवा दिक्कटी मगान को कहते हैं। सम्भव है दिवा से ही दिवरी बना हो। अस्तु, वह कीड़ा कौन है जो दिये को बुझाता है ? महाभारत के उक्त श्लोक में भ्रमर आया है। हम देग बुके हैं कि एक कवि ने भीरों को दिया बुझाने वाला कीड़ा कहा है। तिरप्रा ने ‘भ्रमर’ की जगह उक्त मयुक्त शब्द का प्रयोग किया है। भ्रमः स्पष्ट है कि खोर दिया बुझाने के लिए जो कीड़े बाँस की काटियों में सं जाते थे, वे भीरे ही थे।

संतारमट्ट अथवा संतार भक्त—संतार एक गाँव है, जहाँ वीरभद्र

१. ‘वसव पुराण’, २० १५४, १५५ ।

२. ‘महाभारत’ अनु०, ११४ अध्याय ।

का मन्दिर है। उस वीरभद्र के भक्तों को मँलारभद्रु (यानी सिपाही) कहते हैं। भक्तों को भद्रु (सिपाही) कहने का कारण यह हो सकता है कि भक्त लोग नीचे-सादे भजनानंदी होते हैं और भाग्य पर सतोष कर लेते हैं। वीरभद्र के ये भक्त ऐसे न थे। वे अपने देवता से बड़ी-बड़ी वीरोचित मन्त्रों माँगा करते थे। मन्त्र पूरा होने पर या अगले जन्म में पूरा होने की आशा से वे मन्दिर में जाकर भक्तिव्रत अथवा मन्त्र पूरा कराने के लिए नाना प्रकार की आत्महिंसा करते थे। यह आत्महिंसा कभी-कभी जानलेवा भी साबित होती थी। 'क्रीडाभिरामम्' में इसका वर्णन इस प्रकार है :

“धकाधक जलते लाल अगारों के विचित्र अग्नि-कुण्डों में प्रवेश करने वाले, नीचे गडों के अंदर गड़े हुए नुकीले त्रिशूलों पर भूला भूलकर कूद पड़ने वाले, लोहे का काँटा पीठ की चमड़ी में चुभाकर विशेष चाँस पर सोटने वाले, सोने की मूठ वाले, करारे गंडासों को बिना किसी हिचक के निगल जाने वाले, शरीर के जोड़ों के भीतर बाण अथवा सूजे छेद लेने वाले, दोनों नंगी हथेलियों में कपूर-बत्ती जलाकर भगवान् की आरती करने वाले, मूर्तिमातृ साहस से वीर-हृदय मँलार वीर भद्र हैं !”

आज भी कार्तिक नदी की सवारी के आगे वीर शैव जवडों में सूजे चुभोने हैं, दोनों (नगी) हथेलियों में कपूर के डले जलाकर भगवान् की आरती करने हैं। इसमें से एक भी धान भूठ नहीं है।

काट नामक एक पादशात्य यात्री ने लिखा है कि विजयनगर राज्य में इन आत्म-हिंसायुक्त कृत्यों का प्रदर्शन होता था। उसने लिखा है कि लोग अपनी पीठ की चमड़ी में लोहे का काँटा चुभोकर उस कटि को रस्ती से लटकाकर भूला भूला करते थे, और इसी प्रकार के दूसरे साहस-पूर्ण कार्य करते थे। आग में चलने, सूजा चुभोने और हथेली पर कपूर जलाने की विधि शैवों में आज भी पाई जाती है।

बूर्वापूड़ी भरत-नाट्य का केन्द्र था। यहाँ वाले सम्भवतः शास्त्रीय विधि से उन नाट्य-भगिमाओं का प्रदर्शन किया करते थे। साधारण

: ४ :

## विजयनगर साम्राज्य-काल (सन् १३३६ से १५३० ई०)

धर्म

आध्र देश में जिन समय एक ओर रेड्डी राज्य तथा बेलगा राज्य का उदय हो रहा था, उसी समय दूसरी ओर विजयनगर साम्राज्य का प्रादुर्भाव ही रहा था। इसलिए रेड्डी राज्य के साथ विजयनगर की चर्चा भी आवश्यक है। इस अध्याय में विजयनगर राज्य की स्थापना से लेकर श्री कृष्णदेवराय के काल तक के विषयों की चर्चा होगी।

अधिकतर इतिहासकारों का मत है कि विजयनगर राज्य की स्थापना सन् १३३६ ई० में हुई थी। श्री कृष्णदेवराय का देहान्त सन् १५३० ई० में हुआ। सन् १५६५ में तालीगोट की लड़ाई में यहाँ का अन्तिम राजा रामराज मारा गया। साथ ही दक्षिणी मुगलमनों ने अच्युत क्रूरना के साथ विजयनगर को तहस-नहस कर डाला। फिर राजा निरुमलराय ने पेनुगोडा में पैर जमाकर मुगलमनों के आक्रमणों का विरोध किया तथा कुछकाल पूर्वक शासन करने लगा। किन्तु बाद में राजा श्री रामराय ने अपनी दुर्बलता के कारण पेनुगोडा को छोड़कर चन्द्रगिरि में अपनी राजधानी बनाई। शासन-कार्य ज्यों-ज्यों चलता रहा। अन्त में सन् १६२० के लगभग विजयनगर राज्य का नामो-निशान तक मिट गया। इस अध्याय में सन् १५३० तक की चर्चा होगी, उसके

बाद सन् १६२६ तक के विषयों की चर्चा हम अगले अध्याय में करेंगे।

वरगल राज्य की मट्टियामेट्ट वर चुक्ने के बाद मुनलमान फिर सारे तेलुगू-देश पर छा गए, और जनता पर बे-रोक-टोक घोर अत्याचार करने लगे। उन्नी नमय प्रोळमकाप नायक ने मुनलमानों को खदेड़ दिया। रेड्डी तथा बेलमा राजाओं ने भी उन्नी नीति का अनुकरण किया। इन सभी के प्रबल प्रतिरोध के कारण तेलुगू-देश की धरती पर मुनलमानों का पैशाचिक ताड़क नृत्य चार-पाँच साल में अधिक नहीं चल सका। विन्नु मनिक् काहूर दिल्ली में पुच्छल तारे की तरह कुद्व ऐसा छूटा कि सारे दक्षिण देश को रौंझता हुआ घोर जो भी सामने पड़ गया उस पर अधिकार करता हुआ अपनी सारी दड-बाना को विजय-यात्रा में परिणत करना निकल गया। जो भी हाथ लगा उन्नीको मोना बनाना हुआ वह घाघ्र-देश को पार कर गया और तमिऴनाड के पाड्य राज्य का चिनास बरके मडुरा (मडूरा) में मुस्लिम राज्य की स्थापना की। वहाँ पर लग-भग पचास वर्ष के घन्दर साल मुनलमानों ने राज्य किया और हिन्दुओं पर मनमाने अत्याचार किये। घाघ्र पर उनका आधिपत्य तो न था, फिर भी उनकी करतूत सब जगह एक-सी थीं। तेलुगू जनता को जिन दुर्मानाओं का शिकार होना पड़ा, उनकी बानगी के तौर पर कुच्छेक की चर्चा यहाँ की जाती है।

कम्पेराय की परनी शिरोमणि गंगादेवी ने 'वीर कम्पेराय चरित्रम्' के नाम से एक काव्य लिखा। उनका एक और काव्य 'मडुरा विजयम्' भी है। वह एक वास्तविक इतिहास-ग्रन्थ है। सन् १९७१ में कम्पेराय ने मडुरा में मुनलमानों को मार भगाया था।

'मडुरा विजयम्' की बया इन प्रकार है :

एक स्त्री ने काचीवरम् में कम्पेराय में मिलकर मडुरा के मुनलमानों की मत्रनिम का व्योरा सुनाया :

अधिरंगनराप्प योग निद्राम हरिभुट्टेजयतीति जानभीनिः ।

पतिताभ्रद्विरिष्टकानिकायम् फलचञ्चरे निवारयत्यहीन्द्रः ।



शेषशायी भगवान् की योग-निद्रा भग न हो इस विचार से मन्दिर के प्राकार की इंटें टूट-टूटकर गिरने पर शेष भगवान् ही अपने फन पर घामे हुए है। साराश यह है कि वहाँ साँप रेंग रहे हैं।

धृष्य जग्य कवाट सम्पुटानि स्फुट दूर्वाकुर संधि मंडपानि ।

इत्यगभं गृहाणि धीक्ष्य दूये भृशमन्यान्यपि देवता कुलानि ।

अर्थात् मन्दिर के किवाड़ों की दीमक चाट गई है; मंडपों में दरारें पड़ गई हैं और उनमें घाम उग आई है, गर्भ-गृह बह गए हैं, यही दशा दूसरे मन्दिरों की भी है।

मुल्लराणि पुरा मृदंग घोषंरमितो देव कुलानि यान्यभूवन् ।

तुमुलानि भवति फेरवाणाम् निनदंस्तानि भयंकरि दानोम् ॥

अर्थात्—जहाँ मृदंग बजते थे वहाँ भय सियार बोलते हैं।

सतताध्वर धूम सौरभः प्राङ्निगमोऽपीषण बद्धिरप्रहारः ।

अधुना जनिविप्र मांस गंधैरधिकक्षीब तुमुर्कसिहनादः ॥

अर्थात् श्रावण अग्रहाणे के हवनो के धुएँ की जगह मांस भूजने का धुआँ उठ रहा है। सस्वर वेद-धोष के बदले अनुदास बकंसा तुकं भजानों ही रह गई हैं।

मधुरोपवनम् निरोक्ष्यदूये बट्टनः खंडित नारि केलि पंडम् ।

परितो नृकरोरि कोटि हार प्रवसच्छूल परम्परापरीतम् ॥

अर्थात्, मदुरा नगर के नारियल के कुछ काट दिये गए हैं और उनके बदन धूलों पर नरमुण्ड लटक रहे हैं।

रमणीयतरो बभूव सस्मिन् रमणीनाम् मणिदूषु प्रणादः ।

द्विज शृंगलिका सत्तात् क्रियाभि कुस्ते राजपथ स्वकण्ठूलम् ॥

जिस मदुरा नगरी की गदनों पर रमणियों के नूपुर भजाने से, वहाँ भय ब्राह्मणों के पैरों की घेड़ियाँ गनक रही हैं।

स्तनचंदन पांडु ताग्रपर्वारितकणो नामभजन् पुरा पदामः ।

तदस्मृग्भिदपे द्विदोशिमामन् निर्तानामग्नितगवाम् मुदंशः ॥

जिस ताग्रपर्वी नदी की भाभा पहने मुषणियों के स्तन चन्दन से

पादुर रहती थी, वह अब हम्मा की हुई गीमों के रश्मि से लाल हो उठी है !

इवमितानि न शोषितापरारिण इत्यशीर्षाण्यनूणं कुन्तलानि ।

बहुशय्य परिष्णुनेक्षराणि इमिद्वानाम् बदनायि दीक्ष्य दूषे ॥

आहो, नूनें होठों, बिम्बरे बालों और निरन्तर दरबवाई माँसों वाली शक्ति महिलाओं को देता नहीं जाता !

धुनिरस्तमिता नयः प्रलीनो विदत्ता धर्म-कथा ध्युतम् चरित्रम् ।

मुहुरन्तम् गनमन्निजात्यमस्तम् क्षिप्रिवाग्यन् कतिरेक एव धन्यः ॥

वहाँ की परिस्फुटियों का बर्णन यदि एक वाक्य में सुनना हो तो बेदो न भूल हो गया है, नैतिकता विलीन हो चुकी है, धर्म को तिला-ज्वनि दी जा चुकी है, चरित्र का पतन हो चुका है, सदाचार छूट हो चुका है, कुमोदना का नाग हो चुका है, हाँ, यदि कोई धन्य हुआ है तो वह भूकेला 'कनि देव' है ।<sup>१</sup>

गंगादेवी के इस बर्णन की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में और-तो-और स्वयं एक शरद यात्री (इम बन्ना) ने, जा इन दिनों भारत की यात्रा कर रहा था, अपनी घाँवों देगी बात इस प्रकार लिखी है :

“मुत्तान गयामुदीन अब मधुरा में राग्य कर रहा था तो उसने हिन्दुओं को बड़ी यातनाएँ दीं । एक बार मुत्तान जंगल से मधुरा सौट रहा था । मैं (इम बन्ना) उसके साथ था । रास्ते में उते बहुत-से बुन-परस्त (हिन्दू) अपने हथो-दहवों के साथ दौल पड़े । ये लोग जंगलों को काटकर मुत्तान के लिए रास्ता बनाने के लिए निपुणत निये गए थे । मुत्तान ने उनके भिरो पर लीहे को चुकीती छड़े लदवा बों । सवेरा होते ही उन्हें चार हिम्सों में बाँटकर शहर के चारों बड़े दरवाजों पर भिजवा दिया । लीहे की जन्ही छड़ों को दरवाजों पर गड़वाकर उन अभागों को उन पर छेदकर टांग दिया गया ।”

मुत्तानमात्रों की बदनी के कई कारण थे । एक विशेष कारण यह

१. 'मधुरा विजयन्', अष्टम सर्ग ।

था कि साम्प्रदायिकता के कारण हिन्दुओं के अन्दर आपस में मनमुटाव काफी पैदा हो चुका था। कापतीय युग में शैव-सम्प्रदाय की बढ़ती को हम देख आए हैं। विजयनगर साम्राज्य के साथ वैष्णव धर्म का प्रचार बढ़ने लगा। तब तक दक्षिण के आचार्यश्रेय सुप्रसिद्ध अकराचार्य, रामानुजाचार्य तथा मध्वाचार्य के कर्मण्डित, अर्द्धत तथा विंशष्ट अर्द्धत तत्त्वों ने लोगों के दिलों में घर कर लिया था। बौद्धों तथा जैनो की कोई गिनती नहीं रही थी। अत्र रहे शैव और वैष्णव। शैवों ने पहले वैष्णवों को जो भरकर गालियाँ सुलाई। शिवजी के सिवा किसी और देवता को मानने वालों को उन्होंने पैरो-तने कुचल डाला। ऐसी अनेक भूठ-भूठ की कथा-कहानियाँ गूढ़ डाली कि शिवजी ने बर पाकर विष्णु (भगवान्) ने उनकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। स्वयं श्री कृष्णदेवराय ने अपने 'शामुक्ल माल्यदा' में कहा है कि शैव प्रभुओं ने अन्य धर्मावलम्बियों पर धर्याचार किये तथा उनके मन्दिरों को तोड़कर उनकी जगह शैव-मठों की स्थापना की। उसमें कहा है कि विष्णुगुप्त नामक एक पांड्य राजा से स्वयं रगनाथ भगवान् ने या कहा था :

"शैव पागलपन इतना बढ़ गया है कि अब यह मेरी विनती पर कान नहीं धरता, विश्वास भी नहीं करता। हमारे मूर्तियों के प्रति कहता है कि महादेव शिव हो इसके भी आधार हैं। हमारे मन्दिरों के उत्सवों के लिए भी अब यही नीति चल पड़ी है। वेदत ब्राह्मणों की पूजा के बदले शैव जगमों की पूजा में मग्न रहता है। गृहदेव नरसते रहते हैं और रविवार के दिन शैव धीरभद्र भगवान् को पाती धड़ाता है। सकर दासमय्या के भक्तजनों के दिव्यानये धाड़ करता है। अनादि काल से चले आ रहे मंदिर धराशापी हो गए हैं और उपर वह शैव मठों की स्थापना किये जाता है। उत्तर शैव धर्म को ध्वस्तकर यह जनेऊ तोड़ डालता है। पतित देवों को ही आराध्य मानकर उन्हीमे उपनियवों की कथा गुनता है। जहाँ-तहाँ जंगम को देसते ही धबरा उठता है तथा शिवालिंग पारण किये हुए लोग यदि कुछ सुरा भी कर बंठें तो ही-

था कि साम्प्रदायिकता के कारण हिन्दुओं के अन्दर आपस में मनमुट काफ़ी पैदा हो चुका था । काकतीय युग में शैव-सम्प्रदाय की बढ़ती-बढ़ती हम देख आए हैं । विजयनगर साम्राज्य के साथ वैष्णव धर्म का प्रचार बढ़ने लगा । तब तक दक्षिण के आचार्यत्रय सुप्रसिद्ध शंकराचार्य, रामानुजाचार्य तथा मध्वाचार्य के क्रमशः द्रैत, अद्रैत तथा विशिष्ट अद्रैत सत्त्वों ने लोगों के दिलों में घर कर लिया था । बौद्धों तथा जनों की कोई गिनती नहीं रही थी । अब रहे शैव और वैष्णव । शैवों ने पहले वैष्णवों को जी भरकर गालियाँ मुनाई । शिवजी के सिवा किसी और देवता को मानने वालों को उन्होंने पैरो-तपे कुचल डाना । ऐसी अनेक भूठ-मूठ की कथा-कहानियाँ गढ़ डाली कि शिवजी से बर पाकर विष्णु (भगवान्) ने उनकी अधीनता स्वीकार कर ली थी । स्वयं श्री कृष्णदेवराय ने अपने 'आमुक्त माल्यदा' में कहा है कि शैव प्रभुओं ने अन्य धर्मावलम्बियों पर अत्याचार किये तथा उनके मन्दिरों का तोड़कर उनकी जगह शैव-मठों की स्थापना की । उसमें कहा है कि विष्णुगुप्त नामक एक पाण्ड्य राजा से स्वयं रमनाथ भगवान् ने यो कहा था :

“शैव पागलपन इतना बढ़ गया है कि अब वह मेरी बिनती पर कान नहीं धरता, विद्वयास भी नहीं करता । हमारी मूर्तियों के प्रति कहता है कि महादेव शिव ही इसके भी धाधार हैं । हमारे मन्दिरों के उत्सवों के लिए भी अब यही नीति खस पड़ी है । बंजर ब्राह्मणों की पूजा के बदले शैव जगमों की पूजा में मग्न रहता है । गृहदेव तरसते रहते हैं और रविवार के दिन शैव औरभद्र भगवान् को खाली चढ़ाता है । सकर दासमर्या के भक्तजनों के क्षिप्तानये धाढ़ करता है । अनावि काल से चले आ रहे मंदिर धराशायी हो गए हैं और उधर यह शैव मठों की स्थापना किये जाता है । उत्तर शैव धर्म को अपनाकर वह जनेऊ तोड़ डालता है । पतित देवों को ही धाराप्य मानकर उन्हींसे उपनिषदों की कथा सुनता है । जहाँ-तहाँ जंगम को देखते ही धबरा उड़ता है तथा शिर्वालिग धारण किये हुए लोग यदि कुछ बुरा भी कर बैठें तो हा-

था कि साम्प्रदायिकता के कारण हिन्दुओं के शन्दर आपस में मनमुटाव काफ़ी पैदा हो चुका था। कायतीय युग में शैव-सम्प्रदाय की बढ़ती को हम देख आते हैं। विजयनगर साम्राज्य के साथ वैष्णव धर्म का प्रचार बढ़ने लगा। तब तक दक्षिण के महाचार्यगण सुप्रसिद्ध शंकराचार्य, रामानुजाचार्य तथा मध्वाचार्य के क्रमशः द्वैत, अद्वैत तथा विशिष्ट अद्वैत तत्त्वों ने लोगों के दिलों में घर कर लिया था। बौद्धों तथा जैनो की कोई गिनती नहीं रही थी। अब रहे शैव और वैष्णव। शैवों ने पहले वैष्णवों को जी भरकर गानियाँ सुनाईं। शिवजी के सिवा किसी और देवता को मानने वालों को उन्होंने पैरो-तले कुचल डाला। ऐसी अनेक झूठ-भूठ की कथा-कहानियाँ गूँथ डाली कि शिवजी से वर पाकर विष्णु (भगवान्) ने उनकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। स्वयं श्री कृष्णदेवराय ने अपने 'सामुजन माल्यदा' में कहा है कि शैव प्रमुओं ने अन्य धर्मावलम्बियों पर अत्याचार किये तथा उनके मन्दिरों को तोड़कर उनकी जगह शैव-मठों की स्थापना की। उसमें कहा है कि विष्णुगुप्त नामक एक पाण्ड्य राजा से स्वयं रघुनाथ भगवान् ने यों कहा था :

“शैव पागलपन इतना बढ़ गया है कि अब वह मेरी गिनती पर कान नहीं धरता, विद्वान् भी नहीं करता। हमारे मूर्तियों के प्रति कहता है कि महादेव शिव ही इसके भी आधार हैं। हमारे मन्दिरों के उत्सवों के लिए भी अब यही नीति चल पड़ी है। वेदों आह्वानों की पूजा के बदले शैव जगमों की पूजा में मान रहता है। गृहदेव तरसते रहते हैं और रविवार के दिन शैव और भद्र भगवान् को घाती चढ़ाता है। सकर दासमय्या के भक्तजनों के द्विपानचे थोड़ करता है। अनादि काल से चले आ रहे मंदिर धराशायी हो गए हैं और ऊपर वह शैव मठों की स्थापना किये जाता है। उत्तर शैव धर्म की अधनाकर वह जनेऊ तोड़ डालता है। पवित्र देवों को ही अपराध्य मानकर उन्हींके उपनिषदों की कथा सुनता है। जहाँ तहाँ जंगम को देखते ही घबरा उठता है तथा शिवलिंग धारण किये हुए लोग यदि कुछ बुरा भी कर बैठें तो हाँ-

ना, नहीं करता ! ऐसे समय में जो ब्राह्मण यह कहें कि यह सब ठीक किया, उन्हींको अप्रहार आदि ग्राम दान देता है।”<sup>१</sup>

अपने शैवाचार्य गांजा भी पी लें तो पाङ्कजरेखा देवी-अनदेवी कर देता था । पर यदि किसी ब्राह्मण ने उन्कि भी त्रुटि हीं जाय तो उसे पंचायत में भिन्नटवाना और रुजा दिलाना था । लोगो की स्थिति यह थी कि पनन्द हो या न हो, सभी जनेऊ निकालकर निग धारण कर लेते थे, रक्षा माना गये में पहन लेते थे, और बगल में वीर शंख द्रव्यो को दबाये धूना करते थे ।

जब राजा और आचार्य प्रजा को उस प्रकार सजाया करें तब यदि लोगों में परस्पर डोप, राज-द्रोह और देग-द्रोह की भावनाएँ जाग पड़ें तो इसमें आश्चर्य हीं क्या है ?

‘काल हस्तीश्वर शतक’ नामक एक पुस्तक है । कहा जाता है कि उसे धूर्जटि ने लिखा है । किन्तु उसकी शैली से स्पष्ट है कि वह धूर्जटि की नहीं है । खैर, किसी ने भी लिखा हीं, उसका प्रचार काफी था । आज भी वह पढ़ी-पढ़ाई जाती है । उन समय की परिस्थितियों पर इन पुस्तक से अच्छा प्रकाश पड़ता है । पुस्तक विष्णु-दूषण से भरी हुई है । जैसे— “श्री लक्ष्मीपति सेविनांश्र युगलां श्री काल हस्तीश्वरां !” “श्री रामाचिन पादपद्म युगलां श्री काल हस्तीश्वरां !” आदि शंख जब विष्णु भगवान् को इन प्रकार तिवजी के चरणों में डालने लगे, तो वंष्णु चुप थोड़े ही बैठ सकने से ? उन्होंने भी निव को विष्णु के चरणों में ना पसीटा । ताड़ना पाक तिर बेंगलनाथ ने अपने ‘परम योगी विचारमु’ में निव की भरपूर गानियां सुनाई हैं । यह परम्पर बिट्टे प यहाँ तक बटा कि दोनों एक-दूसरे को चाडाल, पान्बर्डी और पापी कहने लगे । एक-दूसरे की मूर्त तक नहीं देखते थे । वही एक-दूसरे से छू जाने पर स्नान करके सारे कपडों को धो डालते थे ।

धर्माचार्यों ने अपने अनुयायियों को मुक्तिदान दिया । भले ही वे

१. ‘धामुवन माल्यदा’, ४-४२, ४४ ।

चोर-झाड़ू क्यों न हों, गंजा-शराब क्यों न पीते हों, व्यभिचार क्यों न करते हों, हत्या क्यों न करते हों ! भलग-भलग धर्माचार्यों के मुक्ति-धाम भी भग्न-भलग थे । सब मुक्ति पाकर कलान पहुँचता तो वैष्णव वैकुण्ठ में । आज तक यही सिलसिला चरा रहा है । स्वयं किया तो किया, उन्होंने देवताओं से भी नीब-से-नीब काम करवाये । कल्पित कथाओं से लोगों के दिलों में इस प्रकार का विश्वास बिठा दिया कि देवता भी ऐसे ही हैं ।

'बाल हस्ती रातक' में एक पद्य यह भी है :

"हे महादेव, तुम्हें मैं किस रूप में भजूँ, घुटने के रूप में, स्त्री के रूप में, उसके स्तन के रूप में, धरती चकरी की भेगनों के रूप में ?"

उसी प्रकार वैष्णवों ने विप्रनारायण में वेदया-प्रसंग कर्वाकर उसे रामनाथ भगवान् के हाथों चोरी का माल दिलवाया ।

ऐसी कथाओं के गढ़ने वालों ने यह भी नहीं सोचा कि अपने सम्प्रदाय का प्रचार यदि हो भी जाय तो उसके साथ समाज का नैतिक पतन किस बुरी तरह होगा । शैवों को शुद्ध करके वैष्णव बनाने और वैष्णवों को शैव बनाने की परिपाटी चल पड़ी थी । विजयनगर काल में शैवों का जोर दीला पड़ा । क्योंकि पड़िताराध्य सोमनाथ-जैसे प्रचारक अब नहीं रह गए थे ।

फिर भी, जिनमें जहाँ भोला मिना, अपना छट्टा जमाया । शैवों ने विजयनगर राज में डेरा डाला तो वैष्णवों ने विजयनगर तथा रेड्डी केलमा राज्यों में पैर जमा निम्ने । जहाँ-तहाँ विरोधी सम्प्रदायों का जोर पला । अन्य सम्प्रदायों की जनता पर तरह-तरह के घत्याचार करने में किसी ने तनिक भी मनोच नहीं किया । शैवों ने जैन मन्दिरों पर बरका कर लिया, और उन्हें शिवालयों में परिणत कर डाला । बगीमनगर (हैदराबाद) द्विजे के वेमुनवाडा नामक स्थान में शिवालय के सामने प्राचीन जैन मूर्तियाँ अपनी दु स्थिति का रोना रो रही हैं । गदवाल महामौन के पुद्गर ग्राम में पश्चिमी बालुकों के शिवा-नेत्र सबे हैं । उसी शैव में एक शिवाना भी

है। पुरानी जैन मूर्तियों को मन्दिर में बाहर रख दिया गया है। शंकों की देवा-देवी वैष्णवों ने भी जैनो को यातनाएँ देनी शुरू कर दीं। मैसूर में अभी बुद्ध जैन बच रहे थे। श्री वैष्णवों ने उन्हें मार-पीटकर बेल-गोला के उनके मन्दिरों को ढा दिया। राजा बुक्का देवराय ने उनमें समझौता करवाकर वैष्णवों के हाथों ढाये गए मन्दिरों की मरम्मत करवा दी।<sup>१</sup>

विजयनगर के महाराजाओं ने धार्मिक सहिष्णुता का अच्छा परिचय दिया। ऐसे समय में जब हि मुस्लिम विजेता जहाँ पहुँचते वही हिन्दुओं को मताने, धर्म-परिवर्तन करते, उनके ग्रन्थों की होली जलाते, उनके मन्दिरों को ढाते और नाना प्रकार के बीभत्स ताडव करते फिरते थे। तब हिन्दुओं में एकता की स्थापना ही मुख्य राजनीति-सी बन गई थी। उन दिनों जो विदेशी यानी भारत आने थे, वे विजयनगर की सम-दृष्टि देखकर दग रह जाते थे। तो भी मत्ताचार्यों तथा जनसाधारण में इस गुण का अभाव ही था।

मदुरा राज्य में मुमनमानों के भत्याचारों के सम्बन्ध में पहले ही कहा जा चुका है। उसी प्रकार आंध्र कर्णाटक के अन्दर भी उनके क्रूर कृत्य जारी थे। बृहस्पदेव राय ने भी इस पर रोद प्रकट किया है :

“सनकादि दिदिग मस्त्रो फाल गोपीघंदन की पुण्ड्रवलिषां चाट-चाट,  
हा-हा-हू-हू कर धनुष-बोर की तरह गले में पड़े जनेऊ सोंच-सोंच घो’

काट-काट,

दाया पय-रेतो से सप्तदि-रचित पार्थिव शिव की जूनों से रौंद-रौंद घो’

कुचल-कुचल,

रंभा-मी मुग्गरियों के पीन पयोपर निर्दयता से धर-धर मसल-मसल  
ढामे जिनने, नाना जपन्य कृत्यों के पापी बलुबुरगी’ मुत्तानों की

१. Vijaynagar Sixcentenary commemoration Volume page 42 पृथ भाग में V. S. C. कहेंगे।

२. गुलबर्गा वाले।



वह सगरपुरी, यावनी बाहिनी तेरी<sup>१</sup> अंसि ने काट मुत्युमुख में भोंकी !<sup>२</sup>

महाकवि प्रल्हसादि पेद्दना ने चद्र को सम्बोधित करते हुए कहा है :  
“तू तो गोवध करने वाले मुसलमानों का देव है ।”<sup>३</sup>

### सैनिक व्यवस्था

मुस्लिम विजय के कारणों में से एक कारण था हिन्दुओं का परस्पर साम्प्रदायिक विद्वेष । दूसरा कारण था इनमें सैनिक व्यवस्था की कमी । इसके विपरीत मुसलमानों में एकता थी, और साथ ही अपने धर्म के प्रचार के लिए अगाध उत्साह भी था । मुसलमानों कीजो में छुड़गवार अधिक थे और वे सैनिक दृष्टि से अच्छे थे । दक्षिण भारत में ऐसे घोड़ों की बड़ी कमी थी । अरब और फारस से उनका आयात होता था । अरबों और ईरानियों ने घोड़ों के व्यापार में अरबों रुपये कमाये थे । स्वभावतः वह पहले अपने धर्म-भाई भारतीय मुसलमानों की ही सप्लाई करते थे । विजयनगर के महाराजाओं ने अपने अस्वदल की कमी को धारम्भ में ही समझ लिया था । इसलिए वे अपनी छुड़गवार सेना को बढ़ाने में सदा सचेष्ट रहे । दक्षिण में छोटे विदेशों से जहाजों पर आने से । गमुद्र-यात्रा में जो घोड़े रास्ते में मर जाते थे उनकी दुम लाकर शिबानि पर भी महाराजा की उमका मूल्य देना पड़ता था । एक घोड़े की कीमत बीस पौंड तक थी । कृष्णदेव राय ने पुर्तगाली व्यापारियों से वादा किया था कि बीस पौंड की रास के हिमाय में १००० घोड़ों के लिए उन्हें २०००० पौंड देंगे । हिन्दू सेना की दूसरी मुट्टि यह थी कि इनके पास तोप-बंदूक और गोलियों-बाण्ड पर्याप्त न था । इनका प्रयोग भी हिन्दू सैनिक नहीं जानते थे । इसे उन्होंने मुसलमानों में ही सीखा । मुसलमानों की मुठ-बना भी हिन्दुओं की तुलना में बड़ी-बड़ी थी । हिन्दू-धर्म-मुठ की

१. तेरी अर्थान् विजयनगर के प्रतापी महाराज कृष्णदेवराय की ।

२. 'आपुत्रमात्यदा', १-४१ ।

३. 'मनु चरित्र', १-४२ ।

परम्परा में पले थे। उधर मुसलमानों के पास बुद्ध-धर्म नाम की कोई चीज न थी। हिन्दू अभी पुराणों के पुराने युग से निवृत्त नहीं पाये थे। तृतीय मल्लराज ने जब मदुरा के सुलतान पर चढ़ाई करके किले को घेर लिया, तो सुलतान ने निराश होकर मुलह की शर्त करने के लिए मुहलत मांगी। मल्लराज मान गया। किन्तु जब हिन्दू सेनाएँ रात में निश्चित सो रही थी, तब मुसलमानों ने सोती हुई सेनाओं पर घावा बोनकर मल्लालों की 'सौमिक प्रलय' कर डाली अर्थात् कत्ले-आम मचा दिया। अन्त में वे राजा को जीवित पकड़ ले गए। हरजाना दाखिल करने पर ही राजा को छोड़ने को राजी हुए। इस प्रकार जितना धन मिल सकता था वसूल करके उन्होंने मल्लालों को बगाल बना दिया। और इसके बाद भी अन्त में राजा की खान जीने-जी खीच ली गई और उसकी लाश को शहर के फाटक पर टांग दिया गया। हिन्दू बार-बार मार खाने रहे। गौरी और गडनी में लेकर औरंगजेब तर हर आक्रमण से धोखा-ही-धोखा खाते रहे, पर इनमें कोई सबक नहीं सीखा। "अलाउद्दीन खिलजी ने यह जानकर दक्षिण पथ पर चढ़ाई की कि दक्षिण भारत के हिन्दू राजाओं के पास अपार धन-राशि है, उनमें एकता का अभाव है, तथा सबने बढ़कर यह कि हिन्दू सेना की बुनियादें कमजोर हैं।"<sup>१</sup>

हिन्दुओं की दूसरी बड़ी बड़ी भी वे शत्रुओं का बुचलने से हाथ रोक लेने। ऐसा नहीं करते थे कि सदा के लिए दबा डालें, तब ही वे फिर कभी फिर उठाने का नाम न ले सकें। रायचूर बुद्ध में हिन्दू जीने, मुसलमान हारकर मैदान से भागे। कृष्णदेव राय ने अपने सेनानियों के साथ समझाने पर भी भागने वालों पर हाथ उठाने की अनुमति नहीं दी। उन्होंने कहा, यह धर्म के विरुद्ध है। यह देखकर एक यूरोपीय यात्री चकित रह गया था।<sup>२</sup>

जब उम्मुतूर को परास्त करने पर भी कृष्णदेव राय ने पराजित

१. V. S. C. पृष्ठ २६।

२. V. S. C. पृष्ठ १८३।

राजा को ही फिर से राजगद्दी पर स्थापित किया तब मुसलमानों का राजतन्त्र इस प्रकार का न था। उनकी राजनीति यही थी कि शत्रु के गिरते ही उसे पूरी तरह मिट्टी में मिला डालो तथा उसकी प्रजा का सारा धन छीन लो, उसके नगरों को तहस-नहस कर डालो तथा मनमाने अत्याचार करो !

देवगढ़, वरगल, कम्पली और विजयनगर के खंडहर ही उनकी करतूतों के सबूत हैं। दक्षिणा पथ लूटने के बाद मलिक काफूर लूट के माल को ३१२ हाथियों पर लादकर ले गया था। वह ६६००० मन सोना, मोतियों तथा हीरे-जवाहरातों के अनगिनत संदूकों तथा बारह हजार घोड़ों को लेकर दिल्ली लौटा था।

हिन्दू सैनिक भी मुगलमानों की तुलना में घटिया दर्जे के थे। मुसलमानों की फौज में अरब सुरामानी, तुर्क, ईरानी, पठान, हब्शी और भारत के भील आदि जंगली जातियों के लोग शामिल थे। विजयनगर के महाराजाओं ने समझ लिया था कि हमारे गिपार्ही मुसलमानों की टुकूर के नहीं होने। इसलिए कृष्णदेव राय ने अपनी फौज में मुसलमानों की भरती की थी। उनके लिए शहर में एक अलग मुहल्ला बना दिया था। उनके लिए मसजिदें बनवा दी थी। यह सब करने पर भी मुगलमान अपने महाराजाओं की मर्यादा नहीं रखते थे। राजा को सलाम तक नहीं करते थे। तब महाराजा अपनी मर्यादा को बनाये रखने के लिए गद्दी पर कुरान की एक प्रति रखकर बैठा करते थे, जिससे मुसलमान यह समझें कि वे कुरान को भलाम कर रहे हैं, और हिन्दू यह समझें कि सलामी राजा को दी जा रही है। लेकिन ऐसी बुद्धिपूर्ण सैनिक व्यवस्था के बावजूद विजयनगर के राजा किसी प्रकार अपनी स्थिति में भागते रहे।

'राजवाहन विजयम्' एक तेलुगू काव्य-ग्रंथ है, जो कवि कावमानोम मूर्ति का लिखा हुआ है। इस ग्रंथ में मुगलमानी बन्दूकों और मदागिव राय के टंकों की चर्चा है। इन आधार पर अनुमान है कि कवि सन् १६००-५० के लगभग हुए होंगे। 'राजवाहन विजयम्' में मुद्द-याना का विस्तार

के साथ बखुन है। यह अन्य समकालीन कवियों तथा यात्रियों के बखुन में भी मेल खाना है। इसलिए हम यहाँ पर इस बहु-वाच्य से उपयोगी कुछ विषयों के उद्धरण देंगे।

मुवराज राजवाहन ने नगर-भर में घुड़-पाना की डौंडी पिटवा दी। सारी मेना शहर के बाहर मैदान में उड़ गई। मुवराज बारचोबी का चोशा पहने थे। बाजूघों पर सोने के जडाऊ बडे और सिर पर बरनाती टोपी पहन रखी थी। बहार मुवराज के लिए पालकी लाये। पालकी के दोनों ओर फुंदनों वाले रेगमी झोहार लगे थे। दोनों के डडों पर मगर के मिर बने हुए थे। बहारों ने जो रमाल (साफ़े) बांध रमे थे, उनके पीछे खुदी लटकती थी। कमरबंद में वे बित्त-बित्त भर की बटारियाँ खोसे हुए थे। उनके पैरों में चप्पलें थी। महावत ने राजहस्ती को ला सडा किया। मारिस एक मजा हुआ घोडा ले आया, जिस पर हरमजी जीन बसी थी। राजा ने सोने की एक फिरगी पहन ली। मुवराज तुखारी घोड़े पर सवार हुआ। आगे-आगे हाथीदल चल रहा था, पीछे घुडमवार दल और फिर रय तथा पंदल। शंख, डोल, नगाडो, हुडुवा आदि की ध्वनि से दिखाएँ गुंज उठी। हाथियों के दांतों पर लम्बी-लम्बी बटारें बंधी थीं। घुडमवारों में पटानों की सख्या अधिक थी, जिन्होंने अपनी जुन्सों में तेल लगाकर कंधी कर रखी थी और मिर पर जरीदार चोबी के साफ़े बांध रमे थे। उनके शरीर पर लम्बे चोगे भूल रहे थे और चोगों पर पेटियाँ बसी हुई थी। उनके हाथों में रुदे अर्थात् रुमी तलवार चमक रहे थे। उनकी मूंछों का रंग तबि-जैसा था, धाँवें सुर्न थीं। पान चवाने के कारण मूंह भी लाल थे। घोडों की सफ़-बंदी करके उन्होंने मुवराज को सनामी दी। उनके पीछे तुरेदार मारों, कमर में खुंसी बटारों तथा छोटे-छोटे मालों में लैम और बाजूघों पर बाजू बिटावे वेतन-भोगी सरदारों की मेना चली। उनके पीछे सरदारों के साज-सामान लादे टट्टूओं का दल चला। उनके भी पीछे-पीछे धुंफरुदार वसंती जाधिये पहने, मापे पर नजर-टोने से बचने को बाना टीका लगाये, कमरबंद बसे, अर्धासिंधी

राजा को ही फिर से राजगद्दी पर स्थापित किया तब मुसलमानों का राजतन्त्र इस प्रकार का न था। उनकी राजनीति यही थी कि शत्रु के गिरते ही उसे पूरी तरह मिट्टी में मिला डालो तथा उसकी प्रजा का सारा धन छीन लो, उसके नगरों को तहस-नहस कर डालो तथा मनमाने भ्रत्याचार करो !

देवगढ़, वरंगल, कम्पली और विजयनगर के सैंडहर ही उनकी कर-तूतों के सबूत हैं। दक्षिणा पथ लूटने के बाद मलिक काफूर लूट के माल को ३१२ हाथियों पर सादकर ले गया था। वह ६६००० मन सोना, मोतियों तथा हीरे-जवाहरातों के अनगिनत सडूखों तथा बारह हजार घोड़ों को लेकर दिल्ली लौटा था।

हिन्दू सैनिक भी मुसलमानों की तुलना में घटिया दर्जे के थे। मुसलमानों की फौज में भरव छुरासानी, तुर्क, ईरानी, पठान, हब्शी और भारत के भीत भादि जंगली जातियों के लोग शामिल थे। विजयनगर के महाराजाओं ने समझ लिया था कि हमारे सिपाही मुसलमानों की टुकूर के नहीं होते। इसलिए कृष्णदेव राय ने अपनी फौज में मुसलमानों की भरती की थी। उनके लिए शहर में एक भलग मुस्ल्ला बना दिया था। उनके लिए मसजिदें बनवा दी थी। यह सब करने पर भी मुसलमान अपने महाराजाओं की मर्यादा नहीं रखते थे। राजा को सलाम तक नहीं करते थे। तब महाराजा अपनी मर्यादा को बनाये रखने के लिए गद्दी पर कुरान की एक प्रति रखकर बैठा करते थे, जिसे मुसलमान यह समझें कि वे कुरान को सलाम कर रहे हैं, और हिन्दू यह समझें कि सलामी राजा को दी जा रही है। लेकिन ऐसी झुटिपूर्ण सैनिक व्यवस्था के बावजूद विजयनगर के राजा किसी प्रकार अपनी स्थिति संभालते रहे।

'राजवाहन विजयम्' एक तेलुगु काव्य-ग्रन्थ है, जो कवि वाक्मानोम श्रुति का लिखा हुआ है। इस ग्रन्थ में मुसलमानों बन्दूकों और सदाशिव राय के टंकों की चर्चा है। इस आधार पर अनुमान है कि कवि सन् १६००-५० के लगभग हुए होंगे। 'राजवाहन विजयम्' में युद्ध-यात्रा का विस्तार

के साथ वर्णन है। यह अन्य समकालीन कविओं तथा यात्रियों के वर्णन से भी मेल खाता है। इसलिए हम यहाँ पर इस कट्टु-काव्य से उपयोगी कुछ विषयों के उद्धरण देंगे।

युवराज राजवाहन ने नगर-भर में मुड्ड-यात्रा की हौड़ी पिटवा दी। सारी सेना शहर के बाहर मैदान में जुट गई। युवराज कारचोधी का चौगा पहने थे। बाजुओ पर सोने के जडाऊ कड़े और सिर पर वरसाती टोपी पहन रखी थी। पहार युवराज के लिए पालकी लाये। पालकी के दोनों ओर फुंदनों वाले रेदामी ओहार लगे थे। दोनों के डंडों पर मगर के सिर बने हुए थे। वहारो ने जो हमाल (साफे) बांध रखे थे, उनके पीछे चुड़ी सटकती थी। बमरबद में वे बिल्ले-बिल्ले भर की बटारियाँ खाँसे हुए थे। उनके पैरों में चप्पलें थी। महावत ने राजहस्ती को सा खड़ा किया। साईस एक सजा हुआ घोड़ा ले आया, जिस पर हरमजी जीन बसी थी। राजा ने सोने की एक किरगी पहन ली। युवराज तुलारी घोड़े पर सवार हुआ। आगे-आगे हाथीदल चल रहा था, पीछे पुडसवार दल और फिर रथ तथा पंदल। शल, डोल, नगाडो, हुदुत्ता आदि की ध्वनि से दिशाएँ गूँज उठी। हाथियों के दाँतों पर लम्बी-लम्बी बटारें बंधी थी। पुडसवारों में पठानों की संख्या अधिक थी, जिन्होंने अपनी जुल्फों में तेल लगाकर कभी कर रखी थी और सिर पर जरीदार चोबी के साफे बांध रखे थे। उनके शरीर पर लम्बे चोगे भून रहे थे और चोगों पर पेटियाँ बसी हुई थी। उनके हाथों में हार्दे अर्थात् हमी तलवार चमक रहे थे। उनकी मूँछों का रंग ताँबे-जैमा था, धौलें सुग्गं थी। पान चवाने के कारण मुँह भी ताल थे। घोड़ों की मफ-बंदी करके उन्होंने युवराज की सनामी दी। उनके पीछे तुर्रदार साफो, कमर में खुँमी बटारों तथा छोटे-छोटे भातों में लँग और बाजुओ पर बाजु बिठाये बेनन-भोगी सरदारों की मेना चली। उनके पीछे सरदारों के साज-सामान लादे टट्टूओं का दल चला। उनके भी पीछे-पीछे घुँघरुदार बसती जाँघिये पहने, मापे पर नडर-टोने से बचने की काला टीका लगाये, कमरबद बसे, अर्थात्सिचो

तलवारों के साथ म्यान में लटकाये पैदल सेना चल रही थी। सबसे पीछे काले रंग की पेटियाँ कसे, रंगीन जाँघिये पहने, चाँदी-मढ़े तीर ताने, पीठ पर तरकस बाँधे, तलवारें खींचे, साफ़ों के साथ मटकते, भूमते, काले शेरों-जैसी कर्नाटकी बेंडर-सेना बढ़ रही थी।

प्यादे तीर-कमान सजाये, कलाइयों पर लोहे के कड़े खनखनाते, धावश्यक युद्ध-सामग्री से भरे छोटे-छोटे बोकचे पीठ पर लादे चल रहे थे। उनके पीछे ओटरी (एकाकी) बहलाने वाले वीर सिपाही कमरबन्दी के बीच तिरछी तलवारें कसे, सिर की चोटियों को इकहरे लत्ते से लपेटे, माथे पर टीका लगाये, चमकते दाँतों पर सोने के फूल जड़े, गले में तावीज़ लटकाये, बढ़ रहे थे। पहुँचाने आई हुई अपनी पत्नियों को सैनिक धातुरता के साथ विदा कर रहे थे। कुछ महिलाएँ साथ चलने की हठ कर रही थी। मुसलिम सैनिकों का जनाना टट्टुओं पर सवार होकर चला। उनके मुख पर बुरके और पेरों में छुपने थे। बाहर कई कर्णाटकी स्त्रियाँ चाँदी के बड़े धातुओं में पहने, माथे पर विभूति मले, कुप्यों में दूध-दही-पी भरकर बैलों पर लादे और आप भी उसी पर सवार सेना के साथ-साथ चल पड़ी। सैनिकों के हाथ दूध-दही बेचने के लिए युव-राज की बेइया भी पहरेदार पालकी में बैठकर रवाना हुई। वह अपनी सहेलियों द्वारा दिये जाने वाले पान-बीड़ों को परदे से बाहर हाथ बढ़ा-बढ़ाकर लिये ले रही थी। परदे से बाहर निकली उन नातुफ उँगलियों वाली सुन्दर कलाइयों को देख-देखकर बहुतोंरे तौम आपस में यह घन्दाजा लगा-लगाकर चकित रह जाते थे, कि सचमुच वह कितनी सुन्दर होगी। रानी भी एक पानकी में बैठी थी। रानी की पालकी के पीछे-पीछे दो तिनकधारी बेंगुवावायें 'राधवाएकम्' का पाठ करते चल रहे थे। रानी की मेविकाएँ उन्हें कई "कालंजी, एडपमु, तालुवृत्तमु, कंडि, कुट्टे और बिजामरो" के साथ सेवती चली। रानी की रक्षा के लिए रानी का भाई भी उसी पालकी में बैठ गया। दोहे गा-गाकर क्या कहने वाले तिलकधारी क्याकार साथ में ही थे। रनिवास की स्त्रियों की

रक्षा के लिए उनके माय कुट्ट राधा सिपाही रख दिये गए। रास्ते-भर मूँग, क्वत्री, ईश्व, वाजरे आदि के भेनो में मे छोमियाँ, फल, छड़ियाँ, बानें आदि तोड़-तोड़कर खाती, किसानों को खेती तबाह करती सेनाएं चली जा रही थी। घोड़ों की टापो से धान की मर्दी फमलें टूट-टूटकर भूसी हो गई। रख और हाथियों के चलने से खेतियाँ बरबाद हो गईं। किसान रो रहे थे, भेना बड़ रही थी। सेनापों ने शरद् ऋतु में कूच किया था। भूमि से बचने के लिए मैनिक नीचे वदार विद्धाकर ऊपर से चढ़र छोड़कर सिवुड जाते थे। मेना के खर्च-बर्च का लेखा रखने के लिए कर्णाम् पटवारों भी माय थे। बहुत मारी बेरमाएँ भी सेना के साथ होकर रमियों से एक-एक रात के पन्द्रह-पन्द्रह रुके (रपये) बटोरती चल रही थी। इस प्रकार युद्ध-यात्रा पर मुवराज की सवारी चली।<sup>१</sup>

भाग्ये पचम आद्वाम में जो चर्चा है उसमें पता चलता है कि कम्मा जानि तथा बेलमें जानि के जिनेदार, पाँच हजार अशर्फी पाने वाले पटान कौजदार, माह्वार बेगन पाने वाले राची और दैनिक भत्ता पाने वाले एकावी सिपाही आदि ने युद्ध में भाग लिया। युद्ध-रंग में शत्रु की 'गडल पीज' गडबडा गई। एक ओर बटूवची दुश्मन पर गोली चला रहे थे। जिने के पाटकों को तोड़ने के लिए हाथी लगा दिये गए। कुछ मैनिक तीरों की बौछार कर रहे थे। कुछ लोग जिले की दीवारों के नीचे सुरग रागारर जिने में दरारें डाल रहे थे। कुछ सीढ़ी लगाकर जिने की दीवारों पर लटक रहे थे। शत्रुओं द्वारा उनमें से कुछ तो गिरा-गिरा दिये जाते थे। शत्रुओं की डिटाई को देखकर राजमाहन ने एलाज किया कि "कल 'सबलम्' होगा।" (सबलम् कोई आक्रमण विधि रही होगी।) यह सुनकर शत्रु ने सुनह कर ली।

कम्पतराय के दक्षिण की दिग्विजय-दण्डयात्रा के बारे में भी इसी प्रकार का विवरण मिलता है : बौर कम्पतराय ने सवेरे उठकर सेना-नायकों को तैयारी का आदेश दिया। डोंडी पिठवाकर नगर-भर में

१. 'मुवराज विजयम्', द्वितीय आद्वाम।



इसका एलान किया गया। हाथी-घोड़े आ खड़े हुए। कवचधारी सैनिक कृपाण, फरसे, 'कुन्त' तथा तीर-कमानों से सुसज्जित होकर एकत्र हुए। कूच की वरदिया पहनकर सामन्त, सेनानी समय पर आ उपस्थित हुए। भडे उठाये गए। पुरोहितों ने पत्रे देकर कूच के लिए महरत बनाई अथर्व वेद के मंत्रों के साथ ब्राह्मणों ने हवन किये। फिर राजा अपने लिये सजाये गए विशेष घोड़े पर सवार हो गए। सेनानी जय-घोष करने लगे। सामन्त राजा के आगे-आगे चले। नगर-नारियो ने छतों पर घड़-घड़कर लाने बिकेरे। सेनाएं रवाना हुईं। कूच के पाँचवें-छठे दिन चम्पा राजा की राजधानी 'मुल्बायिनी' पहुँचे। लड़ाई में चम्पा राजा हारकर भाग खड़ा हुआ और राजगम्भीर नामक किले के अन्दर जा दिया। चम्पराय ने उस किले पर घेरा डाल दिया और तीरों से शत्रु-सेनाओं को नष्ट कर डाला। किले के अन्दर से मंत्रों द्वारा फेंके गये बड़े-बड़े दगड़ (पत्थर) से चम्पराय की सेना की भारी क्षति हुई। अन्त में सीढ़ियाँ लगाकर वे किले में दाखिल हुए। चम्पराय को घेर लिया गया।<sup>१</sup>

महाराजा विजयनगर के पास लाखों की सेना थी। तालीकोट की लड़ाई में रामराज ने अन्दाजत छः लाख फौज इकट्ठी की थी। विजयनगर ने सेना पर, विशेषकर घोड़ों पर, बहुत खर्च किया। बहमनी सल्तनत के पाँच टुकड़े हो गए। अहमदनगर, गोलकोंडा, बीदर, बीजापुर और बरार में पाँचों टुकड़ों ने अपनी अलग-अलग हजूमते कायम कर ली। पाँचों सुलतान विजयनगर के लिए बगल की सुरियाँ बन गए थे। जरा भी मौका मिल जाता तो वे विजयनगर-साम्राज्य का ध्वंस कर छोड़ते। इसीलिए विजयनगर की सैनिक-शक्ति पर इतना ध्यान देना पड़ता था। विजयनगर ने पहले ईरानियों से और फिर पुर्तगालियों से घोड़े खरीदे। अच्छे बड़े घोड़े के लिए ३०० से ६०० इक्केटें कीमत होती थी। (एक इक्केटें पाँच रुपये के बराबर होता था।) सम्राट् की सवारी

१. 'मदुरा विजयम्', सर्ग ४।

वा घोड़ा १,००० इकेट वा था। विजयनगर के पास कुन चातौन हजार घोड़े थे। पैदन मेना के पास तनवारों और भाले होने थे। सेना की मरुवा दन लाख थी।<sup>१</sup>

विन्सेन्ट स्मिथ ने अपने हिन्दू देश के 'आक्सफोर्ड इतिहास' में लिखा है—“१५२० ई० में महाराजा कृष्णदेवराय ने रायचूर-मुट्ट में ७०३००० पैदल सैनिक, ३२६०० घुड़मवार और ५५६ हाथी लगाये थे। सेना के साथ साईसों, नौकरों-चाकरों और व्यापारियों की भी एक भारी भीड़ थी।” इसी प्रकार पीन नामक विदेशी लेखक ने भी लिखा है कि ‘कृष्णदेवराय से पहले ही रघों की सेना से हटा दिया गया था। कृष्णदेवराय के समय केवल संस्था-शक्ति ही अधिक थी। फिर भी उसकी सेना मुसलमान योद्धाओं से घबराती थी। राय के अधिकतर सेनानों व्यक्तिगत रूप से शूरवीर तो जहर थे, किन्तु युद्ध-कला में निहम्मे से ही निकले !”

“दुन्दु मुट्ट विजयनगर में ही परवान चढ़ा था। ऐसे युद्ध के लिए उन्हें राजा अथवा मन्त्री से आज्ञा सेना पडनी थी, जोतने वाले को हारने वाले को जायदाद दिता दी जानी थी।” (उक्त बानें 'निहासन-शासिका' की प्रामाणिकता को सिद्ध करती हैं।)

पीन नामक विदेशी लेखक ने लिखा है कि—“सैनिक रंग-बिरंगी पोशाकें पहनते थे। ये पोशाकें बड़ी कीमती होती थीं। वे अपनी रेशमी ढालों पर सोने के फूल जड़वामा करते थे, चाप और सिंह की आकृतियाँ उरेहवाया करते थे। ढालें शोने की तरह चमकती थीं। उनकी तलवारों पर भी सोने का काम होता था। सेनानी तीरंदाज भी थे। उनके धनुषों पर भी सोने का काम होता था। तीरों के धोरों पर पंख लगे रहने थे, कमर में 'दृष्टी' (छेदा) बंधी होती थी, जिममें बटार, फरसे आदि खुले होते थे। भरमार बंडूकियों का भी एक दल था। भीत, बोया आदि

१. Salctore-का Social and Political Life in Vijaynagar Empire, दमरा १९१३।

जंगली जातियों को भी फौज में भर्तों किया जाता था।" (Salatore)

पैदल सिपाही अपने प्राणों की परवाह नहीं करते थे। वह केवल चड्डी (जांघिया) पहनते और बदन भर में तेल मलकर मैदान में उतरते थे। यह उपाय वे शत्रु के भिड़ने पर फिसल निकलने के लिए करते थे। युद्ध-रंग में वे 'गहड़ें गहड़ें' के नारे लगाते थे।

घोड़ों को खूब सजाते थे। उनके सिरों पर सोने-चांदी की पट्टियाँ बाँधते थे। घुड़सवार रेदामी बपड़े पहनते थे। १००० का हामी-दल था। हाथियों को चित्र-विचित्र ढंग से रंगा जाता था। प्रत्येक घम्वारी में चार सैनिक बैठा करते थे। बैलों, खच्चरों तथा गधों से बारबरदारी का काम लिया जाता था। (Salatore)

युद्ध के दस्तावेजों का वर्णन तेलुगु-साहित्य में जगह-जगह मिलता है। कुमार इर्मंडी ने अपने 'कृष्णराज विजयम्' में ज्ञेय-यात्रा का वर्णन यों दिया है :

"बंदूकें छुटतीं धड़ड़ धड़ड़, गुञ्जित हो-हो उठते दिगंत  
अर्धती चलती बाणों की बौछार, दूर तक लक्ष्य भेद  
सब घोर बिलर जाती; भाले छुटते तुरन्त,  
छुटते ईंटे, सुन पडती जहाँ खडक, बस जाते वहीं छेद !  
हल्ले-पर-हल्ला जो मबता, अरिदल में मच जाती भगदड़,  
जो शरण माँगने आ जाता, उस पर कहरा होती वितरित,  
इस तरह दुर्ग-पर-दुर्ग, षोट-पर-कोट, विजय-यात्रा में पड़,  
आक्रांत हुए, फिर अधिकृत भी हो गए त्वरित !"<sup>१</sup>

विजयनगर में बन्दूकों की महत्ता स्थापित हो चुकी थी। रायचूर में तीर तैयार होने लगे थे। 'नवनाम चरित्र' में पृष्ठ ३६ पर रायचूर के तीरों की चर्चा है। बंकटनाथ ने 'पञ्चतन्त्र' में—“स्वप्न में भी दूट न लजने वाली रायचूर की अमोघ तलवारें” कहा है। इसमें पता चलता है कि रायचूर उस समय दशत्र-निर्माण के लिए प्रसिद्ध था।

१. 'कृष्णराज विजयम्', ३-५।

बहने हैं कि कृष्णदेवराय की मेनाओं को देखकर मुसलमानों ने यों कहा था :

“एक लाख बुन्देलों, एक लाख पंडारियों, एक लाख मुसलमानों आदि को मिलाकर उस नरेश के सैनिकों की संख्या द्दः लाख है। घोड़ों की गिनती द्दियासठ हजार है और हाथी दो हजार हैं। सोचो तो सही, लगता है कि जिस राजा के पास ऐसी फौजें हो और तिस पर बेलमें तथा कम्मा जाति की समर्थ प्रजा भी हो, तो या खुदा हम कभी जीत भी सकेंगे।”<sup>१</sup>

बुद्ध शम्भ्रास्त्रों के नाम ऊपर आ चुके हैं। इनके अलावा बुद्ध और भी नाम मिलने हैं। जैसे, पटेलाम्रोवुलु (गोफन) जवरजग, फिरग (तोप), डमामी (बन्दूक) इत्यादि। तीरों के फल तथा पत्थरों का भी प्रयोग होना था।<sup>२</sup> ‘दचना’ को बुद्ध लोग तोप मानते हैं और बुद्ध ने इसे जजीरों ने बांधकर परस्पर फेंकने वाला पाषाण-भंज कहा है।<sup>३</sup> सम्भवतः ‘दचना’ शब्द ‘ध्वसना’ से विगड़कर बना है।<sup>४</sup> सेना के आगे एक सेनानी, उसी प्रकार एक सेनानी पीछे-पीछे भी चला करता था। इन पीछे जाने की “दुमदार दौरा” कहा जाता था।<sup>५</sup>

“.....बाल्होक, पारसीक, शक घट्टा आरण घोटाल।”<sup>६</sup>

उक्त उद्धरण के शब्द षोड़ों की किस्मों पर प्रकाश डालने हैं। ‘बाल्होक’ माने बस्त्र देग का घोड़ा; ‘पारसीक’ ईरान का, ‘शक’ सीथियन, मागदिया, यूनान के उस प्रान्त का, जो ईरान के पश्चिम में है। पर घट्टा कहां है? पता नहीं, पर ऐसा था वेद वैकटराय शास्त्री का मत है कि ‘टट्ट’ शब्द इसीसे बना होगा। आरण पंजाब प्रान्त में

१. ‘कृष्णदेवराय विजयम्’, ३-२६।

२. वही, ३-२६।

३. ‘धामुक्न मात्पदा’, २-६।

४. ‘मनु स्मृति’, ३-५४।

५. ‘धामुक्न मात्पदा’, ७-२०।

होगा। युद्ध के लिए उपयोगी घोड़े दक्षिण भारत में नहीं होने थे। इसीलिए दूर-दूर से मँगवाये जाते थे। उत्तम घोड़ों के लिए मध्य एशिया के तातार, खुतन या सोतान, खुरासान, ईरान, धरब और अफगानिस्तान आदि इलाके तथा सिंध, पंजाब आदि प्रसिद्ध थे। 'अमर कोश' के घोड़े के सभी पर्यायवाची शब्दों की कोई-न-कोई व्युत्पत्ति देने के फेर में 'सिंग-भट्टीयम्' नामक ग्रंथ में बहुत-कुछ खोजातानी की गई है। फिर भी हमारा खयाल है कि 'अमर कोश' के सभी नाम किसी-न-किसी देश के नाम पर लिखे गए हैं। अफगानों का प्राचीन नाम 'अश्वकान' था। वही आह्वकान और फिर अफगान बना। अश्वकान का अर्थ शब्दार्थ होगा घोड़े रखने वाले। मध्य एशिया के खोतान प्रदेश के घोड़े ही घोटक कहलाये। कृष्णदेवराय ने 'घोटारण' का प्रयोग किया है। यह शब्द भी विचार करने योग्य है। तेलुगू में 'साम्रणि' घोड़े का प्रयोग भी है। अर्थात् समारान (ईरान) के घोड़े। खुरासान के घोड़े खुरासानी कहलाते थे। तुर्किस्तान के तुर्कों घोड़े की चर्चा बहुत मुनादी पढ़ती है। इसके लिए तो अलग पुस्तक ही लिखनी पड़ जायगी।

आधों के अपने जमी घोड़ों का न होना एक भारी कमी थी। विजयनगर, रेड्डी और बेलमों राजाधों ने इस अभाव को न पहचाना। इसीसे उन्होंने दाम की परवाह न करके जहाँ से जिस दाम अच्छे घोड़े मिल सके, खरीद लिये। फिर अच्छे सवारों की भी कमी थी। कुत्त को छोड़कर साधारण सैनिक अच्छी सवारी करने और घोड़ों पर चढ़कर युद्ध करने में सधे नहीं थे। यह कमी आध्र मैनाभों में थी ही। इसीलिए अधिक्तर मुस्लिम घुड़मवार ही रखे जाते थे। हिन्दू घुड़सवारों को तैयार करने के लिए भी मुसलमान उस्ताद रमे जाते थे।

सैनिकों को कुश्ती, तीरदाजी, तनवार चलाने और घोड़े की सवारी का अच्छा अभ्यास कराया जाता था। स्वयं कृष्णदेव राय रोज सवेरे कुमुम का बटोरा-भर तेल पीता, शरीर पर उसी तेल की मालिश कर-

वाजा, कुस्ती लड़ता और फिर घुड़सवारी के लिए निक्ल पड़ता था ।<sup>१</sup>

उस जमाने में स्त्रियाँ भी व्यायाम करती और कुस्तियाँ लड़ती थी । अकबर मसहूर कुस्तीबाज पहलवानिनें निक्लती थी । सन् १४४६ के एक शिला-शासन का अभिलेख है कि 'हरि अकका' नाम की एक स्त्री के पिता कुस्ती में मारे गए थे । उसने खुद कुस्ती लड़कर अपने पिता को मारने वाले पहलवानों को पछाड़ा था और उन्हें मार डाला था ।<sup>२</sup>

इस प्रकार उसने अपने बाप का बदला लिया था । बन्दूक की खोज चल पड़ी थी, फिर भी तलवार और भाते का महत्त्व ही अधिक था । इसलिए लोंग व्यायाम तथा कुस्ती के साथ साथ तलवार चलाने तथा घोड़े की सवारी का अभ्यास करने थे । मुहल्ले-मुहल्ले में पहलवानों के असाडे थे, इसे तालीम-खाना कहते थे । व्यायामशाला को तेलुगू में सामु गाले [साम् = व्यायाम, गाले = शाला] कहते हैं । व्यायामशाला की जमीन गहरी खोदकर उसमें रेत भरा जाता और फिर उपरसे घाघे में लाल मिट्टी भर दी जाती थी । उनमें गदा, मुग्दर, सगड़ी आदि रखे रहते थे । सगड़ी को उर्दू में सिह्नोला [संगतोल] कहा जाता है । एक घुरी के दोनों ओर दो गोल-गोल पत्थर के चक्र लगे होने थे । जट्टी या होतकार [पहलवान] का नाम भी उमीको मिलता था, जिमने कुस्ती में कुशलता प्राप्त कर ली हो । हमने यह निष्कर्ष 'मनु चरित्र' (५, ५६) में आये मूर्यास्त के वर्णन से निकाला है । 'राधामाधवम्'<sup>३</sup> से भी इसीकी पुष्टि होती है । अमाडो की भाज भी प्रायः यही मर्यादा है । ऐसे वीरों की यादगार में जगह-जगह 'वीर बल्लु' (वीरों के कीर्ति-स्तम्भ) सड़े किये जाने थे, जो आजकल अकबर गाँवों में पाये जाने हैं ।

जिनी बड़े काम को शुरू करने समय लोग मगुन देखा करते थे । राजा तो मुद्द-यात्रा में भी मवेरे शहर की सड़की अमवा बस्ती से बाहर

१. Salatore II

२. वही

३. ३-७६७.

निकलते समय सगुनों पर ध्यान रखते थे। इसे उपश्रुति कहने से। कटक पर धावा बोलने से पहले कृष्णदेव राय ने एक उपश्रुति विचारी थी। उस दिन सबेरा होने से पहले कोई घोड़ी घाट पर कपडा छटिते हुए गाता जा रहा था—“कोंडाबोड्डू है हमारा, रोड़ापल्ली भी हमारी, ना माने कोई तो कटक भी हमारा रे।” कृष्णदेव राय के कानों में इन शब्दों का पड़ना था कि उन्होंने कूच का हुकुम दे दिया। एक साधारण घोड़ी का यह देशभिमान प्रशस्तनीय है।

बीदर नगर में बरीदशाह के जमाने के किले के अंदर रगीन महल और चीनी महल नामों के महल भी मौजूद हैं। रगीन महल सुलतान अलीबरीद ने बनाया था। उस किले के अंदर मिले हुए लोहे के कुछ कांटों का सरकारी पुरातत्त्व-विभाग ने सुरक्षित किया है, और उसे ग्रन्थ सस्त्रास्त्र आदि युद्ध-सामग्री के साथ रखा है। इन कांटों को 'गोखरू' कहते हैं। कन्नड भाषा में इसे "लगनमुल्लु" [लगन कांटा] कहते हैं। इसकी लम्बाई-चौड़ाई चारों कांटों के साथ दो-दो इंच है। इसे चाहे जिम और से जमीन पर डाल दे एक कांटा सीधा ऊपर की ओर खड़ा होगा, बाकी तीन जमीन पर टिके रहेंगे। कोई पैर रख दे, या कोई भारी चीज उस पर आ पड़े, तो नीचे के कांटे जमीन में घँसकर और मजबूत बैठ जायेंगे। कांटे मूजा के समान मोटे होते थे। जब किसी दुश्मन का हमला होने को हो तो किले के चारों ओर यह गोखरू लाखों की तादाद में बिखेर दिये जाते थे। पैदल, घोड़े, हाथी, चाहे जो भी देखे-परसे बिना उधर से निकलने की भूल कर बैठे, उसके पैरों में ये गोखरू घँस बिना नहीं रह सकते थे। यह एक अपूर्व पद्धति थी। ऐसी चीज और कहीं देखने में नहीं आई। तेलुगू साहित्य में इसका नाम-निशान भी नहीं है। बहमनी फौजी में भी इन गोखरू का प्रयोग होता था। [गोखरू वास्तव में जमीन को पकड़कर, फैलने वाले गोखरू पौधे के कटिदार फलों के नमूने पर बने थे। तेलुगू में इसे 'पल्लेरू काय' कहते हैं। ऐसा लगता है कि लोहे के गोखरू उत्तर भारत में सैनिक सामग्री के आवश्यक अंग

ये । वही गोलरु को आजकल शायद 'लोहे का सिघाड़ा' कहते हैं । सिघाड़े के काटे भी ऐसे ही होते हैं ।—अनु०]

कवि चिन्तलपुडो एन्तनायं ने अपने 'तारक ब्रह्मराजीयम्' में राजा अच्युत देव राय के गुण गाये हैं । उसमें एक स्थान पर एक शब्द 'गघासार लेखक' का प्रयोग हुआ है । इसीको 'कन्दासारम्' कहा गया है । असल में यह संस्कृत 'स्वन्धावारम्' का तद्भव रूप है । इन सबके माने हैं—सेना के खर्च का हिसाब-किताब रखने वाला ।

### सिक्के

चालुक्य और कावतीय काल के सिक्के ही कुछ हेर-फेर के साथ विजयनगर-काल में भी चलते रहे । सोने, चाँदी और ताँबे के सिक्कों का प्रचलन था । राजाओं के साथ सामन्तों को भी सिक्के ढालने का अधिकार था । जाली सिक्कों मयवा नवली सोने-चाँदी के सिक्कों को परखने के लिए मुनार नौकर रखे जाते थे । 'भामुक्त माल्यदा' के अनुसार 'बच्चु' भी इसी काम के लिए नियुक्त रहते थे ।

मिनुकु, कामु, माडा, बीसमु और वरहा उम समय के चालू सिक्के थे । पहले तीन सिक्कों के नाम 'परम योगी विलासम्' में आये हैं, और बाद के दो-तीन सिक्कों के नाम 'भामुक्त माल्यदा' में । जहाँ सिक्के टपते थे उम स्थान को 'टकसाल' कहा जाता था । वरहा सबसे बड़ा था और वह सोने का होता था । कावतीय-काल में 'वरहा' पर वराह और उमके सामने एक सड़ी तलवार बनी होती थी । यही कावतियों का राज-चिह्न था । उसीको विजयनगर के राजाओं ने भी अपनाया था । [वराह का चिह्न होने के कारण उसका नाम वराह पड़ गया था । वही बाद में 'वरहा' हो गया ।] वराह का टप्पा सब सिक्कों पर नहीं होता था । विजयनगर के सिक्कों पर हनुमान, गरुड, नन्दी, हाथी, उमा-महेश्वर, लक्ष्मीनारायण, सीताराम, बैकुण्ठ, बालकृष्ण, दुर्गा, शंख-



चक्र आदि चिह्न भी हुआ करते थे ।

लोग जिस प्रकार बनिये या महाजन के पास कर्ज लेते थे, उसी प्रकार अपना धन उसके पास भ्रमानत भी रखते थे, जिस पर उन्हें कुछ सूद भी मिल जाता था । उन दिनों बैंक नहीं थे । बनिये ही बैंको का काम करते थे । इस लेन-देन में अक्सर तकरार हो जाती और मामला पंचायत तक पहुँचता ।<sup>१</sup>

'पराशर माधवीयम्' नामक ग्रन्थ से पता चलता है कि विजयनगर के राजा हरिहरि राय ने लगान आदि करों को सिक्के में वसूल करने का आदेश दिया था । अर्थात् उससे पहले लोग जिमी या भावली रूप में भी करों का भुगतान करते थे ।

### प्रधान सिक्कों के नाम और उनके मूल्य

सोने के सिक्के—ग्द्याण, वरहा, प्रताप अथवा माडा, पणम्, वाटा, हागा ।

चाँदी के सिक्के—तारा, चिह्न अथवा चिन्ना ।

ताँबे के सिक्के—पणम्, जीतल, कामु इत्यादि ।

द्वितीय देवराय के सिक्कों के मन्वन्ध में ईरान के राजदूत अब्दुरंज्जाक ने सन् १४४३ में जो लिखा था उससे पता चलता है कि—

२ प्रनाप	==	१ वरहा
२ वाटी	==	१ प्रताप
१० पणम	==	१ प्रताप
६ तारा	==	१ पणम
३ नाणम	==	१ तारा

हुआ करता था ।

माधारणतया एक वरहा की तोल ५२ घुमची के बराबर होती थी । जान पड़ता है तैलुगु में जिसे माडें कहते थे, उसीकी वज़्र में

१. 'ग्रामुक्त मात्मदा', ६-६१७ ।

ब्रह्म होता था। उसका मूल्य दो रुपये में कुछ कम होता था। ब्रह्म का आठवाँ भाग था। अतः उनका मूल्य सात आने के होता था। 'हागा' का दूसरा नाम 'वाकिरी' था, वह 'पराम' का आठवाँ भाग होता था।

राजा तिरमल राम ने 'रामटंक' चालू किये थे। कवि-भावभूमि में श्री देवराय के दरबार में ही दीनारों से स्नान करवाया गया किन्तु मिस्त्रों के विशेषज्ञों में से किसी ने भी 'दीनारों' अथवा 'टंकों' का उल्लेख नहीं किया है।

ऊपर गिनाये हुए सिक्कों में से आन्ध्र में 'माड' ही अधिक प्रचलित था। यह उस समय के साहित्य से निश्चय होता है। लोग माडों को या ताँबे के बरतनों में भरकर घर के अन्दर, पिछवाड़े या बाहर के अन्दर गाड़ रखते थे। पीड़ी-दर-पीड़ी गड़े चने घ्राण धन का अपने बच्चों को बताने से पहले ही बूड़ों का मर जाना और बच्चों को डे होकर उनकी खोज में परेशान होना एक परिपाटी-सी थी। अतः अज्ञान अजिब धन के स्थान का पता लगाने वाले मन्थ-नन्थकार हुए। [अब भी कुछ व्यक्ति ऐसे मन्थ जानने का दावा करते हैं। 'हने हैं कि हिमानय के पहाड़ी जिलों में ऐसे व्यक्ति 'धन सूँघ' सकते हैं।] भाग्यवश गडा हुआ धन प्रायः परायणों के हाथ ही पड़ता है। पैसा गाड़कर रखने की आदत गाँव वालों में अब भी पाई जाती है।

शादी-व्याह में बर-मुल्क [दहेज] और बन्धा-मुल्क [जो वधू के साथ ही दिया जाता है,] में माड ही दिये जाते थे। शादियों में मन्थ-नन्थी आदि भेंट में भी माड ही देने से। आश्चर्य तो यह है कि अब भी जब कि 'ब्रह्म' का नाम-निशान तक नहीं है और लोग केवल पैसों ही भेंट चढ़ाने हैं, पुरोहित जी महाराज विवाह के चढ़ावे के अन्त में साथ ही बहने जाते हैं कि समुक्त व्यक्ति ने वधू को अथवा वर को पंचमुरी का अभिलेख

इतने 'वरहा' [रूपये] भेंट दिये हैं। विजयनगर के सिक्के का टप्पा इतना बली था कि अब तक लोगों के दिलों पर उस टप्पे का सिक्का जमा हुआ है।

प्राचीन इतिहास की खोज में पुराने सिक्कों से अत्यधिक सहायता मिलती है। इसके सिवा उसने यह भी मालूम होता है कि उस समय भिन्न-भिन्न धातुओं का मोल क्या था। एकसाल की विधि क्या थी, और सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था का रूप क्या था। पादचात्य जातियाँ प्राचीन सिक्कों को बड़ा महत्त्व देती हैं। पच्छीह में लोग बड़ी-बड़ी कोमिरो से उन्हें इकट्ठा करते हैं। विन्नु हम हैं कि पुराने सिक्के यदि कहीं मिल भी गये तो उन्हें गला-गलाकर खर्च कर लेने हैं। हमारे यहाँ प्राचीन सिक्कों की अच्छी जानकारी रखने वाले इतिहासज्ञ विरले ही पाये जाते हैं। ग्रान्ध में चानुषय, काकतीय, रेड्डी तथा विजयनगर राज्य-काल तथा गोलकोण्डा राज्य-काल के सिक्कों को प्रयत्न-पूर्वक एकत्र करके उन पर एक खोजपूर्ण सविनय ग्रन्थ लिखा जाना जरूरी है।

### व्यापार

यह तो हम बता ही चुके हैं कि देश और विदेशों में ग्रान्ध का व्यापार काकतीय-काल की अपेक्षा रेड्डी-काल में कहीं अधिक बढ़ गया था। विजयनगर-काल में उसकी और भी बढ़ती हुई। भारतीय कामधेनु तथा कल्पवृक्षां की गाथाएँ यूरोप के कोने-कोने से गूँज उठी। 'कल्पवृक्ष' को वे पगोडा वृक्ष [Pagoda tree] कहते थे। यूरोप वाले मनचाने रहते थे कि वे किमो तरह हिन्दुस्तान आयें और उन कल्पवृक्षां को हिला-डुमा कर मनचाही धनराशि जहाजों में भर-भरकर ले जायें। अपने-अपने देश के धनी-मानियो की सहायता में अनेक साहसां व्यक्ति जहाजी बंडे ले-लेकर समुद्र में उतर पड़े थे, पर उन्हें यह पता नहीं था कि भारत पहुँचने का समुद्री-मार्ग किधर से है। स्पेन और पुर्तगाल वालों में होइ-मो नग

गई थी कि वीन पहले भारत पहुँचे। स्पेन वाले कोलम्बस के नेतृत्व में भारत की खोज में चलकर अमरीका के तटवर्ती द्वीपमाला में जा पहुँचे, और उसीको उन्होंने हिन्दुस्तान, (इण्डिया) समझ लिया। न जाने उन द्वीपों के पुराने नाम क्या थे। उन नामों का तो कोई अज्ञानता नहीं, किन्तु स्पेनियों ने वहाँ के निवासियों को रेड इण्डियन [ लाल हिन्दुस्तानी ] का नाम दे दिया। शायद उन्होंने पहले सुन रखा था कि भारत के लोग काले होते हैं, अतः हिन्दुस्तानी नाम में लाल का विशेषण जोड़कर उन्होंने अपनी भूल सुधार ली। पुर्तगाली वास्कोदिगामा के नेतृत्व में अफ्रीका का चक्कर काटकर भारत के पश्चमी तट पर उतरे। श्रीकृष्णदेव राय के शासन-काल में ही वे विजयनगर पहुँचे और भारत के साथ व्यापार शुरू कर दिया।

अरब देश रेगिस्तान है। वहाँ के निवासी व्यापार से ही जीविका चला सकते हैं। इसलिए प्राचीन काल से ही अरब लोग भारत के साथ व्यापार करते रहे हैं। हमारे अति निकटवर्ती देश ईरान ने भी अधिकतर हमारे ही साथ व्यापार किया है। हस्तमुज के मुहाने के बन्दरगाहों से ईरानी जहाज सदा से भारत आने-जाते रहे हैं। वहाँ का मोती प्रसिद्ध था, जिसे भारतवासी हस्तमुजी मोती कहा करते थे।

पूर्व में बर्मा, मलाया, इण्डोनेशिया तथा चीन के साथ हमारा व्यापार चल रहा था। विजयनगर का विस्तृत साम्राज्य पूर्वी तट पर कटक से रामेश्वर तक और पश्चमी तट पर गोवा से कन्याकुमारी तक फैला हुआ था। अधिकांश व्यापार गोवा, कालीकट और मध्यमो पट्टम के बन्दरगाहों से होता था। अष्टदुरंजयक ने लिखा है कि—“विजयनगर राज्य में कालीकट के समान बन्दरगाहों की संख्या ३०० तक थी।” बारबोसा लिखता है कि—“हीरे, जवाहर, मोती, मूँगा, जेवरात, फोडे, हाथी, रेशमी व सूती भात, मुगन्धिया, लोहा, चाँदी तथा औषधियाँ आदि वस्तुएँ व्यापार-व्यापारी थीं। व्यापार में पूर्णतया न्यायोचित बरताव होता था, इसलिए पुर्तगाली

तथा अरब यहाँ खूब आया करते थे ।”<sup>१</sup>

स्वयं कृष्णदेवराय ने अपने ‘आमुक्त माल्यदा’ में लिखा है—  
“विदेशों से हमारे बन्दरगाहों पर घोड़े, हाथी, हीरे-जवाहर, मोती और चन्दन आते हैं । उन्हें लाने वाले विदेशी व्यापारियों को हमने सभी सुविधाएँ दी हैं । अकाल-पीड़ित विदेशियों को हमने आदर पूर्वक आश्रय दिया है ।” आगे कहा है—“दूर-दूर के देशों से विदेशी व्यापारी हमारे देश में हाथी और बड़े-बड़े घोड़े ले आते हैं । हमें चाहिए कि उनका आदर-सत्कार करें, रहने-सहने के लिए अच्छे मकान दें, बसने-बसाने के लिए गाँव दें, और राज-दरबार में सम्मान दें, ताकि उनके हाथी-घोड़े दुश्मनों के हाथ न लगें ।”

कृष्णदेवराय ने इस नीति का अक्षरशः पालन किया । ईरानी राज-दूत ने लिखा है कि—“सम्राट् ने उसे अपने दरबार में विशेष सम्मान दिया और बाजारों में भी जहाँ कहीं हमें देखता तो अपने हाथियों को रोककर हमारी खरियत पूछता और बड़े प्रेम से पेश आता ।”

पाण्ड्य के अन्तर्गत ताम्रपर्णी नदी के सम्बन्ध में लिखा है कि उसमें अपूर्व मणि-मोती प्राप्त होते थे ।<sup>२</sup> अल्लसानि पेद्दना ने भी लिखा है—  
“ताम्रपर्णी के सुविस्तृत तट पर मोतियों के ढेर जगमगाते हैं ।”<sup>३</sup>

भारत के पूर्वी देश पेंगू और मलाका से लाल समुद्र जाने वाले जहाज कालीकट के बन्दरगाह पर रुककर माल लादते थे । उन दिनों सारा व्यापार मुसलमानों के हाथों में था, और उनमें भी अधिकतर अरबों के हाथों में । वे पच्छिम में अफ्रीका के निकट मडगास्कर से लेकर पूरब में मलाका तक के सभी बन्दरगाहों में ठहरने और अपना व्यापार चलाते थे ।

सीजर फडेरिक ने लिखा है कि गोभा के बन्दरगाह पर अरब से

१. V. S. C. पृ० ३६ ।

२. ‘आमुक्त माल्यदा’, ४-२५८ ।

३. ‘मनु चरित्र’, ३-८ ।

घोड़े और मखमल, मटगास्कर से कपड़े और पुर्तगाल से अरमोभिन का आयात होता था ।

‘मनु चरित्र’ में एक झुंझवार का वर्णन कुछ यों दिया है—  
 “हुरमुञ्जी घोडा, उस पर ईरानी चारबामा, बागडोर और पट्टा, पैठन के धनुष-बाण तथा चमकियो से कोरदार तरबस, दायें हाथ में सोने की छुरी अर्थात् सोने का पत्तर चटी हुई छुरी और दायें में ढाल, इसी प्रकार शीराजी छुरी बमर में लगी हुई.....” इनमें से धनुष-बाण वाला पैठन हैदराबाद के अन्नगंत औरगाबाद जिले में है और शेष सारी वस्तुएँ शीराज ईरान की हैं, जो प्रचुर मात्रा में आती थीं । कच्ची (तमिलनाडु) में सोलह हाथ की साड़ियाँ आती थीं, जिन्हें थी वंप्णव स्त्रियाँ पहनती थीं ।<sup>१</sup>

घनियों के घर गहने-जेवर रखने को हाथी-दाँत की पेटियाँ होती थीं जिनमें सोना पिनाया हुआ होता था ।<sup>२</sup>

विजयनगर से सूती माल, चावल, लोहा, शकर तथा सुगन्धियों का निर्यात होता था । द्रविड देश के पुलिकट बन्दरगाह से मलाका, पेगू, सुमात्रा आदि पूर्वी द्वीपों को रगोन किनारीदार ‘कळमवारी’ (सूती माल) आती थी । बस्तर, बारकूर और मगलूर के बन्दरगाहों से मलाबार, माळदीव, हुरमुञ्ज, यदन आदि पश्चिमी देशों को महाँ का चावल आता था । मटकळ से लोहे और गजर का निर्यात होता था ।

आयात—घोड़े, हाथी, मोती, मूंगे, सीप, ताँबा, पारा, केसर, रेशम और मखमल का आयात विदेशों से होता था । हाथी सिंहल (श्रीलंका) में और मखमल मक्का से आता था ।<sup>३</sup> मक्का से आने के ही कारण शायद इसका नाम मखमल पड़ा । उस समय के ‘पलाटि वीर चरित्र’ आदि तेलुगू साहित्य में मखमल की चर्चा कई जगह पाई जाती है ।

१. ‘कृष्णदेवरायविजयमु’, २-२ ।

२. ‘शायारायमु’, ४-१७२ ।

३. V.S.C. २२१-२ ।

व्यापार में मुसलमानों के बाद दूसरे नम्बर पर कोमटी सेठ ( वनिया ) और मलाबारी थे । सेट्टियों में तमिलनाड के चेट्टी ही अधिक थे । किन्तु इन लोगों ने विदेशी व्यापार में हिस्सा कम ही लिया । ये लोग विजयनगर साम्राज्य के अन्दर-ही-अन्दर एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में, और एक जगह से दूसरी जगह माल लाया करते थे ।

देश में एक जगह से दूसरी जगह जाने के लिए सड़कें बहुत कम थीं । जो रास्ते थे भी, उन पर बैलगाड़ियाँ तक चल नहीं सकती थीं । व्यापारी अपना माल बैलो, टट्टुओ, गधों, सच्चरो और बहैगियों पर लादा करते थे । इस बात को हमारे साहित्यकारों ने तो लिया ही है, पीस, वारोसा, अमंद आदि विदेशी यात्रियों ने भी अपनी आँखों देखी बातें लिख रखी हैं । जब सड़कें न हो और जगल अधिक हो तब चोर-डाकुओ का अधिक होना भी अचर्यम्भावी था । 'परमयोगीविलासमु' में परकाल नामक एक वैष्णव के जगलो में घात लगाकर व्यापारियों को लूटकर, बन्दरगाहों पर डाके डालकर देश-भर में लूट-मार मचा रखने की विस्तृत चर्चा है ।<sup>१</sup> चोरों के डर के मारे व्यापारी टोली बनाकर चलते थे । पीस ने लिखा है कि "विजयनगर से भटकल तक जाने वाले एक-एक कारवाँ में पाँच-पाँच छ-छ हजार लद्दू बैल एक साथ चलते थे । ( लद्दू बैलों को ताड़ा बहा जाता था । ) बीस या तीस पशुओ पर एक आदमी के हिमाव से व्यापारियों के अपने आदमी होते थे ।"<sup>२</sup>

कुछ लोग उस समय की कीमतों को लिख गए हैं । उनको देखने से पता लगता है कि उस समय गभी चीजें बहुत सस्ती थीं । पीस ने लिखा है—

"विजयनगर-जैसे कपड़े संसार में कहीं भी मिल नहीं सकते । चावल, गेहूँ, दाल, ज्वार, सेम आदि अन्नों को यहाँ इफरात है, और ये

१. 'परमयोगीविलासमु', आशवास ६-७ ।

२. V.S.C. पृ० २४४ ।

बहुत सस्ते हैं। शहर में डेढ़ आने में तीन मुरगियां मिलती हैं और देहातों में चार। डेढ़ आने में १२ या १४ कबूतर विकते हैं। एक पण (सात आने) में घंगूर के तीन गुच्छे देते हैं और दस अनार। एक बरहा देकर शहर में बारह बकरियां भोल ली जा सकती हैं और देहातों में पन्द्रह। एक सिपाही अपने एक घोड़े और एक नौकरानी का माहवार सर्वा ४-५ बरहा में खला सकता है।”

गोल मिर्च (काली मिर्च) पर चुड़्डी लगती थी। उन दिनों काली मिर्च पर बहुत मुनाफा था। अभी हमारे देश में दक्षिणी अमेरिका से घाज की मिर्च नहीं आई थी। तेलुगू में गोल मिर्च को 'मिरियम' कहते हैं। इनके साथ लाल या काला विशेषण शब्द नहीं है। हरी या लाल मिर्च को 'मिरपकाय' (मिर्च का फल) कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि मिर्च के स्थान पर हमारे पूर्वज गोल मिर्च का ही प्रयोग करते थे। गोल मिर्च मलयाल देश अथवा केरल में मूब उगती थी। पूर्वी द्वीपों में भी इसकी इफरात थी। व्यापारी इन दूर-दूर के प्रदेशों से मिर्च मँगवाकर देखा करते थे। मिर्च पर लगने वाले महसूल से राज्य को भारी आमदनी होती थी।

'नवनाय' में एक गाथा बखित है : "एक बनिया लदूह लादे रास्ते में खला जा रहा था। रास्ते में चौरंगी मिली। पूछा क्या है ? बनिया डर गया कि वहाँ चुड़्डी घाला न हो। महसूल से बचने के लिए उसने कहा—ज्वार है। उसे यह देखकर बड़ा पद्यतावा हुआ कि सचमुच उसकी सारो-की-सारो मिर्च बदलकर ज्वार हो गई थी।”

ज्वार थी क्या से जान पड़ता है कि उन दिनों मिर्च पर तो चुड़्डी लगती थी, पर ज्वार पर नहीं।

व्यापारी अपनी गुप्त भाषा बोलते थे। घाज भी मद्रास में व्यापारी एक-दूसरे की हथेली पर घेंगुनियां फेरकर चीजों की कीमत को बतला देने हैं। उम समय एक कोमटी भाषा (व्यापारी भाषा) थी, जिसमें उस



आन्ध्र के अन्दर ही ऐसे लोग पाये जाते थे, जिनका पेशा फूल-मालाएँ गूँथना और बुक्का-अबीर आदि सुगन्धियाँ तैयार करना था। जिस नगर में वेश्याओं के घर हजारों की सख्या में हो, वहाँ सुगन्धियों की कमी कैसे हो सकती है? बुक्का, गुलाल आदि के साथ पन्नीर (गुलाब जल) भी चमड़े की मशको में भर-भरकर बिकता था।

आन्ध्र देश आदिकाल से हीरो की खान के लिए प्रसिद्ध था। गुत्ती जकशन से बीस मील की दूरी पर एक गाँव 'बज्ज कहर' है, जो अंग्रेजों के आगमन तक हीरो के लिए मशहूर था। गुत्ती का किलेदार बज्ज कहर के हीरे ले-लेकर सआटों के पास भेजा करता था। उस समय के यात्रियों के कथनानुसार देश के अन्दर हीरो की ऐसी तीन-चार खानें और भी थी।<sup>१</sup>

सुनार, लुहार, बडई, बसार, राजगीर आदि की वृत्तियाँ खूब चलती थी। इन्हे पाचाणों के नामों से याद किया जाता था। पाचाण माने शिल्पकार। आज भी कहीं-कहीं देहातो में लोहार, बडई आदि को पाचाणी कहा जाता है।<sup>२</sup>

जहाँ साधारणतया १० लाख की सेना रहती हो और जहरत पडने पर २० लाख सिपाहियों को इकट्ठा किया जाता रहा हो, उसे विजयनगर राज्य में लुहारों को काम की कमी कैसे हो सकती थी? उन दिनों के लुहार अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्रों के अच्छे कारीगर थे। राजा-महाराजा, सरदार और महाजन लोग मन्दिर, धर्मशाला और किले आदि घूब बनवाया करते थे। इसलिए राजगीरों को काम की कमी नहीं थी।

कपड़ों पर देशी रंग चढाया जाता था। बिदोपकर नील का प्रयोग अधिक होता था। मज्जीठ, इगलीक और हरं आदि से विविध रंग तैयार किये जाते थे।<sup>३</sup>

१. V.S.C., पृष्ठ २१८।

२. 'परमयोगीविलासमु', पृ० ५२३।

३. 'आमुक्त माल्यदा', ४-१०।

### जन-साधारण का जीवन

विजयनगर राज्य में आन्ध्रों का बोल-बाला था। आन्ध्र देश घन-दोलत से मालामाल था। आन्ध्रों ने अपने उत्साह और कला-प्रियता के कारण देश-विदेश में नाम कमाया। आन्ध्र के लिए वह एक प्रबन्ध-युग था, जिसमें श्रद्धाहियों के साथ बुराइयाँ भी सम्मिलित थीं। सुन्दर वस्तु-निर्माण, मनोहर चित्र-लेखन तथा अन्य कलाएँ देश-भर में फली-फूली। घनिक वर्ग के बीच विलासप्रियता ने इसी युग में सिर उठाया। विजयनगर एक मनोहर नगर बन गया। विजयनगर की उसी उन्नति के भीतर भावी पतन के लक्षण विद्यमान थे। लोगों के घर-द्वार, उनकी देश-भूषा उनके बनाव-शृंगारों और उनके आचार-विचारों के सम्बन्ध में हमें अच्छी जानकारी मिल गई है। अब हम राजाओं और सरदारों के रहन-सहन और उनके जीवन-विधान के सम्बन्ध में भी जानने की कोशिश करेंगे।

सज-धज और टाट-बाट से रहना उन्हें अधिक पसन्द था। वे पत्रीर (गुलाब जल) में चन्दन और कस्तूरी मिलाकर शरीर में लेप किया करते थे। सिर पर ऊँची-ऊँची तुर्रदार टोपी पहना करते थे। बानों में बड़ी-बड़ी बालियाँ और गले में मोतियों के हार धारण करते थे। सुख किनारीदार घोटियाँ पहन-घोड़कर हाथों में सोने की मूठ वाली तलवारें धरते थे। पीछे-पीछे दासियाँ हाथों में चाँदी के पान-दान लिये चलती थीं। जब राजा साहब विनोद के लिए वेश्या के घर की ओर चलते, तब इस प्रकार सज-धज कर चलते थे।<sup>१</sup>

राजमहलों के भीतर मोर भी पाले जाते थे। आराम से सोने वाले राजा साहब दिन में देर से ही जागा करते थे। फिर शरीर पर खुशबू-दार फूलों से तैयार किये हुए गंधराज की मालिश करवाते और गरम पानी से देर तक नहाते थे। तब सफेद धुली धोनी पहनकर अनेक प्रकार के कीमती हारों और मालामालों से सुसज्जित होकर वे खाने पर बैठने

१. 'भामुक्त माल्यदा', २-७५।

थे। वारीक चावल, शिकार से लाई गई जंगली चिड़ियों और मक्खन से तैयार गाय के ताजे घी का व्यालू होता था। भोजन के बाद मुख में कस्तूरी, साम्बूल डालकर वे जीने द्वारा कोठे पर पहुँचते थे, जहाँ छोटे-छोटे पहिपेदार कुण्डों में अगुरु धूम की सुगन्धियाँ होती थी। उन्हें मूँघते हुए वे अन्त पुर की सुन्दरियों के साथ ग्रानन्द करते थे।<sup>१</sup>

पान की महत्ता बहुत गई गई है। राजे-महाराजे और धनी-मानी व्यक्तियों का पान सदा सुपारी, सोठ, हरे कपूर, कस्तूरी आदि बहुमूल्य पदार्थों से भरा होता था।

अच्युतुरंजाक ने आश्चर्य प्रकट करते हुए लिखा है कि : "पान का सेवन सभी धेणो के लोग करते हैं और पान भी बड़ा ही उत्तेजक द्रव्य करता है। शायद इसी कारण महाराजा अपनी दो सौ से अधिक पत्नियों के भलाया अनेक उपपत्नियों के साथ भी विषय-भोग करते हैं।"

सोने-चाँदी के सुन्दर पानदानों के ऊपर सोने की वारीक पच्चीनारी भी होती थी। उन्में जाल-मल्लिका कहते थे।<sup>२</sup> धनी लोग स्नान के समय शरीर पर मलने के लिए हल्दी, चाँवले तथा अन्य सुगन्धित पदार्थों के साथ तैयार किये हुए विशेष प्रकार के आटे का उपयोग करते थे। इसके लिए मूँग और चने का बेसन काम में लाया जाता था। यह स्त्रियों के लिए होता था। पुरुषों के लिए उसमें चन्दन का चुर्गु भी मिलाया जाता था।<sup>३</sup> स्नान के बाद स्त्रियाँ बाराँ को अगुरु धूम से मुखरती थी और फिर उनमें जव्वाजी मलती थी।<sup>४</sup> स्त्रियाँ नाखूनो पर लाख (रग) चढ़ाती थी।

मासाहारी विलासो पुरष गमियों में भी आम की कैंरी के साथ तेल में तली मछनी की बोटियाँ दिन के समय जो खाकर सो रहते थे,

१. 'ग्रामुक्त माल्यवा', ४-१३५।
२. 'पारिजातापहरण', २-२०।
३. यही, ५-५६।
४. 'राधामाघवीर्यम्', ४-१६३-६८।

तो शाम को उठते थे और उठकर गीले बालू के नीचे दाबकर रखे हुए नारियल को निकालकर उसका पानी पीते थे। इस प्रकार मछली की दुर्गंध को दूर करने के दाद बाहर निकलते थे। जान पड़ता है कि कृष्ण-देवराय ने यह करने ही अनुभव का वर्णन किया है।<sup>१</sup>

ब्राह्मणों को वैभवानन्द की कोई कमी न थी। ब्राह्मणों की भोजन-प्रियता तो प्रसिद्ध है ही। गर्मियों में वे केला, कटहल, खीरा, मीठे आम, अंगूर, अनार, भीगी हुई मूँग की दाल और शरबत लिया करते थे।<sup>२</sup>

शामुनाचार्य के सम्बन्ध में लिखा है कि 'मुनचिना' का ताग उन्हें अत्यन्त प्रिय था। उसे मस्तिष्क के लिए अच्छा माना जाता था।<sup>३</sup>

राजाओं और उनके सम्बन्धियों में शिकार का मूढ शौक था। सधे हुए चीने छोड़कर वे हिरनों का शिकार करते थे।<sup>४</sup>

शिकारी कुत्ते भी रखते थे। वर्षा होने पर उन कुत्तों को जंगल में ले जाते और जहाँ वही हिरनों का झुण्ड देखते, उन्हे कुत्तों को चारों ओर में छोड़कर घेर लेते थे। जब हिरन भाग-भागकर थक जाते और कीचड़ में भागने की शक्ति उनमें नहीं रह जाती और वे कीचड़ में फँस जाते, तब कुत्ते उन्हें धर दबोचते।<sup>५</sup> कवि पेट्टना ने तो बताया है कि ऐसा शिकार हिमालय पर्वत पर होता था। पर मह कौसे सम्भव है? हिमालय पर्वत पर चिकनी काली मिट्टी थोड़े ही है कि हिरन उसमें फँस जायें? शम्भुव में कडपा, कर्जल और चल्तारी प्रान्तों की मिट्टी काली और चिकनी है और वहाँ आज भी बरसान में हिरन का शिकार किया जाता है।

१. 'शामुक्त माल्यदा', २-६८ ।

२. वही, २-८३ ।

३. वही, ४-१६५ । 'परमयोगोदितामनु', पृ० ५८१ ।

४. 'शामुक्त माल्यदा', ४-१६३ ।

५. 'मनु चरित्र', ४-२० ।

### भील जाति

कडपा प्रान्त के उन इलाको में, जिन्हे मिट्टी के लाल या काली होने के कारण एरामला (लाल जंगल) और नल्लमला (काला जंगल) कहते हैं, जंगली भील बसते हैं। उनका गुजारा प्रायः शिकार पर ही होता है। उनके सम्बन्ध में इमति ने अपने काव्य 'हस्ती-शतक' में बहुत-कुछ लिखा है।

पोता पिनाडु और उडुमूर की वस्तिथो में पहले भील बसते थे। ये दोनों गाँव अब भी मौजूद हैं। पहला गाँव आजकल कडपा जिले की राजमपट तहसील में है। उडुमूर आजकल 'उडुमूल पाड' कहलाता है। भील उन दिनों सगोटी के बदले कमर में बड़े-बड़े पत्ते बाँध लेते थे, यही उनकी पोशाक थी। आज भी कोया आदि जंगली जातियों के स्त्री-पुरुष दोनों ही प्रतिदिन सबेरे लम्बे-चीड़े पत्ते तोड़कर करधनी से धागे और पीछे एक-एक पत्ता बाँध लेते हैं। स्त्रियाँ फूल-पत्तों की मालाएँ बड़े प्रेम से पहनती थीं। बदनउर से बचने के विचार से वे सीगदार जानवरों के सिर एक डंडे से बाँधकर खेतों में गाड़ रखते थे। वे जंगल के फल, कद-मूल, शहद, चिरींजी आदि खाया करते थे। स्त्रियाँ अपने भूरे बालों में मोर-पंख सजा लेती थीं। भीलों के लिए तीर-कमान ही खास हथियार थे। वे अपने तीरों से जंगली जानवरों का शिकार करके उनका मांस खाते थे। आम, जामुन, कुदरू, करींदा, धेर, तेंदू, मोहा, गूलर, ककौट, तरोई, कोम्मी, गोजी आदि फल उनके आहार थे।<sup>१</sup>

जंगलों में रहने वाले थे भील और कोया नाम के लिए तो अड़ोस-पड़ोस के किसी-न-किसी राजा के अधीन समझे जाते थे, पर वास्तव में वे एकदम स्वतन्त्र होने थे। वे बड़े सच्चे होते थे। "जब वे किसी को अभयदान करते हैं, तो उसे एक तीर या मूत का टुकड़ा निशानी के रूप में दे डालते हैं, जिसे दिखाने पर जंगल के दूसरे लोग चोर आदि उसे

१. 'श्री कालहस्तीश्वर माहात्म्य', अ० ३, प० १-१३०।

नहीं छेड़ते ।” “अगर इन पवंतीयों को दोस्त बनाकर न रखें तो ये बड़े दुश्मनी सिद्ध होते हैं । प्रजा को तरह-तरह से सताना करते हैं । इसलिए उन्हें घरनी मेना में भर्ती कर लेना ही उचित है । अविश्वाम हो अथवा विश्वाम, नाराजी में या खुशी में कड़ी दुश्मनी या गाड़ी दोस्ती रूपों में सहज ही हो जाती है ।”<sup>२</sup> भीम आदि को एक बार दूध भी पिना दो तो वे उन्हें मदा माद रखेंगे । किन्तु यदि तनिक भी सन्देह हो जाय तो वे जीना नहीं छोड़ने ।”<sup>३</sup>

तेनुगु साहित्य में इस तथ्य का जगह-जगह बर्णन है कि गिज़ार की बात भाने पर जंगली जातियाँ राजा के पास जाकर जंगली बिन्नियाँ (पुनर्गपिल्लो), बारहसिधे, हाथीदान, बघनघे, हिरन की खान, चिरीनी, काङ्क, गहद आदि भेंट दिया करती थीं । इनमें बटकर वे और क्या कर सकते हैं ? हमारी बगल में ही अनादि काल से रहने-महने वाले और हमारे ही भाषा को भड़े भोड़ रूप में बोलने वाले गोडों, भीलों, कोसा आदि पवंतीयों के जीवन-विधान तथा उनके इतिहास को जानने और उनका सुधार करने की प्रवृत्ति हम लोगों के अन्दर धाज तक जाग्रत नहीं हो पाई है । पाश्चात्यों ने तो उनके सम्बन्ध में अनेक ग्रन्थ लिख डाले । हाल की ही बात है कि ह्यूमन ड्राफ्ट नामक एक जर्मन नागरिक हैदराबाद राज्य के जंगलाड-विभाग में नौकर हुआ और उसने भीलों तथा गोदावरी-तटवर्ती विखन कोंडा पहाड़ी की रेड्डी-नामधारी जंगली जातियों के सम्बन्ध में कई पुस्तकें लिख डालीं और हमारा यह हान है कि हमारे यहाँ कोई उन्हें पढ़ने वाला भी नहीं ! तेनुगु भाषा न जानने के कारण उन जर्मन ने कई जगह भूलों की हैं । भीलों के सम्बन्ध में लिखने के वास्तविक अधिकारी तेनुगु ही हो सकते हैं । हमारे भीलों के सेन-कूद, नाच-गाने, आचार-विचार, वेस-भूषा, रहन-सहन,

१. वेदम् की व्याख्या ।

२. 'धामुक्नमाल्यदा', कृष्णादेव राय ।

३. वेदम् की व्याख्या, 'धामुक्नमाल्यदा', ४-२२३ ।

रूप-सिगार, उद्योग-धन्धो, उनकी श्रौपधियों, मन्त्र-तन्त्र, उनकी धनुर्विद्या, तीर-कमान और छुरी-कटार, उनके खान-पान, उनकी भोंपड़ियों, उनके विश्वासों तथा उनके देवताओं आदि के सम्बन्ध में सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त करने के लिए कुछेक शिक्षित युवकों का भ्रामे बटना और मेहनत करना जरूरी है ।

सरदारों के घरों में छपर-पलग होते थे जिनमें तोतो, हंसों और बेल-बूटों की धारीक खुदाई का काम होता था । पलग पर मच्छरदानी भी लगी रहती थी । दरवाजों पर दरवान, पहरेदार और चौकीदार रहते थे । सिपाहियों के बड़े जमादार को 'नकीब' कहा करते थे । यह फ़ारसी शब्द है । राजा जब कभी (दौरे या शिकार पर) उनके गाँव की ओर जाता, तब वे राजा का सम्मान करने बहुत दूर तक जाते और दूल्हे के समान स्वागत करके उभे ले आते थे । दिन के समय भी मसालों के जलूम और गाजे-बाजे के साथ उसका ग्राम-प्रवेश कराते थे ।

विजयनगर के महाराजाओं को अपने और राज्य के सब खर्च के बाद सालाना एक करोड़ 'माडा' (सोने के सिक्के) की वचत हो जाती थी । मंत्रियों, सामंतों और सरदारों को भी वेतनों की जागीरों से सालाना पन्द्रह हजार से ग्यारह लाख माडा तक की भ्रामदनी होती थी, जिसमें से एक तिहाई को राज्य के देय के रूप में चुकाकर बाकी दो तिहाई में वे भ्रपना और भ्रपनी फौज का खर्च चलाते थे । उन्हें निश्चित संख्या में सेना रखनी पड़ती थी, और जरूरत पर भ्रपनी सेना को सरकारी सेनाओं के साथ मृद्ध-भूमि में उतारना पड़ता था । परन्तु ये सरदार उस निश्चित संख्या में सेना तो प्रायः नहीं ही रखते थे । इसके बदले वे ऐसा बदीवस्त रखते थे कि गाँव वाले बुलावा होते ही सिपाही बनकर हाज़िर हो जायें । इस तरह खर्च बचाकर और भ्रामदनी बढ़ाकर वे मनमाना मर्च करते थे ।<sup>१</sup>

विजयनगर शहर का घेरा लगभग ६० मील का था । राजमहन के

अन्दर घनेक भवन बने हुए थे। बड़े-बड़े दालान और बड़े-बड़े फाटक बने हुए थे। शहर के अन्दर बड़े-बड़े मैदान भी थे। जगह-जगह पानी की कृत्रिम भीलें थीं। मंत्रियों और मण्डलाधीशों ने भी अपने लिए उसी प्रकार के भवन बनवा रखे थे। महाराजा के महल के आस-पास ही सामन्तों के भी बड़े-बड़े भवन पाँतों-पाँत खड़े थे। सभी भवन सुन्दर सजे थे, और इस कारण आँखों को आहृष्ट करते थे। विरूपाक्ष मन्दिर के सामने वाली विशाल सड़क और उसके दोनों ओर भवनों की सुन्दर बतार देखते ही बनती थी। नागुलपेट (होमपेट = नई बस्ती) के अन्दर मकान एक मजिद, किन्तु विशाल और सुन्दर बने थे।<sup>१</sup>

सामन्तों तथा सरदारों की पोशाक के बारे में बारबोस नामक यूरोपीय यात्री ने इस प्रकार लिखा है :

“वे कमर में कमरबंद बाँधते हैं। उनके अँगरखे कोई बहुत लम्बे नहीं होते। कुछ छोटे और चारीक सूत या रेशम के होते हैं। इन अँगरखों की सामने की ओर से खोला और बाँधा जा सकता है। (अर्थात् उनमें बंद लगे होते थे।) बँटते समय अँगरखे के पल्लों को शनों के बीच दबाकर बँटते हैं। सामन्त-सरदारों के साफे छोटे-छोटे होते हैं। कुछ रेशमी तथा कारचोबी की टोपी भी पहना करते हैं। पँरों में चप्पलें या जूने पहनते हैं। कंधों पर भारी-सो चादर पड़ी रहती है। उनकी स्त्रियाँ चारीक मलमल या रंगीन रेशम की साड़ियाँ पहनती हैं, जो पाँच गज लम्बी होती हैं। ये रेशमी तथा कारचोबी जूतियाँ भी पहनती हैं।”<sup>२</sup>

नूनिज नामक एक विदेशी ने विजयनगर के महाराजाओं के सम्बन्ध में लिखा है कि वे गौरैया, बिल्ली, चूहा और छिपकली भी खा जाया करते थे। हमारे देश के अन्दर आज भी परम नीच चाहाल कहलाने वाले तरु बिल्ली-छिपकली नहीं खाने। उन सम्राटों को स्वादिष्ट भोजनों की कौन कमी थी, जो इस प्रकार की भक्ष्य वस्तुओं के लिए तार टप-

१. V. S. C., पृष्ठ २२६।

२. वही, पृष्ठ २२७।



बाते? यह सफेद झूठ है। पाशुचात्यों ने जान-बूझकर या अनजाने ही ऐसी अनेक उतटी-सीधी बातें लिख छोड़ी हैं। 'वीसन्ना वेदम' के समान काक-भापा को काक ही समझे।

अब जन-साधारण के जीवन-विधान पर ध्यान दें। राजाघो के बाद समाज में रेड्डियों का विशेष स्थान था। कोडा वीहू राजा के साथ अपनी बेटी स्याहने के बाद भी कृष्णदेवराय और रेड्डी राजाघो में कभी नहीं बनी। आये दिन लडाइयाँ बनती रही। निदान, रेड्डी-राज्य का पतन हो गया। विजयनगर साम्राज्य के अन्दर रेड्डी लोग गाँव के मुखद्म-मुखियों की हैसियत से रहकर, सेना में भरती होकर अथवा खेत जोतकर गुजारा करते रहे। राजा कृष्णदेवराय ऊँचे दरजे का कवि भी था। उमने इन रेड्डियों की बार-बार हंसी उड़ाई है—(भावार्थ) "अंटी की इकन्नी को आठ बार खोलने और बाँधने में घलसाते न रेड्डी हैं।" अर्थात् रेड्डियों की दसा इतनी गई-गुजरी थी कि कहीं से दकन्नी का सिक्का पा जाते तो बारह गाँठों में बाँधकर रखते थे। ज़रूरत पड़ने पर भी बार-बार खोलते तो थे, पर खरबने की हिम्मत नहीं कर पाते थे या न चाहते पर भी खर्च करना पड़ जाता था। गरीबों के लिए तो एक आना ही भारी खजाना है। रेड्डी लोग अपने खेतों में मचान डालकर दिन-भर चिडियाँ हुसकाते और रात-भर चोरो से खेतों की रसवाली करते थे। रेड्डी, स्त्रियाँ सावन-भादों की ऋद्धी में भी सिर पर गटका के मटके डलिया में रने और उन पर से मरपत का छाता ओढ़े खेतों के रखवाले पतियों को खिलाने जाती। रखवाले को ज्वार-बाजरे के हरे मुट्टे खाने को खूब मिलते थे। कृष्णदेवराय ने वर्षों में रेड्डियों की दसा को इस प्रकार बखाना है :

"गुनुग, चंबसी, तुम्मी, तगिरिसों : मेड़ों की बरसातो साग,  
या इमली के दूँसे को ही खूब तेल में धोंक-बघार  
ज्वार-बाजरे के दलिये सँग खाकर खेतें हुए डकार  
बलते हैं खेतों की रेड्डी, गार्धे-बघड़ें लेते घाट

उनमें अंगों को । ऐसी सरदी में गरमाने को खाट,  
तले अनन्य मित्र बकरी की मँगनी की अँगोठी डाल  
तान लगाते हैं.....”<sup>१</sup>

इस पद्य का तात्पर्य यह है कि सावन में घास-पात तो उगती ही है; रेड्डी सब तरह के सागों की कुट्टी-सानी बनाकर खिचड़ी-साग तैयार करने थे और तेल, नमक, मिर्च आदि डालकर उसे पकाते और खाते थे । किसान होने के कारण उनकी गायें-भैंसें और बकरे भी होते ही थे, घान के सेतो में वे खाट पर पडकर कौड़ा तापते थे ।

समय की गति देखिये, जिनके सम्बन्ध में सम्राट् कृष्णदेवराय ने ऐसे उद्गार प्रकट किये, एक सौ वर्ष के बाद उन्हीं रेड्डी प्रमुग्रो के बारे में तजावर के रघुनाथ राम ने यो लिखा है -

“भोजन कर कपूर्ँरी भोग सुगन्धित चावल,  
कंधे पर लम्बी-धौड़ी-सी उमदा चादर  
और उँगलियों में सोने की नग-अंगूठियाँ  
एँठे बँठे रेड्डी प्रभु कचहरी लगाकर !”<sup>२</sup>

रेड्डी लोग ग्रामाधिकारी होते थे । चोरो को पकडकर उन्हें दण्ड देना, भगडे चुकाना, गाँव की रक्षा करना आदि उनके कर्तव्यों में से थे ।<sup>३</sup>

इस सन्दर्भ में कृष्णदेवराय ने रेड्डी शब्द के कई पर्यायों का प्रयोग किया है । राष्ट्रकूट, रट्टकूडि, रट्टडि रेड्डी आदि सभी एक ही शब्द के बदले हुए रूप हैं । सन् १६५० ई० के बाद से ‘रेड्डी’ शब्द ही सुस्पष्ट हो गया । तेनाली रामकृष्ण तथा चेमकर बेंकटपति की कविताओं से भी इसकी पुष्टि होती है ।

रेड्डियों ने मेती को अपना जात-पेशा बना लिया । धान्त्र देस के

१. ‘ग्रामुक्त मात्पदा’, ४-१३४ ।
२. ‘रघुनाथ रामायण’ ।
३. ‘ग्रामुक्तमात्पदा’, ७-१६ ।

अन्दर उनकी अच्छी साख थी। पेटा मैलार रेड्डी बहुत प्रसिद्ध था। बहुत-से रेड्डी ग्रान्ध से बाहर दूर-दूर के प्रान्तों में भी जा बसे थे। आज भी कितने ही रेड्डी तिरुचनापली, कोयम्बतूर, सेलम आदि में बसे हुए हैं।<sup>१</sup>

कृष्णदेवराय और रेड्डी राजाओं के बीच शत्रुता किस सीमा तक पहुँच गई थी, इसी सम्बन्ध में एक गाथा सुनने योग्य है। कृष्णदेवराय की ओर से रामभास्कर नामक एक ब्राह्मण कोडावीडु पहुँचा। वहाँ पर उसने भगवान् गोपीनाथ के पुराने मन्दिर का पुनर्निर्माण करवाया। फिर राजा और उसके सम्बन्धियों को देव-दर्शन के वहाने मन्दिर पर बुलाया तथा मन्दिर के भीतरी भाग में ले जाकर एक-एक करके उन सभी को कत्ल करवा डाला (सम्भवतः कृष्णदेव राय के गुप्तचरों द्वारा)। उसके बाद कृष्णदेव राय ने कोडावीडु पर चढ़ाई कर दी और उसे हस्तगत कर लिया।<sup>२</sup> कुछ और ग्रान्धों ने भी इस घटना की पुष्टि की है। फिर भी इसकी सत्यता पर विश्वास कम ही होता है।

उस समय की खेती-बाड़ी के सम्बन्ध में बरबोसा ने लिखा है—  
 “कन्नड़ देश में धान की खेती होती है। बुवाई लम्बी-सी दाँती चलाकर करते हैं। सूखी जमीन में ही बीज बिखेर देते हैं।” एक सौ वर्ष पूर्व ‘सर टॉम्स रो’ नामक अंग्रेज ने रायल सीमा के तालाबों (बाँध) के बारे में कहा है—“इस प्रान्त में नये तालाबों के निर्माण का प्रयास करना ध्येय है। पूर्वजों ने प्रत्येक सुविधाजनक स्थान पर बाँध बाँध रखे हैं। कड़पा जिले की एक तहसील के अन्दर ३५७४ तालाब बने हुए हैं।<sup>३</sup>” विजयनगर के सम्राटों ने भी अनगिनत तालाब बनवाये और इस प्रकार किसानों को प्रसन्न करके देश में अन्न की समृद्धि कर दी। कृष्णदेवराय की यह सुनिश्चित नीति थी। उन्होंने स्वयं लिखा है—“छोटी-छोटी

१. Salatore II, पृ० ३७।

२. वही, पृ० १३३-४।

३. V.S.C., पृ० १६।

जगहों (इलाकों) पर भी तालाब और नहरें खुदवाने तथा किसानों को कम लगान पर जमीन देने से उन्हें सुविधा होगी और वे उन्नति करेंगे। उनकी उन्नति से राज-कोष भी भरेगा और वे राजा को धर्मत्मा कहकर मद करेंगे।”<sup>१</sup> नूनिज नामक एक समकालीन व्यक्ति ने लिखा है कि “नायुलापुर (होसपेट) में कृष्णदेवराय ने एक बड़े तालाब का निर्माण करवाया। उसके पानी से धान के खेतों और बागों की सिंचाई होती थी। किसानों को अपनी धोर आकर्षित करने के लिए राजा ने लगातार प्रारम्भ के नौ बरसों तक उन जमीनों से कोई लगान नहीं लिया। उसके बाद जो बीस हजार माडों की बमूली हुई, उससे उसके एक मंडलाधीश कोंडमा राजु ने उदयगिरि में अनन्त सागर के नाम से एक दूसरा तालाब बनवाया।”<sup>२</sup>

कृष्णदेव राय ने किसानों को अनेक सुविधाएँ दे रखी थी, पर उनके सरदारों ने अधिक लगान वसूल करके किसानों को सूब तग किया। परिणामस्वरूप बहुत-से किसान अपने गाँव छोड़-छोड़कर ऐसी जगह घले जाते थे जहाँ लगान का भार कम हो। उत्तर सरकार में लोगों पर लगे हुए ३३ प्रकार के करों में से केवल एक कर विजयनगर की केन्द्रीय सरकार को पहुँचता था। बाकी ३२ कर देव-स्थान वाले हठम कर जाते थे। कृष्णदेव राय ने ब्रह्माराय, देवाराय और भूम्याराय नाम के कई करों को रद्द कर दिया। चिदम्बरम् के किसानों ने अधिक लगान के विरुद्ध हाथ-तोबा मचाई तो वहाँ के मंडलाधीश ने लगान घटा दिया था। एक और स्थान के किसान भुण्ड-के-भुण्ड कृष्णदेवराय के पास पहुँचे। राय ने उनकी प्रार्थना सुनी और उनका लगान कम कर दिया।<sup>३</sup>

देग-भर में हर वही काँची हीन थे। इसे बदेन दोड़ी कहते हैं।

१. ‘घामुक्तमाल्यदा’, ४-७३६।

२. V.S.C., पृ० २१७।

३. V.S.C., पृ० २२८।

दूसरों के पशु खेत चरे तो उन्हें घेरकर इस दोड़ो या बाड़े में बन्द कर दिया जाता था ।<sup>१</sup>

रेड्डी की पोशाक एक कवि के शब्दों में सुनिए :

“सिर पर गोल बसंती पगिया,  
मोटी-सी चादर से उभरी मोटी गरदन,  
छोटी-सी दाढ़ी है, मूँछें तावदार हैं,  
देवदार का डण्डा, हाथों में अरिमर्दन,  
श्रीर उंगलियों में बाँकी श्रंगुठियाँ पहने,  
चला जा रहा है रेड्डी ………”

यही कवि एक कापु के बारे में लिखते हैं :

“काँधे पड़ी लकड़िया, जिससे लटक रहा है पधा पीठ पर  
सिर पर पड़ी हुई है चुन्नट—बँधी गाँठ लटके कम्बल की  
फूलछाप धोती है कसी कमर से लटक रही, हाथों में  
लटका है भटका गटके से भरा हुआ भारी-सा, हल्की  
मूठ जुए से लटकी है उलटी, जो पड़ा हुआ कंधों पर  
पनियल बेलों के, जिनको हाँकता हुआ वह चला आ रहा……”<sup>२</sup>

रेड्डी भी कापु कहलाते हैं । उन्हें पंट-वापु भी कहते हैं, जिसका मतलब है खेतिहर । अर्थात् खेतिहर रेड्डी कापु कहलाते थे । यह नाम दूसरी जाति के किसानों के लिए रहा होगा, किन्तु जब रेड्डीयों ने खेती की वृत्ति अपना ली तो यह नाम रेड्डीयों के लिए ही रह गया ।<sup>३</sup>

सिचाई वाली जमीनों में धान की फसल अच्छी होती थी । धानों की कई किस्में थीं । कृष्णदेवराय ने कुछ नाम ये गिनाये हैं :

बेला, खजूर, पुष्पमंजरी, मामिडीगुती, कुसुम, सपणी, पच्चगन्नेर, पाला, राजान्न आदि ।

१. 'मनु चरित्र' ।
२. 'परमयोपीविलासम्', पृ० ४७८ ।
३. वही ।

यह तो हुई रेड्डी काश्तकारों की बात । अब अन्य जातियों के बारे में विचार करेंगे ।

### पटवारी की पोशाक

“सामने तर्होतह जमी हुई उजली घोती है भूच रही । माये पर छोटो-सी पगिया । अबबोहिया 'कुप्पुसम्', मानो कोई अंगिया । सामान बगल में दबा; दफितयो का बस्ता । ओ' छुँसो कान पर सेलम-खरिया की बत्ती । भूमते हुए चल पड़े कहीं पटवारी जी !”<sup>१</sup>

(लेखक ने 'कुप्पुसम्' का अर्थ अंगरखा किया है। यह शब्द वन्नड में चोनी के लिए आज भी चलता है। पुरानी अबबहियों की शबल चोली की शबल से मिलती-जुलती है।) दफितयों का बस्ता तीस-चालीस साल पहले तक बनिये इस्तेमाल करते थे। पाँच-सात दफितयों को डोर से जालीनुमा सीकर उस पर कोयले और हरे पत्ते से काला पोत चढा देते थे। सेलम खरिया की बत्तियों से उस पर हिसाब-किताब लिखा जाता था। चाहे जितनी दफितयाँ लगी हो, तह करने पर सभी एक दफती के बराबर में आ जाते थे और जमकर बड़े पोथे के-से हो जाते थे। उन दिनों पटवारी इन वस्तो में रक्म-वमूली का हिसाब रखते थे। वे उन्ही वस्तो को बगल में दावे, कान में खरिया बत्ती खोँसे चला करते थे। यही उनका दफतर था। बी० सूर्यनारायण ने एक जगह लिखा है कि पटवारी काले कपड़े पर 'बही' लिखा करते थे। उस समय जमीन दवामी पट्टे पर नही दी जाती थी। किमान सालाना कौल अथवा बटाई पर भेत लिया करते थे। भंडलाधीश रक्म वमूल करके अपना हिस्सा रख लेते थे और बाकी राज्य का हिस्सा सम्राट के पास भिजवा दिया करते थे।

१. 'परमयोगीविलासम्', पृ० ४५८ ।

## राजगीर

“गले में जनेऊ, काँख-तले शिल्प-शास्त्र पड़े,  
टेढ़ी पाग, बाँहों में रेखांकित तोहे के कड़े ।”

उनके श्रीजार कुमुद, चदरपात, कप्टूचूर, कम्बवाल, पद्यकम्, महा जगति, ज्यजगति आदि होते थे । उपर्युक्त पद्य पढ़ने पर बहुते को आश्चर्य होगा कि उस समय राजगीर जनेऊ पहनते थे । ऊपर के चार-छः पद्य सारे-के-सारे ‘परमयोगी विलास’ के हैं । लेखक भी वही है । आश्चर्य इस पर होना है कि ब्राह्मण आदि के लिए भी जिसने जनेऊ का वर्णन नहीं किया, उसने इन राजगीरों को ही जनेऊ क्यों पहना दिया है ? दूसरी बात आश्चर्य की यह है कि उस समय एक शास्त्र इसका भी था और राजगीर उस शास्त्र के अन्धे ज्ञाता होते थे । जिन श्रीजारों के नाम दिये हैं वे घन-हथौड़े आदि नहीं बल्कि माप, दिशा आदि घतवाने वाले कोई विशेष यन्त्र ही रहे होंगे । इनमें से एक भी शब्द तेलुगू ‘स० रा० निघट्टु’ अथवा संस्कृत कोश ‘शब्द कल्पद्रुम’ में नहीं है । हो सकता है कि ‘वास्तु-शास्त्र’ में इनकी चर्चा हो ।

मरनादासरी की पोशाक है :

तेल पिघे चमड़े की अर्धचाँही, सिर पर ‘टेवकी’ टोपी,

पोतल की शाल-चक्र बालियाँ, हिरन के साँग,

खाल की चंत्ती, केवड़ों के पत्तों का छाता,

घोड़े के बालों के तार वाली चाँडालिका, [बीणा]

मंजोरा, बगल भग्वा, श्री तुलसी की माला,

धार्मिक गायत्रियों के गायक कयक कयक-जन का,

ऐसा था पहनावा, ऐसी थी रूप-भजा, !”<sup>१</sup>

बेगार की प्रथा भी उन दिनों मौजूद थी । ताइलैंडकों ने पेहू तिरु-मन्नय्यै-रचित माने जाने वाले ‘वेकटेश-सनकम्’ में लिखा है कि :

“बेगार और विमन पुण्य विचार !

१. ‘श्रामुक्ता माल्यदा’, ६-६ ।

इन दोनों में भला क्या सरोकार ?

बेगार तो बस बेगार है !

मजूरी न उसको दरकार है !”

इनी ताइलें पाकें ने कहा है कि .

“पुण्य न जाने भटियारिन

जात न माने दोम्मारिन ।”

लेखक ने इतना ही कहकर बस कर दिया है। इसके बाद ही वेद्यों का वर्णन शुरू होता है। इस वर्णन से पहले ठीक भटियारी तथा दोम्मारी स्त्री का नाम आ जाने से ऐसा प्रतीत होता है कि चागे जिम वृत्ति का वर्णन है, उसके साथ इन दोनों का समावेश करना उन्होंने अनुचित नहीं समझा।

### वेश्या

“चन्द्रकान्त कण्ठे से केश-कलाप सँवारे,  
ढोली चोटी गूँघे, सीधी माँग निकाले,  
रेशम की साडी पहने, जव्वादि<sup>१</sup> वसाये,  
गले मोनियों की लड़ियों की माला डाले,  
पत्ते-जैसे हरे रंग का टीका माये,  
उस पर से कूटमाण्ड-बीज-सा कुंकुम-टीका,  
ताटक, हीरक-हार बीच मोती की भालर,  
कंगन पर फिर कलावन्द भी मोती ही का,  
बाजूबंद, झँगूठी घुण्डीदार भेलला,  
सोने की सांकल, ताबोज, जड़ाऊ कांचो,  
घालों में नगजड़ा सीप-टीका, ललाटिका,  
बन-ठनकर निकली वेश्या नागर-मन-रांची ।”<sup>२</sup>

१. इत्र ।

२. 'परमयोगीविलासमु', पृष्ठ २७३-४ ।



शिनों के सातनिधो की वेश-भूषा का वर्णन इस प्रकार है :

"मुन्दर निलकणारी काँख-तले ताडपत्रों के बस्ते भुजाओं पर शंख चक्र की छापे....."१

बस्ती के बाहर चमारों की असंग बस्ती होती थी। अब भी यही हाल है। चमार चमड़े की चप्पलें तैयार करते थे। वे चमड़े को बड़ बड़ की पत्तों में दबाकर नरम करते थे। [चाम को कमाने की देशी पद्धति अब भी यही है।]

विजयनगर शहर में वेश्याओं की संख्या अत्यधिक थी। उन पर कर लगता था, जिसे गणचारी पशु (महमूल) कहा जाता था। (इस कर शब्द के साथ 'गुल्ता' यानी टंके के शब्द का प्रयोग किया गया है। तो क्या इसकी बसुनी टंके पर होती थी?) इस कर से इतना धन बसूल होता था कि नगर की रक्षा के लिए जो ६२००० रथक भट रमे गए थे, उनका सारा वेतन इसीसे पूरा हो जाता था। राजा, सामंत, धनी, सरदार आदि वेश्याओं को रख लिया करते थे। यह काम वे खुले-आम करते थे, और इसमें अपनी भरदानगी मानते थे। अच्छे-अच्छे राजाओं, सामन्तों और सरदारों ने अपने दरबारी कविमों द्वारा इन वेश्याओं पर कविताएँ लिगवाईं। सिंगमनायडू ने तो अपनी वेश्या का जय करते हुए पूरे 'भोगिनी दडकम्' की रचना करवाई। (मजा तो यह है कि आज बङ्गाल-में साधक जन और ब्राह्मण इस 'भोगिनी-दडक' का दैनिक पाठ करने हैं अनु०)। बड़े-बड़े अधिकारी इन वेश्याओं को जतगों और उत्सवों में अपने साथ बिठाने थे। और बीच-बीच में उनसे दिल्लगी करके मन बहलाने थे, अपना भी और दर्शकों का भी।<sup>१</sup>

दासरी की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। ये 'मध्यागोपालभिक्षा' से याजीविका पैदा करने थे। अर्थात् सन्ध्या समय कृष्णगोपाल के गीत गाने हुए घर-घर भिक्षा माँगते थे। (गोपालम् की भिक्षा का समाज में

१. 'कृष्णराजचरित्र', २५।

१. 'आमुक्त माल्यदा', ४-३५।

आदर था, ब्राह्मणों के बच्चे भी, सावन के हर सनीचर को नाक की जड़ से बालों की मांग तक 'दासरी'-तिलक मानी लम्बी-चोटी कुकुम-रेखा लगाकर, सब द्विज जातियों के घर भीन्व मांगने जाते हैं।) दासरी भीन्व मांगने थे, चमारों की श्रेणी के थे, फिर भी बड़े आदर की दृष्टि में देखे जाते थे।

ब्राह्मण अपनी विद्वत्ता अथवा पूजा-पाठ से निर्वाह करते थे। पुरोहिती या जमीन आदि न होने पर भी ब्राह्मणों की गुजर-बसर अच्छी ही होती थी। मन्दिरों और क्षेत्रों में उन्हें भोजन मुफ्त मिल जाता था। (यह प्रथा ट्रावनकोर कोचीन में अब भी है। त्रिवेंद्रम के पद्मनाभ मन्दिर में शहर के सारे ब्राह्मण, अपने बाल-बच्चों के साथ दोनो शाम भोजन कर सकते थे। पता नहीं अब भी यह प्रथा चालू है या नहीं।) उन दिनों ब्राह्मणों को हर सनीचर तैल-स्नान के लिए तेल भी दिया जाता था। पूजा-व्रतों की भी कमी नहीं थी। अनेक प्रकार के दान-धर्म पाने के अधिकारी ब्राह्मण ही थे। विशेषकर षोडश दान पर तो हेमाद्रि ने एक पूरा ग्रन्थ ही रच डाला था। वह ग्रन्थ एक प्रामाणिक धर्म-शास्त्र बन गया। यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि रेड्डी राजा हेमाद्रि के सभी नियमों का विधि पूर्वक पालन करते थे। ग्रहण, सक्रमण आदि अवसरों पर शान्ति के लिए ब्राह्मणों को दान दिये जाने थे।

'धामुक्त माल्यदा' के अनुसार ऐसे बहुत-से पुरोहित ब्राह्मण थे जो झूठ-झूठ वानें बनाकर जाप-पाठ करके ठगते थे। वही किसी के घर कोई मरे या पैदा हो, ब्राह्मण देवता समदूत बनकर हाजिर रहने। दान-दक्षिणा के लिए ठेका-ठाली करते। वही मुर्दों को ढोकर पैसा लेते, तो वही उनके नाम पर डटकर खाते। इस प्रकार आदर-भनादर, पाप-पुण्य की परवाह न करके पेट-पूजा करने वाले ब्राह्मणों की कमी नहीं थी।

सभी ब्राह्मण ऐसे न थे। पर कम-से-कम कुछ ने तो ऐसा जरूर किया। ब्राह्मणों ने अनेक विद्याओं का अभ्यास किया। विशेषकर वेद, वेदांग, मीमांसा, न्याय, पुराण, धर्म-शास्त्र, तर्क-शास्त्र, कर्म-कांड आदि

सभी पर ब्राह्मणों ने अधिकार प्राप्त कर लिया था। ब्राह्मण खेती नहीं करते थे। यदि की भी तो बहुत कम ने खेती की है। 'ऋणम् कृत्वा घृतम् पिबेत्' के न्यायानुसार यदि कर्जदार बन गए, तो जमीन-जायदाद रहन रखकर काम चलाते, पर खेती या मेहनत-मजूरी का नाम न लेते।<sup>१</sup>

दरवारी में विद्वानों की सभाएँ होती थी, जिनमें शास्त्रार्थ चला करते थे। प्रसिद्ध विद्यापीठों के अन्दर भी शास्त्रार्थ होते थे। मदुरा में दक्षिण देश का प्रसिद्ध विद्यापीठ था। पहले भी कची (काचीवरम्) काशी व काश्मीर, तक्षशिला, नालदा, नवद्वीप, अमरावती आदि अनेक स्थानों में ऐसे विश्वविद्यालय विद्यापीठ रह चुके थे। अध्ययन पूरा करने के बाद विद्यार्थी गुरु की आज्ञा से किसी विद्यापीठ में पहुँचते थे। वहाँ की पण्डित-परीक्षामें में उत्तीर्ण होते थे और जय-पत्र (डिप्लोमा) प्राप्त करके वहाँ से निकलते थे। "राजसभामें में विद्याधिकारी नियुक्त रहते थे। किसी विद्वान् अथवा कवि के आने पर राज्य के विद्यार्थियों के सामने वाद-विवाद चलते थे। जो जीतता, उसे पुरस्कार दिया जाता। हारने वालों की तो बुरी गत बनती थी। लज्जा के मारे उनके होश उड़ जाते थे और वे सभा से उठ भागते थे। जाते-जाते झूठे भूल जाते, और इसलिए फिर लौट आते। अपनी ही भूल से क्यों न हो, झूठा-चप्पल ढूँढ़ न पाने पर राजा को ही दो-चार सुना बैठते और इस प्रकार तरह-तरह से परेशान होते।"<sup>२</sup>

'ग्रामुक्त माल्यदा' में यह भी लिखा है कि ऐसी पंडित-सभाएँ राज-भवन के चतुःशाला भवन में हुआ करती थी। जीतने वाले पण्डितों और कवियों को राजा आदर-महमान के साथ भेंट (टक) देकर विदा करते थे। भेंट में "तरोई के फूलों-जैसी चमकती टक घँलियों में भर-भरकर दी

१. 'मनु चरित्र', ३-१२६।

२. 'ग्रामुक्त माल्यदा', ४-४।

जाती।”<sup>१</sup>

जिन विदोषजों ने प्राचीन सिक्को का अनुसंधान किया है, उन्होंने यह कहीं नहीं लिखा कि विजयनगर में सोने के टुकड़े चालू थे। वह निश्चय ही सोने का सिक्का था। नये टुकड़े तरोई के पीले फूलों की तरह चमका करते थे। कवि-सावंभोम को इसी विजयनगर के सभा-भवन में टंकी से स्नान कराया गया था। ऐसे प्रमाण होते हुए भी न जाने क्यों सिक्कों के विदोषज्ञ इस विषय पर चुप हैं।

कवियों के बैठने के आसन को शंखपीठि कहा जाता था। यह तमिल देश का आचार था। श्री राजपल्लि का मत है कि तमिल देश में कवियों के संधम् नामक पीठ-स्थान थे। उसी ‘संधम्’ को ‘कालहस्तीश्वर शतरु’ के रचयिता ने ‘शस्रम्’ कहा है।

अग्रणी कवि अल्लसनि पेहना कृष्णदेव राय के दरबारी कवि थे। राजा ने स्वयं अपने हाथ में कविवर के पैरों में ‘गडेपेंडेरमु’ (पुरस्कार-सूचक स्वर्ण आभरण) पहनाये थे। स्वयं अपने कंधों पर उनकी पालकी ढोई थी। जब कभी राजा की सवारी निमनी होती और उन्हे रास्ते में कहीं अल्लसनि दीव जाते, तो तुरन्त हाथी को रोककर राय-राजा कविराट्ट को अपने साथ अम्बारी में बिठा लेते थे। ये प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटनाएँ हैं। रामराज भूपण ने लिखा है कि : “ ‘भंरवो कविताता’ (कविवर दादा भंरवो) को राजगृहियों पर स्वयं राजाओं को बगल में बैठाया गया है। राजाओं के मन्त्री, सेनानी और मंडलापीश के पदों पर प्रायः ब्राह्मण ही नियुक्त होते थे। इस प्रकार ब्राह्मण प्रत्येक क्षेत्र में महान् अधिकारी माने जाते रहे।”

कृष्णदेव राय की पोशाक के जो वर्णन उनके समकालिकों ने दिये हैं, उनमें पता चलता है कि राजा कारचोवी की हाथ-भर लम्बी टोपी पहना करते थे। युद्ध-भूमि में सिर के मूती साफे में जवाहरात पहना करते थे। शरीर में उजली कारचोवी के कपड़े और गले में कीमती

१. ‘भामुवन माल्यदा’, २६५।

जवाहर के हार होते थे । राज-भवन के नौकर-चाकर भी टोपी पहना करते थे ।

न्यूनज ने लिखा है कि : “राजा एक बार के पहने कपड़े दूसरी बार नहीं पहनते । वह केवल बारीक कारचोबी के कपड़े ही पहना करते हैं । उनके ताज या टोपी को ‘कुलाई’ कहते हैं । तिरुपति क्षेत्र में कृष्ण-देवराय की मूर्ति उनकी दो पत्नियों के साथ खड़ी है । उसमें राजा के सिर पर फुंदके की तिरछी टोपी रखी है । अलिया रामराजु की युद्ध-यात्रा का जो चित्र मिलता है, उसमें भी हाथ-भर की टोपियाँ दिखाई गई हैं । हो सकता है ऐसी टोपियों का रिवाज कर्णाटक में रहा हो ।”

यह उस समय के मुसलमानों की पोशाक नहीं थी । उनकी तस-धीरो में ऐसी टोपियाँ नहीं है । तेलुगु देश में भी इनका प्रचलन नहीं था । श्रीनाथ को भी प्रौढ देवराय के दरवार में जाते समय उसे कर्णाटकी दरबारी पोशाक पहननी पड़ी थी । वह सिर पर यही ‘कुल्ला’ या ‘कुलाई’ रखकर, महा कूर्पासन नामक चोगा पहनकर और उसके ऊपर से एक बड़ी चादर डालकर दरवार में गये थे । कर्णाटकों ने फारसी के मुलाह (टोपी) शब्द को मुसलमानों से लिया होगा । अपठ जनता में भी यह शब्द तेलुगु है । विधेपकर छोटे बच्चों की तिकोनी या चौकोनी टोपी को कुल्लाई या कुल्ला ही कहते हैं । इसके लिए तेलुगु में दूसरा कोई शब्द नहीं है । अस्तु, विजयनगर के कर्णाटकी राजाओं की लम्बी टोपी के अनुकरण पर आज भी कर्णाटकी भिखारी हाथ में भिक्षा-पात्र के साथ-साथ सिर पर लम्बी टोपी भी पहनकर रामदास के भजन गाया करते हैं ।

माधारण लोगों की वेश-भूषा के सम्बन्ध में अद्दुर्रज्जाक ने लिखा है—“इस देश में घनी-भानी लोग कानों में बालियाँ, गले में हार, यात्रुओं में कड़े और हाथों में अँगूठियाँ पहनते हैं ।”

निकोलोडी काटी नामक पादचात्य यात्री ने लिखा है—“पुरुष दाड़ी

तो नहीं रखते, किन्तु सिर पर चोटी बढ़ाते हैं और उन बालों में गाँठ देते हैं। यूरोप की तरह यहाँ के लोग भी ऊँचे और स्वस्थ होते हैं। भारीदार दरियों पर जरी के किनारे वाली सफेद चादर बिछाकर सोते हैं। बुद्ध स्त्रियाँ पतली तली की जूतियाँ पहनती हैं, जिन पर सुन्दर कारचोबी का काम किया होता है।”

बारबोसा नामक एक दूसरे पाश्चात्य यात्री ने लिखा है—“पुरष छोटे-छोटे साफे बाँधते हैं, या रेशमी टोपी लगाते हैं। मधमजानी चप्पलें पहनते हैं। स्नान के समय शरीर पर मसने के उबटन में चन्दन, बेसर, कपूर, कस्तूरी तथा घीकुआर मिलाकर पनीर या गुलाब-जल के साथ पीनकर मालिश करते हैं।”<sup>१</sup> विजयनगर के निवासी मुसलमानों की तरह चड्डी या जाँघिया पहनते हैं, जिसे ‘चप्पातकम’ कहते हैं।<sup>२</sup> टोपियाँ दो प्रकार की होती थीं। हाथ-भर की टोपी को चर्चा पहले ही की जा चुकी है। दूसरी टोपी कपड़े की बन्ददार होती थी, जो मिर में चिपकी रहती थी। सिर के बालों के साथ कान और गालों को भी छिपाकर ठोड़ी के नीचे बन्धों से बाँध दी जाती थी। कानटोपी दर्मासो कहते हैं। [तेलुगू में हान-हान तक ‘कानटोपी’ और ‘कुल्लाई’ ये दोनों शब्द चालू थे।]

राजा किसी अधिकारी के काम से खुदा होने पर उसे नई घोड़ी, चादर, धंगी और टोपी पुरस्कार दिया करते थे। मुसलमान बादशाहों ने इसे ‘गिनघत’ कहा है। अँगरेजों के लिए ‘क्वार्ट’ या ‘गर्बार्ड’ शब्द का प्रयोग भी पाया जाता है। कुछ कवियों ने इसे क्वार्ड कहा है।<sup>३</sup> क्वार्ड के घसर्ना उच्चारण का सही पता नहीं लगता। कुवार्ड की तरह यह भी विदेशी शब्द हो सकता है। कवि पिंगली मूरना ने पहली बार इन शब्द का प्रयोग किया है। उसमें पहले कवियों की रचनाओं में यह शब्द देखने में नहीं आया ! [ यह क्वार्ड, क्वार्ड या गर्बार्ड

१. Salatore, भाग २।

२. ‘धामुवन मात्पदा’, ४-३५।

३. ‘परमपोगीविलासम्’, ४८२।

असल में अरबी का शब्द 'क़वा' है।]

सवारियों में बैलगाड़ी, बैल, घोडा, अन्दलम् और पालकी के नाम आते हैं। पालकी तथा अन्दलम् समानार्थक शब्द माने जाते हैं, किन्तु यहाँ पर कविता में दोनों शब्द साथ-साथ आये हैं। इसलिए इनके अर्थ भी अलग-अलग होंगे।<sup>१</sup> 'अन्दलम्' वह पालकी है जिसमें उम्बवो के अक्सर पर ठाकुरजी की सवारी निकाली जाती है। और पालकी शब्द 'म्याना' है। पालकी में परदे भी लगते थे, 'अन्दलम्' खुला होता था। धनी वर्ग अपने घरों में छप्पर-पलंग रखते थे, जिसमें मच्छरदानों भी लगी रहती थी। प्रायः भूला-पलंग भी पाये जाते थे। इन पलंगों पर सुदाई का सुन्दर काम किया जाता था। ये पलंग कैसे थे ?

"सोने की जंजीरों, मूंगा पिलाये हुए पायों, हीरे-जवाहर जड़े तोतों और हंसों आदि से तथा सोने के फूलों, चित्र-विविध बेल-बूटों, सूत के किवाड़ों, रंग-विरंगे गोल लम्बे-चौड़े तकियों तथा केसरिया बिछीनों से उन पलंगों के चारों ओर की दीवारें जगमगा रही थीं। कमरों में बड़े-बड़े खड़े और छोटे हाथ के आइने थे। उनके बीच राजा अपने अन्तःपुर की रमणियों की सेवाएँ स्वीकार करते हुए .....।"<sup>२</sup> सुमाधून मानने वाले आचारवान् लोग शीशे की मिट्टी वा बना समझकर कति के शीशे का प्रयोग करते थे, जो खूब मँजने पर चमक उठने थे और उनमें लोग अपने चेहरे देखा लिया करते थे।<sup>३</sup> जाली के बटुओं में रुपये-पैसे भरकर उसे कमर से बाँधा जाता था।<sup>४</sup>

गरीबी के घर फूस के होंने थे। 'आमुक्त माल्यदा'<sup>५</sup> के अनुसार मिट्टी के घाये भी होने थे। विदेशी यात्रियों ने लिखा है कि जन-साधारण की

१. 'कलापूर्णोदयम्', २-७।

२. 'परमयोगी विलासम्', पृ० ४८२।

३. 'आमुक्त माल्यदा', ४-१८०।

४. 'परमयोगी विलासम्', पृ० ५०३।

५. ४-१२३।

अपेक्षा वेश्याओं के घर ही अधिक सुन्दर तथा वैभवपूर्ण हुआ करते थे। पीक ने लिखा है कि वेश्याएँ बड़ी धनवाद् होती थीं और उनके घर बढ़िया होने थे।

### प्रजा के आचार-विचार

लोगों को कुश्ती खेलने और देखने का बहूत शौक था। 'मल्लमुद्धा-दिकम् दृष्ट्वा'<sup>१</sup> तेल मलकर नहाने पर तेल छुड़ाने के लिए खाली का प्रयोग करते थे।<sup>२</sup> 'मरुनुतीगा' अथवा 'मर्नुमातगी' एक प्रकार की वेल है, जिसकी पत्तियाँ बारीक और फल लाल घुमची [रत्ती] के समान होने हैं। उसके अन्दर दो बीज ककड़ी के बीज की तरह, पर एक-दूसरे से उलटी दिशा में होने हैं। लोगों का विश्वास था कि इस वूटी पर पैर पड़ जाने से घादमी राह भटक जाता है। एक बटोही साँभ के समय मर्नुमातगी पर पैर पड़ने से रास्ता भटक गया। रात-भर जंगल में भटकता रहा और सवेरा होने पर अपने को एक घने जंगल में चलता हुआ पाया।<sup>३</sup> तान्त्रिक लोग इस वूटी का प्रयोग प्रेमियों को एक-दूसरे की ओर आकृष्ट करने के लिए करते थे। स्त्रियाँ अपने पुरुषों में अपने प्रति प्रेम उत्पन्न करने और उन्हें अपने वश में रखने के लिए तान्त्रिकी से जड़ी-बूटियाँ प्राप्त करती थीं और पुरुषों को भोजन आदि के साथ मिलाकर खिलाया करती थीं। कभी-कभी यह दवा जान-लेवा भी सिद्ध होती थी। 'महाभारत' के अरण्य पर्व में सत्यभामा ने द्रौपदी से इस वशीकरण के सम्बन्ध में पूछा है कि पतियों को वश में करने के क्या-क्या मन्त्र तन्त्र अथवा जड़ी-बूटियाँ हैं। इससे पता चलता है कि वशीकरण की तान्त्रिक विद्या भारत देश में प्राचीन काल से प्रचलित है। वात्स्यायन में नेवर बाद के सभी काम-शास्त्रियों ने वशीकरण-प्रयोगों के सम्बन्ध

१. 'आकाश भैरव कल्प'।

२. 'आमुक्त माल्यदा', १-२३।

३. वही, ४-१२५।



में लिखा है। किन्तु इन प्रयोगों के सफल होने के कोई प्रमाण नहीं मिलते। यदि कहीं कोई प्रमाण मिलते भी हैं तो मरण के मिलते हैं, वशीकरण के नहीं। 'ह्वमागद चरित्र' में लिखा है कि ब्राह्मणी ने अपने पति को अपने वश में रखने के लिए किसी तान्त्रिक से जड़ी लेकर खिला दी। खाते ही पति मर गया।

“एक स्त्री ने किसी सिद्धा से पूछा, ‘मेरा पति मुझसे प्रेम नहीं करता, उसे मैं छोड़ नहीं सकती। अब मेरा कौन सहारा है?’ सिद्धा ने एक जड़ी देकर कहा कि इसे दूध के साथ घिसकर अपने पति को पिला दो, वह तुम्हारे वश में हो जायगा। उसने ऐसा ही किया। पर, वश में होने के बदले उसका पति एकदम मर गया।”<sup>१</sup>

रेड्डी-राज्य-ज्ञान वाले अध्याय में चोरो की करतूतों के विषय में काफी चर्चा की जा चुकी है। विजयनगर-काल के कवियों ने भी लगभग उन्हीं बातों को दुहराया है। ताडल्ले पाकें चिन्नना ने ‘परमयोगीविनासमु’ में चोरो के सम्बन्ध में लिखा है। इससे पता चलता है कि चोर तब भी वही इकहरे तल्लू की चप्पलें, काले कपड़े, रेत, नरुव-चुरे, दिया-बुझाऊ कीड़े, चीलनस, सेल्लेम खरिया, गेंद कांटे आदि उपकरणों का उपयोग भी करते थे। उसी पुस्तक में<sup>२</sup> लिखा है कि—“सोने की एक बड़ी-सी मूर्ति को चोरों ने जंजीर से बांधकर उसे हिलाया। ऊपर धन वाले चोर ने कुएँ से पानी का डोल निकालने के समान उसे ऊपर खींच लिया। उसी प्रकार उस चोर को भी उसके साथ बाहर निकाल ले गए।”

मुट्टेरा और बदमाशों की चोर-विधि के सम्बन्ध में वृष्णदेवराय ने विस्तार में लिखा है। एक ब्राह्मण अपनी पत्नी के पास समुराल चला। चोरो और बदमाशों के डर के मारे सोम अकेले-दुकेले यात्रा नहीं करते थे। ब्राह्मण साधियों के लिए पूछ-ताछ करने लगा। स्वयं एक चोर

१. ‘ग्रामुक्त्त मात्स्यदा’, ३-२३६।

२. यही, पृ० ५०६।

उसका माथी बन गया और कहा कि मुझे भी चलना है। दोनों ने तय कर लिया कि कोई यात्री-दल आये तो उसके साथ चल पड़ेंगे। वह दिन भी आ गया। दिन-भर रास्ता चलकर वे मन्ध्या समय कहीं ठहर जाने थे। दो-एक दिन राह चलने के बाद, एक रात चोर राही ने अपनी टोनी वालों को सूचना दे दी, और आप स्वयं सबेरे जब दल चला तो सड़को रास्ता दिखाना आगे-आगे बढ़ना काफी आगे निकल गया। यात्री-दल जब एक पहाड़ी नाले पर पहुँचा तब चोर ने सीटी बजा दी। सीटी चोरों का इशारा होना था। यह इशारा नदी, नाले, घाटी आदि स्थलों पर किया जाता था। ये चोरी के लिए अनुकूल स्थान होने थे। सीटी बजने ही पहाड़ी पर ने एक तीर आ गिरा। फिर ककड़-पत्थर बरसने लगे। यात्री-दल में गड़बड़ मच गई। कुछ भागे, कुछ भागने हुए गिर पड़े, कुछ ने अपनी पोटली-पाटली भाड़ियों के पीछे छिपा दी। कुछ अपने तीर तानकर सड़े हो गए। जिनके पास कुछ न था, उन्हें छोड़ दिया। भाड़ियों में छिपे हुए लोगों पर चोरों ने भाले भोंके, उनके फंसे-संभे, कपड़े-भत्ते छीन लिये और उन्हें नगा करके एक लंगोटी दे दी। चोरों ने यात्रियों की चप्पलें जमा करके उनके तल्लों को फाड़-फाड़ कर देना कि अन्दर कुछ रखा तो नहीं है। इसी तरह स्त्रियों की चोटियाँ भी तुलवाकर देगी। ब्राह्मण की दारी आने पर वह अपने रुपये की रैनी के माथे भाग गड़ा हुआ। जो चोर उसका माथी बनकर चला था, उसने उसका पीछा किया और सुरीं भाकर ब्राह्मण की एड़ियों पर घायल कर दिया। फिर कमरबन्द मीचकर उसके नीचे से 'बराहों' (घनरफियों) की धँनी छीन ली। चोर पड़ोसी गाँव का था। ब्राह्मण ने यहाँ भी अपनी भूमि का परिचय दिया। बोला—“घरे तू वही अमुक गाँव का है अच्छा, देस तूँगा बचेगा कसे? पहचानने जाने को प्राणों से न छोड़ना चोरों की नीति है। चोरों ने ब्राह्मण की गत बनानी सुट कर दी। वह अघमरा-सा हो रहा था कि यात्रियों का एक और दल आ निकला। चोर वहाँ से भाग निकला। इस दूसरे दल में

गई है। यदि इसी तरह उपेक्षा की जाती रही तो बची-बुरी परिवर्तित संज्ञाएँ भी यो ही मिट जायगी।

अपराधों के लिए घोर दण्ड दिये जाते थे। छोटी-मोटी चोरी-चकारी करने पर चोर के एक हाथ और एक पैर को काट दिया जाता था। बड़ी चोरी करने वालों को गले में लोहे का काँटा देकर पेड़ों से लटकाकर मार डाला जाता था। कुलीनाओं अथवा अविवाहित कन्याओं का मान-भंग करने पर सूलियों पर चढ़ा दिया जाता था। सामन्तों और सरदारों की राज-द्रोह के अपराध में पेट में भासा भोजकर सूली पर चढ़ा दिया जाता था। नीच जाति वालों के अपराधों में साधारणतया गरदन उड़ा दी जाती थी। कुछ अपराधों में हाथियों से रौंदाया जाता था। मामूली अपराधों पर ग्रामाधिकारी अपराधी को धूप में खड़ा करके अथवा भुकावर सिर या पीठ पर पत्थर लाद देते थे।

शासन-व्यवस्था के लिए देश को २०० मण्डलों में बाँट दिया गया था। प्रत्येक मंडल एक मंडलाधीश के अधीन होता था, जिसे 'पालेगार' कहते थे। पालेगारों के तीन कर्तव्य होते थे : समय पर नियमित कर राज्य को पहुँचाना, अपने पास नियमित संख्या में सेना रखना और जब बुलावा हो तब अपनी सेना के साथ युद्ध पर जाना।

होटलों की प्रथा तेलुगु देश में कवतीय काल में ही चली आ रही है। होटल का पुराना तेलुगु नाम 'पूटकुट्ट' है जिसके अर्थ हैं, 'पहर (शाम का) भोजन'। इन होटलों में आहार-विहार की व्यवस्था रहती थी।<sup>१</sup> विजयनगर में इन होटलों की संख्या काफी बड़ी थी। उनका उद्देश्य वम किसी भी तरह पैसा कमाना ही होता था। इसलिए वे स्वराज स्थाना तिलाते थे। वे सुबह का वासी शाम को और शाम का वासी गरम करके फिर सुबह को परोस दिया करते थे। स्वराज थी, पनियासी द्राघ आदि देने की दुष्टताएँ करने थे। इसीलिए तेलुगु में एक कहावत ही है कि 'पूटवूनी वाली' (भटियारिन या होटल वाली) पुण्य नहीं जानती।

१. 'ग्राम्यत मात्यदा', ८-७।

(स्त्रीनिग के प्रयोग से जान पड़ता है कि होटलो को स्त्रियाँ ही चमाती थी।) 'अक्कल वाड' शब्द के प्रयोग से अनुमान होता है कि होटलो के मुहल्ले अलग रहे होंगे। 'अक्का' वहन को कहते हैं और 'वाड' मुहल्ले को। तो क्या मचमुच होटलो के अलग मुहल्ले हुआ करते थे? औरतों के होटल की मालकिन होने से अनुमान होता है कि वे बिचबाएँ होती होंगी। शहर में होटल खोलकर वे गुजारा कर लेती रही होंगी। पहले घर वालों के लिए पकाना था, अब बाहर वालों के लिए। 'क्रीडाभिरामम्' में भी होटल जाने के बजाय 'अक्कलवाडा' जाने की बात आई है। आज भी खाना पकाने वाली को 'बटलक्का' कहते हैं।

शहरों में 'दौरशालाएँ' (हजामतघर) भी होती थी। विजयनगर में इनकी तादाद काफी बड़ी थी।

बिरामे पर चलने वाले स्नानागार भी होने थे, जहाँ पर उनके मालिक खोगो को पैसे लेकर तेल की मालिश करते और गरम पानी से नहलाने थे।<sup>१</sup>

नगरों में भ्रष्टाचार की भी कमी नहीं थी। धूम लेकर झूठी गवाही देने वाले अथवा रिश्वत लेकर अन्याय करके झूठा फैसला देने वाले बुद्धिगं भी काफी थे। विजयनगर में इन भ्रष्टाचारों का बोल-बाला था।<sup>२</sup>

कृष्णदेवराय ने एक जगह कहा है—“गर्भ मंडप का गदा धोवन, जो नानी की राह से बाहर एक पयरी में इकट्ठा होता, उसे शूद्र के देने पर भी वैष्णव मकनजन बड़ी श्रद्धा से पीने थे।”<sup>३</sup> इससे स्पष्ट है कि वैष्णव मन्दिरों के पुजारी शूद्र होने थे। मन्दिर के बीच का वह छोटा-सा मंडप, जिसमें भगवान् की मूर्ति होती है, 'गर्भमंडप' कहलाता है। वैसे वैसे गर्भगुडि (गर्भ मन्दिर) भी कहते हैं। उस मंडप के अन्दर धोवन इकट्ठा होने के लिए पत्थर को काटकर हीज की शरन का बना लिया जाता था। तीर्थ (चरणाश्रम) के नाम पर उस जल को शूद्र

१. 'धामुवन माल्यदा', ७-७।

२. 'ताइल पाफेनीनिसीस पद्यशतकम्'।

३. 'धामुवन माल्यदा', ६-८।

पुजारी भक्तों को देते थे और उसे ग्राह्य भी ग्रहण करते थे। अब तो यह प्रथा नहीं रही। उस समय वीर शैवों के मुकाबले में मोर्चा जोतने के लिए वीर वैष्णवों ने जाति-भेद को मिटाने के ये साधन अपनाये थे। जाति-मुधार की यह प्रवृत्ति अब एकदम लुप्त हो चुकी है।

गढा हुआ धन बताने बिना ही बड़े बूढ़ों के मर जाने पर, उनकी संतानें तन्त्र-जाल के जालाओं की सहायता से धनाजन लगाकर और धन पर बैठे भूत-प्रेतों को बलि देकर, धन की खुदाई करती थी। खुदाई के पहले पूरब की ओर भूतों के लिए बलि-रक्त के बरतन रख दिये जाते थे। उसके बाद ही खुदाई करके धन निकाला जाता था।<sup>१</sup>

शादी-ब्याह में आज की तरह उस समय भी बर-बधू को दोनों कुलों के सगे-सनेही और बधु-बाधव साड़ी, धोती, गहने, रुपये (घरहा) आदि भेजते थे। मन्त्रोच्चारण के साथ पुरोहित यह भी कहता था कि किसने किसको कौन-सी चीज बितनी भेंट की। समुर अपने दामादों को मूल्यवान वस्त्र और आभूषण भेंट करते थे।<sup>२</sup> धनी माता-पिता अपनी बन्ध्याओं को पलग, बिस्तरे, थाली, पटियाँ, भूले, घडे, लोटे, पानदान, सोने के जडाऊ जेवर, रेशमी कपडे, अणर, वस्तुरी, जध्यामि, केसर, चन्दन, हरा कपूर, इत्र, पनीर आदि दहेज में दिया करते थे। बेटी के साथ मेवा के लिए दासी अथवा दासियों को भी भेजा जाता था।<sup>३</sup>

लोग छोटे-मोटे रोगों का इलाज आप ही कर लेते थे। हाल-हाल तक गाँव की बूढ़ी औरतें घर के अन्दर अजवायन, कुलजन, पीपल, सोठ आदि दवाओं की खैली बाँधे रखती थीं। अधिकतर घरों में तुलसी का पेड़ होता था। ज्वर में तुलसी-रस दिया करते थे। अधिक जानकारी रखने वाले घरों में बारहसिधे के सींग, गोरोचन, वस्तुरी,

१. 'मनु चरित्र', ३२१।

२. वही, ५, ८६-८७।

३. 'आमुक्त माल्यदा', ५, १०१।

केसर, वैष्णवी तथा भंरवी की गोलियाँ पड़ी होती थी। फोड़ा न फूटने पर गेहूँ का आटा पकाकर बाँधते थे। सिर-दर्द में कंवर की भाप देते थे। दर्द में नीम का सेंका देते थे। आँखों के इलाज का भी कुछ वर्णन मिलता है :

“पल्लू की तर्हें करके मुँह की भाप दे-देके आँखें बफारना,  
नींबू की पत्तियों के रस में तडवड की पत्ती पीस, लेप सिर पर  
पसारना ।

बॉवल फूल को निचोडना, जमे घों या दही की सताई फेरना ।

औरत के यन का दूब डालना, इसमे हो जाय कहीं देर ना !”<sup>१</sup>

‘आमुक्त मान्यदा’ में एक जगह लिखा है कि “चमार के बड़े टेड़े धुरे से एक व्यक्ति का कन्धा कट गया था। वैद्यों ने उस पर टाँके लगाये थे। सिर के फटने पर पुराने सत्तों की राख घाव में भरकर तत्काल इलाज कर लिया।”<sup>२</sup>

अकाल पडने पर पुराने जमाने में लोग दाम्ण दुःख उठाते थे। बहुत सारे भूख से तडप-तडपकर मर जाने और बट्टनेरे तो पेट भरने के लिए अपने छोटे-छोटे बच्चों तक को बेच दिया करते थे। आजकल के रेनों और मोटरों के जमाने में जब सन् १९४१ ई० के अकाल में अकेले बंगाल में बीम लाग्ग व्यक्ति काल के कौर बन सकते हैं, तो सब क्या दशा रही होगी, इसका अन्दाजा महज ही किया जा सकता है। एक पद्य के अनुसार लीगो ने अनाज न मिलने पर घास-पान, कद-मूल, ताड का मगज आदि नाकर भी गुजर की। कहते हैं कि कुछ विमानों ने भूखे पेटों को बाँधकर ६० दिन के अन्दर फसल तैयार होने वाली रागी बोकर उमें देखलियों ने मीचा, किन्तु उममें भी कीड़े पड़ गए और फसल सड गई।

बड़े बच्चों में साप्ताहिक हाटें लगती थी। बर्षा में हाट अच्छी नहीं

१. ‘कालहस्तीमाहात्म्य’, अ० ३-११० ।

२. ७-२१ ।

भर पाती थी ।<sup>१</sup> इन हाटों में घुमकड़ व्यापारी आया करते थे । टट्टुधो पर लादी लादकर वे हाटो-हाट फिरते थे ।<sup>२</sup> विजयनगर के राजाधो ने जगह-जगह धर्म-सत्र खोल रखे थे, जहाँ ब्राह्मणों को मुफ्त भोजन दिया जाता था ।<sup>३</sup>

### मनोरजन

पवं-त्योहार उत्सव के दिन होते थे । त्योहार तो उस समय भी वही थे, जो आज हैं । कोई अधिक अन्तर नहीं है । 'एरवाक पौणिमा' (जैठ पूणिमा) किसानों का खास त्योहार था । कुछ विद्वानों ने इसे 'एरु' (नदी) + वाका = (वहना) अर्थात् नदियों के भरने का त्योहार कहा है । पर यह अर्थ ठीक नहीं है । वास्तव में 'एरु' हल को कहते हैं और 'वाकू' चलाने या चालू करने को । अर्थात् एरवाक हल चालू करने का त्योहार था । उस दिन किसान अपने बैलो, हलो और दर्राती आदि को धो-धाकर गेरू और चूने से रंगते थे; तेल मलकर नये कपड़े और गहने पहनते थे । अच्छे-अच्छे भोजन का भोग लगाकर सभी किसान मिलकर जलूस निकालते थे । जब जलूस पूरे गाँव में घूम चुकता तो सभी अपने-अपने नेतों में पहुँचकर जुताई का मुहूरत करके घर लौट आते थे । यह निश्चय ही वेदोक्त त्योहार है—“ज्येष्ठ मासस्य पौणिमास्याम् बलीवर्दान् अभ्यर्च्ये घावन्ति सोयम् उद् वृषभयज्ञः ।” (यह त्योहार गाँवों में आज भी उसी धान से मनाया जाता है । इसे मनाने में हिन्दू, मुसलमान या जात-पात के भेद का कोई विचार नहीं होता । मुसलिम धरो में भी उस दिन वही पूरण्गुपीली आदि खाने पकाने हैं और गोशत नहीं पक सकता ?—अनु०)

‘आमुक्त माल्यदा’ का पद्य है :

१. ‘आमुक्त माल्यदा’, ४-१२३ ।
२. वही, ४-३५ ।
३. ‘राधाराधवम्’, ३-८५ ।

“दशहरे का त्योहार सम्राट् तथा सामन्तों के दरबारों में महा वैभव के साथ मनाया जाता था। यह क्षत्रियों का त्योहार है। सेना को मजबूत प्रथिक् महत्त्व देने वाले राजा-महाराजाओं का दशहरे को बढ़ावा देना स्वानाविक ही है।” प्राप्र देम के त्योहारों में से दशहरा भी होती विदेशियों की दृष्टि में विशेष त्योहार थे। अरुदुरंजनाक ने दशहरे का प्रांगो-देखा वर्णन इस प्रकार किया है :

“सम्राट् ने अपने सभी सामन्तों और सरदारों को अपनी राजधानी पर बुला लिया। उनमें ऐसे सरदार भी थे, जो तीन-चार महीनों का रास्ता चलकर पहुँचे थे। एक हजार हाथियों को चित्र-विचित्र रंगों से रंगकर मंडान में खड़ा किया गया था। एक रमणीक विशाल मंडान में पाँच-छः मंजिला बंगला खड़ा किया गया था। प्रत्येक मंजिल में बीमारों पर रंगीन चित्र बने हुए थे। मनुष्यों, पशुओं, मक्षियों और पौधों तक के चित्र बने थे। चित्र अत्यन्त सुन्दर और कलापूर्ण थे। उसी मंडान में बड़े-बड़े खम्भों पर एक नौ मंजिला महल खड़ा था। उसकी शोभा अद्वितीय थी। सम्राट् का सिंहासन नवों मंजिल पर था। बड़ा-सा रत्न-खचित स्वर्ण-सिंहासन। उसकी सुन्दरता पर लोग मुग्ध थे। उसी सिंहासन पर बैठकर सम्राट् दशहरे का समारोह देख रहे थे। उत्सव तीन दिन तक चलता रहा। बहुरूपियों के विनोद, बाढोगरों के तमारे तथा वेश्याओं के नाच-गान सभी प्रदर्शन सम्राट् के सामने हुए।”

पौम नामक यात्री ने भी इस उत्सव का विलुत वर्णन किया है। उक्त बातों के अलावा उसने यह भी कहा है कि :

“पहलवानों ने कुशियों का प्रदर्शन किया। रास्ते में आतिशबाजी हो रही थी। आतिशबाजी में भीति-भीति की आकृतियाँ आकाश में उड़ाई जा रही थीं, जो ऊपर जाकर घड़ाक से फटतीं और आकाश में फैल जातीं। काली शक्ति (महाकाली) मकरात्र के नवों दिन २६ भंतों और १५० बकरों की बलि चड़ाई गई। अन्तिम दिन २५० भंतों और ४०० बकरों की बलि चड़ी। आष्टाण दिन में कई-कई बार देवी की



पूजा करते थे। घोड़ों को सजाकर जलूस निकाला गया।”

एक बार स्वयं कृष्णदेवराय शिकार से एक अरना भैंसा पकड़ लाये थे। उसे नवरात्र में देवी को बलि चढ़ाने का उन्होंने आदेश दिया। प्रचलित प्रथा के अनुसार एक ही मार में भैंसे का सिर घड़ से अलग हो जाना चाहिए। अरना भैंसा हाथी-जैसा भारी था। उसके सींग पीछे की ओर दुम से झू जाते थे। ऐसे भारी जानवर को एक ही बार में खत्म करने में बड़े-बड़े वीर आगा-पीछा कर रहे थे। तब विश्वनाथ नायडू ने आगे बढ़कर एक ही बार में भैंसे के सिर को घड़ से अलग कर दिया।

होली के त्योहार को कृष्णदेवराय के समय वसन्तोत्सव कहा जाने लगा था। निकलो काटी नामक एक विदेशी यात्री ने लिखा है

“सड़कों पर लात रंग से भरे घरतन रसे रहते थे। वसन्तोत्सव के दिनों में सड़क से गुजरने वाले हर व्यक्ति पर रंग फेंका जाता था। यहाँ तक कि उस रास्ते से निकलने पर स्वयं सम्राट् या महारानी के लिए भी रंग से बचना सम्भव न था। इस उत्सव पर दूर-दूर के प्रान्तों से आये हुए कवियों की कविताएँ सुनकर उन्हें पुरस्कृत किया जाता था।”

कवि भुवकनिमग्ना ने सम्राट् को इन शब्दों में सम्बोधित किया था :

“प्रतिपर्य-वसन्तोत्सव-फुतुकागत-मुकवि-निकर गुम्भिमृति-लोमांच-दिसंकिंत-चतुरान्त.पुरवधू प्रसाद नरसिका।”

दिवाली के सम्बन्ध में हमारे लिए पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। भण्डारकर मस्वा के अध्यक्ष पी० के० गौडे ने लिखा था कि विजयनगर राज्य-काल (मन् १४५०-१५५०) के लगभग ‘आयाण भैरवी’ के नाम से एक सश्रुत-ग्रन्थ की रचना हुई थी, जिसमें दिवाली का सुन्दर वर्णन है। उसमें लिखा है : “राजा को चाहिए कि द्वार बंदी चौदस को सवेरा होने से पहले, ग्रह्य मुहूर्त में उठकर शीचादि से निवृत्त होकर ब्राह्मणों का आशीर्वाद ले। उसके बाद बाहर मंगल-वाद्य यज्ञे घोर  
१. ‘वारिजातापहरणम्’, १-१३६।

सुवासिनिषां आकर उन्हें स्नान के लिए तैयार करें । पहलवानों से तेल मलबाकर गुनगुने पानी में उन्हें नहलाया जाय ।”

“नदत्तु पंचवाद्येषु बाह्य कक्षांतरे तत  
ववराज कंकणया वध्वादरवल्गदुरोजया,  
अन्यश्चे स्नापितो महर्तः कश्चित्तकोष्णोण वारिणः ।”

सूर्योदय से पहले इन सबसे निबटकर दरवार में बैठकर नाच-गाने का आनन्द लेना चाहिए और सबको इनाम आदि देकर भोजन करना चाहिए । संध्या के बाद पटाखे जलाने चाहिए ।\*

आध्र में उस समय जो विनोद होने थे, उनमें से कुछेक मुख्य-मुख्य विनोदों का लोप हो चुका है । उनमें से 'सीढ़ी' भी एक है । सीढ़ी को हम मनोरंजन-मात्र की वस्तु नहीं कह सकते । वह एक अत्यन्त भक्ति-प्रधान तथा आत्म-हिनात्मक प्रदर्शन था । लोग अपनी मग्नता पूरी होने पर सीढ़ी पर चढ़कर टँग जाने थे । लम्बे बांस के सिरे पर लोहे के कड़े में लोहे का एक ऐसा काँटा (कुण्डा) लगाया जाता था, जो चारों ओर घूमता रहता था । उस कुण्डे को स्त्री या पुरुष अपनी पीठ की चमड़ी अथवा रगों में से निकालकर उससे लटक जाने थे और तब बांस के चारों ओर गोल घुमाये जाने थे । वारबोसा ने इन प्रक्रिया का आँखो-देना वर्णन इस प्रकार किया है :

“इस देश (विजयनगर) की स्त्रियाँ अत्यन्त साहसी होती हैं । मग्नता पूरी होने पर वे भयंकर कार्य करती हैं । प्रेमी से विवाह हो जाने पर प्रेमिका सीढ़ी से लटक जाती है । निश्चित दिन पर एक बँतगाड़ी सजाकर उस पर लोहे के कुण्डे के साथ एक बड़ा रस्सा ले जाते हैं । बाजे-गाजे के साथ प्रेमिका चल पड़ती है । केवल उत्तरी कमर पर ही बपड़ा होना है । सीढ़ी के पास पहुँचने के बाद रस्से के कुण्डे को उसकी पीठ में चुनो दिया जाता है और सीढ़ी उठा दी जाती है । उसके बायें हाथ में एक छोटी-सी फटार भी होती है । फिरकी को सीढ़ी के सम्ये

१. 'भारतभरणीकल्प' ।

से लगाकर युवती को रस्से के द्वारा ऊपर खींच लेते हैं। युवती कुण्डे पर हवा में लटकती रहती है। पीठ से एड़ी तक खून जारी रहता है, पर यह धूँ तक नहीं फरती, बल्कि किलकारी भरती, कटार घुमाती हुई अपने प्रेमी पर नीबू मारती रहती है। थोड़ी देर बाद उसे उतारकर घावों पर पट्टी बांध दी जाती है। फिर वह सबके साथ पैदल मन्दिर में जाती, दर्शन करती और ब्राह्मणों को दान-धर्म करती है।<sup>१</sup>

सीढ़ी का आकार-प्रकार कुछ ऐसा होता था : गड़े हुए खम्भे के सिरे पर लोहे की बनी से एक गोल पत्थर लगा होता और उस पत्थर वाली कील पर घूमने लायक एक आड़ी बल्ली लगी रहती। बल्ली के एक सिरे पर चरखी होती। रस्से की चरखी से उतारकर लोहे का कुण्डा स्त्री को पीठ पर लगा देने के बाद युवती हवा में टेंगी रहती।<sup>२</sup>

पहले तेनालि रामकृष्ण को भी कृष्णदेवराय के अष्ट-दिग्गजों में गिना जाता था, पर अब पता लगा है कि वह बाद के कवि है। उन्होंने भी अपने 'पांडुरंगमाहात्म्य' में इस सीढ़ी का वर्णन दिया है : "काले बादलों में कौंधनी बिजली की तरह एक युवती सीढ़ी पर लटक गई।"<sup>३</sup> जान पड़ता है कि यह प्रथा रेड्डियों में अधिक प्रचलित थी। 'सीढ़ी' की प्रथा आजकल नहीं है। चार सौ वर्षों के अन्दर ही इतना अन्तर हो चुका है।

कोलाटम खेलने (नाचने) में भी लोग बड़ी आसक्ति रखते थे। रायस-सीमा में आज भी, विशेषतः चांदनी रातों में, कोलाटम चला करता है।<sup>४</sup> इसके अतिरिक्त मुगंबात्री, भंसा-युद्ध, वाज का शिकार, चौपड आदि में भी लोगों की विशेष अभिरुचि थी। (पाश्चात्य यात्री पीस)। कृष्ण-राय देव ने लिखा है : "लंगोटी बांधना, तलवार यामना, कृक-वाक-

१. Salatore, I.

२. 'पांडुरंगमाहात्म्यम्'।

३. सीराष्ट्र के डंडे वाले गरबों से अन्तर इस इतना है कि यहाँ भव नाचते हैं।—अनु० व सं० हि० सं०।

पुद्गल...

शतरंज का खेल सम्राट् से लेकर साधारण जन तक सबको प्रिय था। विख्यात है कि मूसल से पहले ही भारतीय इस खेल का पता लगा चुके थे। जब ईरान के प्रसिद्ध बादशाह नौशेरवां ने इस खेल की महिमा सुनी तो उसने बड़ी आरजू से भारत में अपने आदमी भेजे। यहाँ से शतरंज की बिसात और नर्द-मुहरे ही नहीं मँगाये, उस्ताद भी बुला लिये। बाणभट्ट तथा रुद्रभट्ट ने अपने काव्यों में इस खेल का वर्णन किया है। कृष्णदेवराय के समय बौद्ध, तिम्मना इस खेल में बड़ा निपुण माना जाता था। तिम्मना 'कवीश्वरदिग्दति' की पदवी पाकर कृष्णदेवराय के पास रहता था और उनके साथ शतरंज खेला करता था। खेल में कभी-कभी तो हजारों-हजार की बाजी लगती थी और तिम्मना जीत जाता था। सम्राट् ने प्रसन्न होकर उसे सर्वाधिकारों के साथ कोप्पल ग्राम पुरस्कार में दिया।<sup>१</sup> तिम्मना की प्रशंसा में एक पद्य भी है :

“भले बौद्ध-तिम्मना !

चाहे बस केवल हो एक नर्द

फिर भी जुट जाता है जर्बामदं

कृष्णदेवराय के साथ,

जिनकी भरी बिसात

को भी देता है सदा मात पर मात !”

कुछ कवियों ने उस समय के कुछ बाल-खेलों की भी चर्चा की है, किन्तु उन नामों से आज हमें इस बात का भी कुछ पता नहीं चलता कि वे खेल आखिर थे क्या चीज ? कोशकारों ने 'बालक्रीडा-विशेष' लिखकर अपना पिंड सुटा लिया है। पिगतमूर कवि ने तथा इर्मंटी ने बालक-बालिकाओं के खेलों के नाम कवितावद्ध किये हैं। पर मेद है कि वे खेल अब लुप्त हो चुके हैं। हमें उनका बोध नहीं हो पाता।

१. 'ग्रामुक्त माह्यदा'।

२. रयानीय रिकार्ड ।

फिर भी यहाँ उनका नाम दे देने में कोई हर्ज नहीं ।

'कला पुण्योदय' में वर्णित बालिकाओं के खेल ये थे :

श्रीमार्पेंडिल—गुट्टी-गुडियो की शादी

गुञ्जनगुडल—खाने-पकाने का खेल

अच्चनगड्लु—हथेली पर उल्टे-सीधे ककर उछालने का खेल

पिपड्लु—घोठ बजाते हुए उकडू बैठकर खेलने का खेल

कुच्चित्—बालू की नाली में बीज छिपाने का खेल

गीरनागिजा— " " "

श्रीमनगुडल—लकड़ी के पाट पर चौदह गढ़े बनाकर उसमें शमली के बीज भरने और खाली करने का खेल

वनुमृत्तिगतनल—

कम्बालाटा—चार खम्भों पर भागने और पकड़ने का खेल ।

बालकों के खेलों के नाम इर्भटी ने ये गिनाये हैं :

(१) चिट्लापोटलाकाम, (२) सिरि सिगणावत्ति, (३) गुडु-गुडु गुञ्जालु, (४) कुदेन गुडि, (५) दामिलि मृच्चुनु, (६) कन्नावायनु, (७) वेन्नेलाविप्पलु, (८) तन्नु विल्ला, (९) तूरननुवालु, (१०) गीरनगिजलु, (११) पिल्लादीपालु, (१२) अकि बल्लिगोट्टु, (१३) चिट्टुगुडु, (१४) अक्कना पोटी, (१५) चेट्टुगट्टिनाबोदि, (१६) उप्पन बट्टे, (१७) अप्पलानु, (१८) लोटिल्ल, (१९) चिकन्नाविल्ला, (२०) चिदर आदि ।<sup>१</sup>

आगे लिखा है कि वैश्य कन्याएँ रत्नों से कुच्चिल आदि खेलती थीं ।  
बोलाक्रोतुनु, विल्लागोड्ल, इरना गोला, अन्दतम्बुनु, कुन्दिवाट्टु ।<sup>२</sup>

खेलों में से अधिकांश के अर्थ आज हमें मासूम नहीं । कोशकारी ने भी उन्हें केवल 'बालक्रीडा विशेष' लिख छोड़ा है ।

१. 'कालहस्ती महात्म्यमु', ३-३३ ।

२. 'विष्णु पुराण', आश्यास, ७ ।

शादी-ब्याह की दावतो में नाग-भाजी, चटनी-अचार, चावल-भाटे की चीजें, खीर-मिष्ठान्न आदि जो-जो साद्य पदार्थ बनने पे, उनके नामों की एक सम्बन्धी सूची है। निश्चय ही और नाम होंगे। किन्तु जो नाम दिये हैं, वे साद्य भी आज नहीं दिखाई-मुनाई नहीं पडते।

शब्द-कोष भी मूरु हैं। 'बलापूर्णादय' में दिये हुए नाम ये हैं—  
बुटेनु, नेनेनोलनु, चापटनु, मडिगा, ओव्वटनु, बडालु, कुट्टुमुनु, मुक्कियनु, जडियनुट्टनु, वेन्नपायनु, बडियमुनु, मप्पडालु, वोगरमुनु, सोज्जेबूदे, तागुनु, सेवेनु, उवकेरनु, अरिनेनु, चक्किलमुनु, खडूर, मोस्तनी, बदलिका, महकार, कोव्वरि (नारियल), पनसा (बटहल के बीजे), तेने, जुन्नु, मीगड, मानवालु, पानकम, रसावल, पच्चह्लु, पप्पुनु, कूटनु आदि अनुपम अन्न।

शेद का विषय है कि हम अपने परम्परागत खानो से भी अन्नभित्त हैं। उक्त भोजन बाह्यणो के हैं। अन्न जातियो में इतने नहीं होते। फिर मामाहारियों के भी कुछ होंगे। शृष्णदेव राय ने कुछ और नाम गिनाये हैं—

१. पोरविलंगाय, २. पेरगुवडियम्, ३. पच्चिवरनु।

ये विगड न सक्ने वाले सफरी खाने हैं।<sup>१</sup>

धर्पा में—

कलमान्न, बलिचनपप्पु, चारपांचपोगसिम, कूरनु, वरगुनु, पेरगु, बडियमुनु, नेच्चि।

धर्मियो में—

उलिवेच्च अन्नमु, नित्यनि चारनु, मज्जिग पुनुस, पनुचनि अम्बलि, चेरकुपालु, एडनीर, रसावल, बडिपिदला, ऊरुकायनु, नीरचल्ला तथा सार्धियो में—

पुनुगुविच्चपुअन्नमु, मिरियप्रपोडितोउडुकुकरनु, मुक्कुवेक्कु धरवपाट्ट

१. 'बलापूर्णादय', १-८०-८२।

पञ्चदलु, उरगायलु, पायमान्मुलु, उदुकुनोचि, सुव पका हुषा दूध आदि खाते थे ।<sup>१</sup>

मेलो-ठेलो पर जाने वाले 'पेह्लु चलरी' दही-चावल साथ लेकर नदी-नालो और कुघो-तालाबो पर बैठकर खाते थे । भैंस के दही में नीबू निचोड़कर, अदरक काटकर डालते थे । इसमें चावल मिलाने पर 'दध्यन्लमु' कहलाता था ।<sup>२</sup>

(वृष्णदेव राय ने भोजनों का श्रुतुघो के अनुसार वर्णन किया है । इसमें देव की शीतोष्ण स्थिति के साथ भोजनों में परिवर्तन किया गया है । यहाँ तक कि सदियों और गर्मियों के अचार भी अलग-अलग हैं ।)

### कलाएँ

विजयनगर साम्राज्य में कलाओं की उन्नति पराक्रान्ता तक पहुँच गई थी । सम्राट्, सामन्त, सरदार तथा धनी-मानी सभी ने मन्दिरों तथा भवनो का निर्माण करवाया, जिससे शिल्प-कला अत्यधिक उन्नत हुई । राजा और प्रजा ने चित्र-लेखन, कविता, संगीत और रंगरेजी का पोषण किया । अच्युतराय वृष्णराय के बाद विजयनगर का पतन हो चुका था । फिर भी, बँटपतिराय तक के शासन-काल में चित्रकार मौजूद थे । उन्होंने भवनो तथा देवालियो की दीवारों पर मनोहर चित्र बनाये । अनन्तपुर के लेपाक्षीदेवी के मन्दिर के चित्रों को बाद के लोगों ने अपनी मूर्खता से बिगाड़ डाला । जो कुछ बचे हैं, वे बड़े ही सुन्दर हैं । उस मन्दिर में अच्युत राय के शिला-शासन मौजूद हैं । छत्र पर भी चित्र बने हुए हैं । सम्रभो पर शिल्पकारी है । परन्तु बाद वालों ने उन पर चूना और गेरू पोतकर अपनी भौंडी चित्रकारी का प्रदर्शन किया है । खुदे हुए चित्रों में कई महादेव—शिव से सम्बन्धित चित्र अत्यन्त सुन्दर हैं । तञ्जौर

१. 'सामुक्त माल्यदा', १-६७ ।

२. 'कलापूर्णादय', ४-३५ ।

के कृष्णदेवरायल के चित्र भी विजयनगर-सम्राटों के बनवाये हुए हैं।

पीन ने लिखा है : "कृष्णदेवराय के अन्त-पुर भवन (रनिवास) में दीवारों पर स्वयं उनके और पिता के चित्र हैं। चित्र उन राजाओं की आकृतियों से खूब मेल खाते हैं। उन्हीं दीवारों पर नाँति-भाँति के अन्वय लोगों की प्रतिकृतियाँ भी हैं। वे चित्र पुर्तगालियों के हैं। इन चित्रों से रनिवास की नारियों को संसार-भर का ज्ञान प्राप्त होता था।" अर्द्धुर्ज्जाक ने लिखा है कि वेदयात्रों के परो की दीवारों पर शेर-वक्र आदि जाननरो की तमवीरें होती हैं। ये जानवर सचमुच मजीव जान पढ़ने हैं। प्रौड कवि मल्लना ने कहा है कि दीवारों पर कृष्ण-लीलाएँ चित्रित होती थीं।

कृष्णदेवराय के शासन-काल में जो साहित्य-मृज्जन हुआ, उसमें और स्वयं कृष्णदेवराय की 'आमुक्त माल्यदा' में तत्कालीन सामाजिक इतिहास कूट-कूटकर भरा है। यदि पाश्चात्य यात्रियों का ध्यौरा हमें उपलब्ध न होता तो हम अपने साहित्य की कदाचिन् 'कल्पना-मात्र' समझते। उन दिनों स्त्रियाँ भी शास्त्रोक्त रीति में 'तूतिका' में चित्र बनाती थीं। कूची को तूची-वागरा भी कहते थे। उसीको मन्वृत में एपिका तथा तूतिका कहा है। कृष्णदेवराय ने लिखा है कि पक्के चूने की दीवारों पर कूची में चित्र उरेहें जाने थे।

"पूर्वोक्षी (कुमुमांगी) शाश्र सरजिन तूतिन हरिन् ।"

आगे बचकर मन्ना-भवन की चूने की दीवारों की चित्रकारी का वर्णन है।<sup>१</sup> पक्के चूने को तेनुमु में 'गच्छू' कहते हैं। मन्चून गच्च तैयार करने के लिए महीन बानू, मुड का पानों, नेल और चूना मिलाकर 'दगु' में पीगा जाता था।<sup>२</sup> इतना तो हमारे साहित्य में मिलना ही है।

१. 'आमुक्त माल्यदा', ४-१४६।

२. वही, ४-१८।

३. 'मनु चरित्र', ४-३२।



किन्तु उसमें गौड, हरड, भेंडी, अमृतवल्ली, बबूल की छाल आदि और मिला दी जाती थी । ऐसा घूना बड़ा टिकाऊ होता था ।

अब यह सुनिये कि सार्वजनिक भवनों में किस प्रकार के चित्र खींचे जाते थे :

“आदि नारायण भगवान् का अमृत-मग्न्यन करके धी लक्ष्मी से, चन्द्रशेखर धी शफर भगवान् का पुष्पशर कामदेव को भस्म करके श्री पार्वती से, श्री रामचन्द्र का शिव-धनुष तोड़कर श्री सीताजी से, तथा राजा नल का देवताओं को लज्जित करके भीमापीश की दमयन्ती से विवाह करने की कथाओं तथा चित्तभद्र केरि-बंध विचित्र गतियों, हंस-कलरव कीर-रयोग कुगतियों आदि का चित्रण करके तत्सम्बन्ध महास्यतातिक-स्वर्ण-सौध कथ्य ” १

इसके विपरीत केश्याओं के घरों के भीतर दीवारों पर उनकी अपनी वृत्ति के अनुकूल चित्र चित्रित होते थे ।

“ये रम्भा-कुबेर पुत्र, उर्वशी-पुच्छरपा, मेनका-विश्वामित्र, गोपी-कृष्ण, मालिनी-रावण, मत्स्यलोचना-श्रुष्यभृगु, मत्स्यगधा-पराशर, तारा-चन्द्र, इन्द्र-अहल्या, द्रौपदी-पाण्डव इत्यादि अपने घरों की भीतों पर भी उरेहवर्ती, जिनमें स्वयं उनकी बेटियाँ रहती थीं । इतना ही नहीं उनमें काम-शास्त्र के सिद्धान्तों का चित्रण भी सम्मिलित रहता था ।”

विजयनगर के मन्नाटो में भी कृष्णदेवराय ने ही उत्तमोत्तम मन्दिरों का निर्माण करवाया था । हजारारामालय तथा विट्ठलालय के मन्दिरों की शिल्प-कला की प्रशंसा अर्च्ये-अर्च्ये शिल्पवेत्ताओं ने भी की है । कृष्णदेवराय का मभा-भवन अथवा ‘दरवार’ ‘भुवनविजय’ कहलाता था और राजमहलों को ‘मलयकूट’ कहते थे । ‘मलयकूट’ की दीवारों की चित्रकारी बहुत प्रसिद्ध थी । उनमें राजदूतों, नर्तकियों, बन्दीजनों, अन्दरों और गिवार तथा नाट्य-मण्डली के दृश्य भी चित्रित थे । मानो

१. ‘राघवमहाकव्य’, १-१४८ ।

२. ‘काल हस्ती माहात्म्य’ ।

राज-भवन की चित्रकारी उस समय के सम्पूर्ण मानसिक जीवन का प्रतिबिम्ब रही हो। विजयनगर के विध्वंस से हमारे इतिहास को घदार हानि पहुँची है। राज-भवन के बड़े फाटक पर 'घटिका-मन्त्र' लगा हुआ था। घटियों के हिसाब से दिन-रात घंटे बजाये जाने थे।

कृष्णदेवराय को साहित्य में ही नहीं संगीत-कला में भी दक्षता प्राप्त थी। सम्भवतः विजयनगर-सम्राटों के शासन-काल में ही दक्षिणी भाषाओं, तेलुगू, कन्नड़ और तमिल के संगीतों का समागम हुआ, और उन सबके लिए एक ही नाम 'कर्णाटक संगीत' पड़ा। कृष्ण नामक संगीतज्ञ ने कृष्णदेवराय को संगीत सिखाया। उसने राय को वाणा बजाना भी सिखाया था। कर्णाटक के नारायण कवि-रचित 'राघवेन्द्र विजयम्' में लिखा है कि राजा ने गुरु-दक्षिणा के रूप में मोती और हीरे के हारों की भेंट दी थी। शास्त्रीय संगीत की सूत्र उन्नति हुई। विशेष श्रुतियों में विशेष रागों की प्रधानता रहती थी। कहा जाता है कि पुर्नगाली राजदूतों के द्वारा अपना पुर्नगाली बाजा भेंट करने पर राजा बहुत प्रसन्न हुए थे। इस सम्बन्ध में बारबोसा ने लिखा है कि म्बियाँ गा-गाकर नृत्य मनगिनत घड़े पानी से राजा को नहलाती थीं। दरबार लगने पर भी गाया जाता था। उस युग की चित्रकारी में भिन्न-भिन्न नृत्यों, वाद्यों आदि को प्रदर्शित किया गया है। वेद्याओं ने नृत्य और संगीत की विशेष कृष्टि की। वह अपनी लडकियों को दस वर्ष की आयु से पहने ही नृत्य-कला सिखना दिया करती थीं। दसवें वर्ष में प्रवेश करने ही उन्हें 'दवरामी' बना दिया जाता था। पीन आश्चर्य-चकित होकर लिखना है कि व्यवहार-श्रुति के कारण वेद्याओं का मान गिरने के बजाय राजाओं, सामंतों और धनी-भावियों द्वारा उन्हें मुल्लन-मुल्ला रग लिये जाने के कारण और बड़ा ही है। वेद्याएँ राज-भवनों के अन्दर बे-रोक-टोक जाती-जाती थीं। हजारा राम-मन्दिर के सिना-स्तम्भों पर रंग-बिरंगे आभूषणों के साथ मुमदुरागी हुई वेद्याओं के चित्र मुड़े हुए हैं। उनमें से कई तग पायजामों पर लहंगा पहने

दिग्याई गई हैं। नवरात्र के अवसर पर दोपहर के बाद वेद्यों की कुस्ती भी होती थी। प्रत्येक शनिवार के दिन भगवान् की मूर्ति के सामने उनका नाच होता था।

विजयनगर में कुस्ती का महत्त्व इतना बढ़ गया था कि मन्दिरों में नाट्य-मण्डप होने लगे। शानियाँ नर्तकियों को नृत्य-कला सिखाती या सीगती थी। (वेद्यों को सानी कहते हैं जैसे—रगासानी, विमलासानी आदि।) शानियों के गीत-नृत्य-कलाओं के गुरुओं को माफी में जमीनें मिल गई थी। वन्नड तथा मस्वत में गीत-शास्त्रों की रचना हुई।

उस समय कूचि पूड़ी भरत-नाट्य की ख्याति अच्छी थी। इसके मन्वन्ध में भी एक रोचक गाथा है। माचुपल्ली रेवाडें में निवासी है : "सम्बेटा गुड्वराजु अपनी प्रजा को दास्य दुःख दिया करता था। प्रजा यदि रकम तुरन्त न देती तो वह उनकी स्त्रियों को पकड़वाकर उनके स्तनों में 'चिमटे' लगवाता था। कूचिपूड़ी नाट्य-मण्डली विनुकोंडा, वेह्लमकोंडा से होती हुई माचुपल्ली पहुँची, जहाँ पर उन्होंने गुड्वराजु का ध्वजहार देखा। मण्डली तुरन्त वहाँ से चल पड़ी और विजयनगर पहुँची। यीर नरसिंहराय वहाँ का शासक था। नाट्य-मण्डली ने दरबार में हाजिर होकर नाचने की अनुमति माँगी, जो तुरन्त मिल गई। यथा-समय रंगमंच पर मण्डली वालों ने गुड्वराजु के दरबार का दृश्य पेश किया। एक ने सम्बेटा गुड्वराजु का स्वागत किया, दो उसके सिपाही बने, तीसरे ने स्त्री का रूप धारण किया। गुड्वराजु का दरबार लगा। सिपाही स्त्री को घसीट लाये, राजु के आदेश पर सिपाही स्त्री के स्तनों पर 'चिप्लतु' (चिमटे) लगवाकर रकम का तकाजा करने लगे। राजा को बोध हुआ कि असली बात क्या है। दूसरे दिन सवेरे उसने फौज को कूच का हुकुम दिया और इस्माईलखाने को, जिसने राजा का बेटा बहलाने की ख्याति पाई थी। उस फौज का सरदार बनाकर खाना कर दिया। इस्माईलखाने ने गुड्वराजु को युद्ध में परास्त करके गिरफ्तार किया और उसका सिर काटकर विजयनगर के राजा के पास ले आया। कितने

के छन्दर राजू की सभी मित्रियों और बच्चों ने शरीर त्याग दिये ।”

तब से आज तक कूच्चिपूड़ी वालों ने भरत-नाट्य की रक्षा करके देग-नर में उसका प्रचार किया है। ‘वेङ्कटनाथ पथ’<sup>१</sup> के अनुसार कृष्णा-गोदावरी मण्डलों में ‘जगम’ जाति के लोग परदे डालकर नाटक खेला करते थे।

वाम्बड में ‘घान्न’ भाषा संगीत के लिए अत्यन्त अनुकूल भाषा है। मारे दक्षिण भारत में कन्दाकृमारी से कटक तक अन्ध दक्षिणी भाषा बोलने भी तेलुगू गीतों को गाया करते हैं। विजयनगर के सम्राटों के कर्गाटकी होने के कारण उनके पोंपकत्व में बिन आध्र-संगीत की उन्नति हुई उसका नाम भी ‘कर्गाटक संगीत’ पड़ा। वाम्बड में उसका नाम आध्र-संगीत था। आध्र राजाओं ने संगीत की विशेष वृष्टि की थी। तत्रावर के रघुनाथराय ने ‘रघुनाथ मेला’ (रघुनाथ व्रजा) नामक एक नई बीराग को जन्म दिया। पूर्वकाल में एक राग का नाम ही ‘घान्नी राग’ था, अर्थात् बिन प्रकार ‘गावारी राग’ एक प्रकार के संगीत का प्रतीक है, उसी प्रकार आध्र देग एक और प्रकार के संगीत के लिए प्रसिद्ध था। उसीसे आज ‘कर्गाटक संगीत’ कहते हैं।

‘त्रिन्नावनोतु पीराली वेगवनी तु पंचमा।

घान्नी गंधारिका चंब सन्धुमल्लि पंचमांत ॥”

तेलुगू देग के संगीतज्ञों ने उत्तर हिन्दुस्तान में जाकर पराई भाषा जार्मी में गाकर मुजज्जान बादमाही तक को रिखाया था। विट्टन नामक एक व्यक्ति ने ‘संगीत रत्नाकर’ पर भाष्य किया था। उनका सिद्धा २२ प्रकार के रागों में प्रवीण था, जिसके लिए गुजरात के माटवी मुजज्जान उपामुद्दीन मुस्मन्द ने एक हजार तोना सोना भेंट करके उसका सम्मान किया था।<sup>२</sup>

१. ४—२४०।

२. श्री मानवन्नी रामकृष्ण खत्रि Journal of Anjhra H. R. Vol. XJ—P. 174.

उस युग में तेलुगू साहित्य में गोंडली नृत्य की चर्चा बार-बार आती है। श्रीमान् बल्लीगम कृष्ण कवि ने लिखा है—“जाय सेनानी अपनी ‘नृत्त रत्नावली’ में ‘.....चालुक्य भूलोक भल्लसोमेश्वर ने उसका प्रचार किया।” इन शब्दों के साथ मानवल्ली ने निम्नोक्त प्रमाण उद्धृत किये हैं :

“कल्याण फटिके पूर्वम् भूत मातृ महोत्सवे,  
सोमेशः कुतुकी कांचित भिन्न वेपमुपेयुपीम  
नृत्यन्तीमय गायन्तीम स्वयं प्रेक्ष मनोहरम्  
प्रोतो निर्मितयान चित्रम् गोडली विधिमत्ययम्  
यतो मित्री महाराष्ट्रे गोडोगीत्याभिदीयते।”

इसमें जान पड़ता है कि आजकल जगली कहलाने वाले गोंडों की नृत्य-कला देश-भर में फैल चुकी थी। वही गोंडनी बाद में गोंडली हो गया है। ‘आमुक्त माल्यदा’<sup>१</sup> में प्रतीत होता है कि नृत्य-कला में मुकाबले और होड़ें हुप्रा करती थी। निर्णायकगण उत्तम-मध्यम आदि क्रमों के अनुसार कलावारों को पुरस्कृत करते थे। कृष्णदेवराय ने अपनी कविता में बाजों के भी वीसियों नाम गिनाये हैं—“मृदंग, उपांग, घायजम्, दंडे, ताल, बुहमाकिन्नर, सन्नापाले, वीणा, मुखवीणा, घासे प्रोलु, भीरी, भेरी, गौर, गुम्पेट, तम्पेट, डुक्की, इक्की, चक्की चुप्पकी इत्यादि असंख्य वाद्यत्रयम परम्परा.....।”<sup>२</sup>

विजयनगर-युग को तेलुगू साहित्य की दृष्टि से प्रबन्ध-युग नाम से याद किया जाता है। इस युग में महान् कवियों का प्रादुर्भाव हुप्रा। कवि-मार्बभीम, ग्रान्ध्र-कविता-पितामह, साहित्य-रम-पोरण, सविधान-चक्रवर्ती ये सब इसी युग में हुए। राजाओं ने जिस जोर से तलवार चलाई, उसी वेग से गटम (लोहे की कलम) को भी चलाया। स्त्रियों ने भी संस्कृत तथा ग्रान्ध्र-भाषा में सुन्दर कविताओं की रचना की।

१. ४—३६।

२. ‘आमुक्त माल्यदा’, ४—३५।

गंगादेवी, निरुमलाम्बा, रानभद्राम्बा आदि सुप्रसिद्ध कवयित्रियाँ थीं। गोलकोंडा के मुसलमानों नामों को तेलुगू का चोना मिला। इब्राहीम को 'इम्नाराम' का रूप दिया गया।

इस प्रकार घन्ट्र में भिन्न-भिन्न कलाओं ने चौमुखी उन्नति करके देगवासियों तथा विदेशियों को मुग्ध कर दिया था।

### पंचायत

उस समय आज्ञा की-सी अदालतें नहीं थीं। गाँव-गाँव में गाँव के प्रमुख व्यक्ति बदले में कुछ पाने के लोभ से मुक्त रहकर भगडों-तकरारों का फैसला किया करते थे। 'विज्ञानेश्वरों' ही उनके लिए प्रामाणिक धर्मशास्त्र था। सभा अथवा पंचायत ही अदालतें थीं। उसके सदस्य ब्राह्मण होने थे। पंचायत के फैसले के विरुद्ध राजा के पास पुनर्विमर्श की प्रार्थना (अपील) की जा सकती थी। साधारणतया पंचायत का फैसला पलटता नहीं था। भगडे दो प्रकार के होते थे। एक धनोद्भव (शौधानी) और दूसरे हिमोद्भव (फौजदारी)। दोनों की ही मुनवाई ग्राम पंचायतें करती थीं। विशेष अभियोग की मुनवाई राजा स्वयं करता था। राजा भी सभा वालों को बुलाकर उनकी सलाह से फैसले सुनाता था।

सभा की बैठक चावडी (चौपाल) में अथवा मन्दिर या बीच गाँव में बने हुए रच्चें बट्टा (पंचायतों चबूतरा) पर हुआ करती थी। रच्चें (मार्वचनिक) इसलिए कहा गया कि खुली बहस होती थी।<sup>१</sup> जब राजा मुनवाई करता तो विद्वानों को बुलाकर कमरवार का कमर गुना देना और कहना कि वे ग्राम्यों को देखकर बनायें कि इस अपराधी को क्या दंड दिया जाना चाहिए।<sup>२</sup>

एक बार की खान है कि एक वैष्णव और एक जैन के बीच तेल-

१. 'धामुक्त माल्यदा', ४—१११।

२. 'परमयोगी विलासमु', पृ० ३४०।

देन के मामले में तकरार हो गई। मामला राजा के पास पहुँचा। राजा ने कुछ प्रमुख व्यक्तियों को सभा बुलवाकर मामला सुना दिया और एक तारीख मुक़र्रर करके कहा कि वे अमुक दिन तक अपना फैसला सुना दें। सभासदों के सामने दोनों फ़रीकों ने अपनी-अपनी बातें रखी। इस पर सभा वालों ने पूछा, 'कोई गवाह है।' उन्होंने कागज़-पत्र सामने धरकर कहा, 'देखिए इस पर गवाह दिये है।' गवाहों के सामने पत्र जोर से पटककर सुनाया गया। सब-कुछ सुन-समझकर सभा ने अपना फैसला दिया।<sup>१</sup> इसी ग्रन्थ में आगे<sup>२</sup> कहा गया है—“मुद्दई मुद्दातेय 'रच्चा कट्टा' पर सभा को नज़र-भेट देकर अर्जों मुनाकर फैसला चाहते हैं। भगडा जमीन का है। सभा वालों ने पूछा, 'जमीन तुम्हारी है, इस बात की कोई गवाही है?' इस पर मुद्दई ने कहा—'जब हमारे पुरखों को यह जमीन मिली थी तब के गवाह आज तक जीवित ही कैसे रह सकते हैं? वे तो कभी के जाते रहे।' सभा ने पूछा, 'तो तुम्हारे पास कोई कागज़-पत्र है?' जवाब मिला, 'हमारे सातवें दादा को जो कागज़-पत्र मिले थे वे इतने वर्ष तक कैसे रह सकते थे? कोई ताम्र-पत्र थोड़े ही थे?' तब सभा ने कहा—'अच्छा, 'सत्यम्' लो, यागी कसम खानो।' इस पर उसने ईश्वर की कसम खाई और मुक़द्मा जीत गया।”

ऊपर की बातों से उस समय के पचायती विधान पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। पहले बयान, फिर कागज़-पत्र की या मनुष्य की गवाही, और अन्त में कुछ न हो तो बसम खाना। इसी पर शास्त्रों को देखकर फैसला दिया जाता था। बसम खाना कोई मामूली बात नहीं है। लोग मानते थे कि झूठी कसम खाने पर बस-नाश होता है और दरिद्रता घेरती है। इसी प्रकार पचायत के सदस्य भी झूठा फैसला देने से डरते थे। 'बैकटेश शतरु' के आधार पर हम पीछे यह आए हैं कि कहीं-कहीं घूम खाकर झूठा फैसला देने वाले पंच भी होते थे, किन्तु बहुत कम।

१. 'परमयोगी बिलासमु', पृ० ३४०।

२. पृ० ५३२-३ पर।

नमात्र के अन्दर ऐसे लोगों की कोई कद्र नहीं थी। पचास की विशेषताओं को उन समय के तेलुगु-साहित्य में बार-बार दर्शाया गया है। वही उत्तम पद्धति थी। अंग्रेजी अदालतों, वकीलों, बानूनों, बानून की बारीकियों, झूठ और बेईमानियों के इस युग में उन प्राचीन पचासों की पुनःस्थापना कदापि सम्भव नहीं।

### इस अध्याय के आघार-ग्रन्थ

(१) श्री कृष्ण देवराय-वृत्त 'आमुक्त माल्यदा'—श्री वेदम् वेङ्कटराम गान्धी ने इस पर व्याख्या लिखी है। कलापूर्णा में एक बार पूछे जाने पर इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में एक ही बात में कहा या कि "श्री कृष्णदेव राय ने इसे लिखा है और कवि सावंभौम अन्वमानि पढ़ना ने उसे देखा है।" निश्चय ही यह श्रीकृष्ण देवराय की रचना है। उसमें सम्पूर्ण लोकाभुभाव विद्यमान है। पग-पग पर सामाजिक इतिहास के मंगले हैं। इस दृष्टि में यह अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है। इस सम्बन्ध में इसे तेलुगु-साहित्य में अग्रस्थान प्राप्त है। अपूर्व स्वाभाविक वर्णनों तथा सरल शब्दों में यह ग्रन्थ भरा पड़ा है। यदि इस ग्रन्थ पर 'नवतन्त्र स्वातन्त्र्य' की व्याख्या न होती तो प्राचीन वाजें हमारी समझ में बाहर ही होती।

(२) परमयोगीविलासमु—रघयिता पाडलापाका निरवेगलनाद। यह एक द्विपद काव्य है। वेगल कवि को 'चिन्नन्ना' के नाम से भी याद किया जाता है। इसी कवि के सम्बन्ध में यह उक्ति प्रसिद्ध है कि द्विपद का जानकार तो चिन्नन्ना ही है। 'वेगुगोपान शतक' के रघयिता ने इसीको 'अननाडला पाका चिन्नन्ना' की गाली दी थी। इसकी कविता में पक्ति की पक्ति छाप बैठने वाला मन्वृत्त समान एक भी नहीं है। सब जगह तेलुगु बोल ही विद्यमान है। यह अवश्य है कि विद्वानों में इसका स्तर पालतुरिकी सोमनाथ तथा गोरेना में गिरा हुआ है। किन्तु अपने सामाजिक इतिहास के लिए यह बड़े ही काम की वस्तु है। इस दृष्टि में 'बनु चरित', 'मनु चरित' इत्यादि प्रबन्ध-ग्रन्थों की अपेक्षा यह



द्विपद कविता कही उत्तम है ।

(३) मधुराविजयम्—रचयित्री गंगादेवी । यह संस्कृत भाषा का एक ऐतिहासिक ग्रन्थ है । इसे प्रकाशित करने वाले इतिहास-विशेषज्ञों ने इस बात को सिद्ध किया है कि इसमें सच्चा इतिहास भरपूर है । कविता सुन्दर है । अन्य भाषाओं में टीका-सहित प्रकाशित करने योग्य है ।

(४) कृष्णराय-विजयम्—लेखक कुमार इर्भटी । कविता साधारण है, ऐतिहासिक जरूर है, किन्तु हमारे काम की कम ।

(५) श्री कालहस्ती महात्म्यम्—लेखक इर्भटी । केवल तीसरा धादवास ही कुछ काम का है ।

(६) राधा राघवम्—लेखक एल्लानायं कवि ।

(७) कला पूरणोदयम्—लेखक विगलि मूरना । इन दोनों से कुछ-कुछ सहायता मिलती है ।

(=) Vijaynager sixcentenary commemoration Volume (1936). यह बहुत काम की वस्तु है । किन्तु इसमें राजवर्गों तथा उनके शासन-काल का विवरण नहीं है । इसे कर्णाटक के लिए उपयोगी बनाने की दृष्टि से लिखा गया है ।

(६) Social and political life in Vijaynager Empire by Salatore, दो खण्डों में ।

यह है तो बहुत अच्छी, किन्तु कर्णाटकी दृष्टिकोण से लिखे जाने तथा लेखक के तेलुगू से अनभिज्ञ होने के कारण उतनी उपयोगी नहीं है ।

: ५ :

## विजयनगर राज

(सन् १५३० से १६३० तक)

कृष्णदेवराय के बाद भी विजयनगर राज्य की दशा सन् १५६५ ई० तक उज्ज्वल ही रही, किन्तु सन् १५६५ ई० में तातीकोट के युद्ध में उसको भारी घबका लगा। दक्षिण के सभी मुसलमान मुलतानों ने एक होकर विजयराजु के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। युद्ध में उसकी हत्या कर दी गयी और उनकी मारी सेनाओं को तितर-बितर करके विजयनगर पर अधिकार जमा लिया तथा लगातार छः मास तक उसको तहस-नहस करते रहे। फिर भी विजयनगर की ताकत टूटी नहीं। तिरमल देवराय पेंनुगोडा को अपनी राजधानी बनाकर शासन करता रहा। उसके बाद श्री रंगराय राजा हुआ। वह बहुत दुर्बल राजा था। अपनी दुर्बलता के ही कारण उसने अपनी राजधानी पेंनुगोडा से बदलकर चन्द्रगिरी में रखी। अन्त में सन् १६३० के बाद विजयनगर साम्राज्य का पतन हो गया। केवल उसकी एक शाखा तंजावूर में दो पीढ़ियों तक शासन के साथ शासन करती रही।

यरंगल के कावतीय राज्य के पतन के बाद विजयनगर ने लगभग २३० वर्ष तक दक्षिण के हिन्दुओं को मुसलमानों के आघात से बचाये रखा। सन् १६०० के बाद आन्ध्र का सारा प्रान्त दक्कन के मुलतानों के अधीन हो गया। इसी बीच भारत भूमि पर फरंगीसियों और

अंग्रेजों का पदार्पण हुआ। वे भी देश को छूटने की नीयत से ही यहाँ आये थे। रक्षण नहीं, बल्कि भक्षण ही उनका उद्देश्य था। सन् १६०० से १८०० तक आन्ध्र देश के अन्दर अराजकता का ताडव नृत्य होता रहा। वह एक अन्धकारमय युग था। कम-से-कम उत्तर सरकार तथा रायल सीमा के प्रान्तों को तो सन् १८०० ई० के बाद किसी प्रकार से साँस लेने का अवसर मिल भी पाया, किन्तु तेलगाना तो कल तक पतनावस्था में ही रहा और वहाँ की जनता असहनीय यातनाएँ सहती रही।

### धर्म

कृष्णदेव राय के समय जो स्थिति आन्ध्र की थी उसमें कुछ विशेष परिवर्तन तो नहीं हुआ, किन्तु बाद के साहित्य से जिन थोड़ी बहुत विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है उनकी चर्चा करना जरूरी है। मुसलमानों के द्वारा हिन्दुओं पर तथा उनके धर्म और मस्जिदों पर निरन्तर आक्रमण होते रहने के बावजूद हिन्दू राजाओं ने मुसलमानों के प्रति शुद्ध राजनीतिक विरोध भाव ही रखा। उनके महत्व के विरुद्ध कोई द्वेष भाव नहीं दिखाया। जनता ने भी इस्लाम धर्म का विरोध नहीं किया। पल्लनाडि प्रान्त में मुसलमानों की वज्र तरु पल्लनाडि वीर-मन्दिर के अहाते के अन्दर ही बनी हुई है। आज भी वहाँ के मुसलमान कार्तिक के महीने में पल्लनाडि के वीर-पूजा-ममारोह में भाग लेते हैं। गुलबर्गा के अन्दर मगहूर बली की दरगाह के बारे में प्रसिद्ध है कि उसके भवन को नारायण महाराज नामक किसी सेठ ने बनवाया था। पेनुगोडा के बाबा बली की दरगाह के नाम सालुवा नरसिंह राय ने माफी में कुछ गाँव दे दिये थे। उन दरगाह के बाद के राजाओं ने भी अनेक दान दिये। जटिन वर्मा कुनशेखर पांड्य राजा ने शालिवाहन सम्बत् १४७७ में एक मसजिद के नाम एक गाँव दिया था। बरगम में भी मसजिदें बनी थीं। 'श्रीडाभिरामम्' में एक मसजिद का लक्ष्य करके कहा गया है कि यही 'करतार' की मसजिद है। पर न जाने वह करतार कौन

या—बनो या बादशाह, क्योंकि मुमत्तमानों में करतार नाम नहीं होता ।

“कर्तार-कर्तार कहकर मुमत्तमानों के भजने पर पूरब दिशा में……।”<sup>१</sup> पद्य सन् ११८१ के सगभग के कवि मल्लों का है । इनने विदित होना है कि उन समय मुमत्तमान मूर्ख को करतार कहते थे, और उनको पूजते थे । किन्तु इस्लाम आया उससे सम्बन्धित मन्त्रदाओं में करतार का शब्द नहीं मिलता । कवि रामराजु ने ‘साम्बोभाष्यान’ में रत्नान के रोजे (उत्तवान) के सम्बन्ध में यों कहा है :

“मुमत्तमान उत्तरायण में जब रोजा रखते, तब चमेली की सुगन्धियों से भी बचने । वे मोनिया चमेली के सफेद फूलों को देखकर विरह-बेदना को जीतने के उद्देश्य में दुगनी भमारों पड़ते ।”<sup>२</sup>

शैवों तथा वैष्णवों के बीच परस्पर वैमनस्य पूर्ववत् चलता रहा । एक वैष्णव आचार्य विद्वानारायण पर शैवों ने चोरी का अभियोग लगाया और मामले को पचापत में ले गए । वैष्णवों को इतने बड़ा दुःख हुआ । उन्होंने धारण में कहा—‘ये तो पहले ने ही हमारे धर्म के शत्रु हैं । ‘ब्रह्म ज्ञानम् जगत् मिथ्या’ का प्रचार करने वाले मायावादी धर्म लोगों के धोर धरार्यों पर भी पर्दा डालने हैं, पर हमारी छोटी पुष्टियों की राई को भी पहाड़ बनाकर पचापतों में ले जाने हैं । तब क्या वे विद्वानारायण को सहन कर सकेंगे ? कदापि नहीं । तुम लोग चाहते हो कि लोग (भ्रष्टवादी) विद्वानारायण को चोर न कहें, अभिचारी न कहें, धनाचारी न कहें ? अच्छा तो तुम वैष्णवधर्म इसके लिए एक ‘बहुरथ’ उत्पन्न करो !” इन प्रकार उन्होंने व्यग्न किया । बहुरथ एक प्रकार का सम्मान-भूवन समारोह होता है । बिनका अतिशय आदर करना हो, उसे एक रथ में बिठाकर सभी बाह्यग धरने हाथों में रथ को गोंबों हुए बाजार में उत्र धरति का जन्म दिवाने से ।

१. ‘विद्वानारायणचरित्र’, चदनबाई मल्लय्य ।

२. ‘साम्बोभाष्यान’, रामराजुरंगणा, २-१०२, पृष्ठ ११६० के सगभग पृष्ठ है ।

इस साम्प्रदायिकता ने ही हिन्दू-समाज को सबसे अधिक हानि पहुँचाई है। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के परिवार-के-परिवार अपने सम्प्रदाय के नाम पर आजीविका कमाने लगे। शैवों ने मठों का आश्रय लिया। दूसरे अपने-आपको वैष्णव बताकर मन्दिरों में रहने लगे। उस समय धर्म का नाम लेकर भीख माँगने वालों की संख्या भी बहुत बढ़ गई थी। अनेकों नम्बीजन दासरी बुट्टा (भोला) टाँगे घर-घर भीख माँगने लगे।<sup>१</sup>

अर्थात् श्री रंगधाम ही सबसे बड़ा मन्दिर है, इस टोक का कोई तमिल गान रहा होगा। माडाभूपि मठम् वेंकटाचार्य ने अपने 'पाशुर परिमल-मुलु' में लिखा है : "तिरुवरंगम् शब्द तमिल भाषा में श्री रंगम् के लिए प्रयुक्त होता है। तिरुवरंगम्, तिरुमाला भी इसीके रूपांतर हैं। द्रविड़ विषय प्रबन्ध के प्रथम हज़ार पद्याँ में से यह भी है। प्रसिद्ध विप्रनारायण ने ग्रन्थ में इसका विपुल गायन किया था। एक भी ग्रन्थ ऐसा न होगा जो विप्रनारायण के चरित्र अथवा उसके 'वेजयन्ती-विलासम्' से अनभिज्ञ हो। बारह आलवरो में वह भी एक हैं। तिरुमला श्री वैष्णव आलयों में उसके इस गान का सदा गायन हुआ करता है।" माडाभूपि ने उसी तमिल गान का तेलुगू में अनुवाद किया है। कुछ नमूना इस प्रकार है :

"एक ही बाण से महा जलधि के दर्प को कुचलकर सारे जग के कुत्तहल को बढ़ाते हुए युद्ध में रावण का सहार करके भगवान् रामचन्द्र श्री रंगनाथ भगवान् के इस उत्कृष्ट मन्दिर में विराजमान हैं। यदि उस भगवान् का स्मरण न करें तो भला उस करुणा से वंचित रहकर कैसे उद्धार पा सकते हैं।" बिकिटम, (भिशा) जोगु, गोपालम् आदि नामों पर कुछ माँग खाने लगे।<sup>२</sup> जोगु उस भिशा को कहते हैं, जो एकलित देवी के नाम पर जक्कु जानि माँगा करती है। हम पीछे कह आए हैं कि

१. 'वेजयन्ती-विलासम्', ३-६२; तिरुवंगम् पेरिय कोविल।

२. 'विप्रनारायण चरित्र', ३-१५।

जबकु 'यमु' का विगड़ा हुआ स्वरूप है। (एककति का सम्बन्ध भी यही से जान पड़ता है।) गोदानम् की चर्चा नी 'मध्या-गोपालम्' के शीर्षक से हो चुकी है। (मध्या-गोपालम् की निष्ठा का आरम्भ ऐसा तो नहीं कि दिन-भर गाँव की गायें चराने के बाद घरवाहा गाम को हर गाय बाने के घर की फेरी लगाकर भोजन लेता रहा हो ? और इन्हीने पीछे निष्ठा-वृत्ति का रूप ले लिया हो ?—अनु०)।

धी रंगम् में 'रामानुज कूटम्' थे।<sup>१</sup> ये कूटम् आन्ध्र देश के अन्दर थे कि नहीं, कहा नहीं जा सकता।<sup>२</sup> तम्बली के मन्दिर में पीछे लिखा जा चुका है। वे शिवालयों के पुजारी होने थे। तम्बली के शब्दार्थ क्या है, इस पर पीछे कुछ चर्चा हुई है। उनमें अधिक कुछ पता नहीं। वे अब भी मन्दिरों में ब्राह्मण-भोजन के लिए पत्तल ला दिया करते थे। (दक्षिण में धाम-वास जानि के लोगों के हाथों में रहकर पत्तलों की भी एक कला-मी हो गई है। उनकी मिलाई मसौन की-मी दारीक और मुन्दर होती है।) तम्बली पत्तल मुहैया करते थे। निर्मल देवराय के एक शिवा-शामन में उल्लेख है कि तम्बलियों की प्रार्थना पर पत्तल का काम बन्द करके उनको मन्दिर की देख-भाल का काम दिया जाता है।<sup>३</sup>

विष्णु अथवा शिव के मन्दिरों के बनने के बाद मूर्ति की स्थापना के समय शैव भी और वैष्णव भी अपने-अपने ढंग पर पूजा करते तथा 'उत्सव' मनाते थे। (मूर्ति को पानकी में बिठाकर कंधों पर जलूम निवाला जाता है, इसीकी उत्सव कहते हैं।) उत्सवों में वैष्णव द्वादश पुंड्रियारी होकर, (माधे, मुखा, पेट, गने आदि शरीर के बारह स्थानों पर तिलक लगाना) तथा गने में तिरुमरिगवडम (कमल के दानों को

१. 'विप्रनारायण चरित्र', २, ६।

२. रामानुज कूटम् के अर्थ हैं रामानुजाचार्य के अनुयायी वैष्णवों का एक जगह इकट्ठा होना। इस कूटम् में सभी वैष्णवों को मुफ्त भोजन मिला करता था। ये आन्ध्र देश में भी थे।

३. Salatore, संड दो।

माला) पहनकर जाया करते थे। चर्वा तथा (तोटा) तिष्वागुडा (तिजक पेटी) भी हाथ में रखने थे।<sup>१</sup> वैष्णव धर्म के प्रचार के लिए वैष्णव कवियों ने भी प्रयास किया। 'साम्बोपाख्यान' के रचयिता रामराजु रगप्पा ने लिखा है - "सिद्धान्त-वर्षेण नामक एक गुरु महाराज हस्तिनापुर जाकर भीष्म, द्रोण और विदुर आदि को पंच संस्कारों से संस्कृत करके (मुद्रा-धारण की प्रक्रिया जिसके सम्बन्ध में विछले अध्यायों में लिखा जा चुका है) शरणागत धर्म तथा भागवत-वात्सल्य (शरणागत की रक्षा तथा भगवद्-भवतों के प्रति श्रद्धा) का उपदेश देकर, हरि-कथा-कीर्तन करके, अष्टविधि भक्ति प्रकारों, नवविधि भक्ति युक्तियों, तिरुवाराधन (पूजा) सर्षदाग्रों इत्यादि परम वैष्णव-सिद्धान्तों को बुद्धिगोचर करते थे।"<sup>२</sup>

(प्रचार ऐसा करते थे मानो वैष्णव शैव के भगड़े महाभारत-काल में भी रहे हों।) वैष्णव मन्दिरों के पुजारी दादा-परदादा से पीढ़ी-दर-पीढ़ी चले आ रहे हैं। भगवान् का सारा भोग वही भोगते हैं। भक्तों का दिया हुआ दिया-बत्ती का तेल भी बहुत-कुछ उन्हींके घरों में जलता है। भक्तों की दक्षिणा आदि चढ़ावों में अच्छी आमदनी होती है। 'विप्रनारायण चरित्र' से मन्दिरों के पुजारियों के जीवन-विधान पर कुछ प्रकाश पड़ता है : "यदि कुछ भूल हो जाय तो क्या हुआ। इतना ही ना कि (मन्दिर का) दिया गुल हो जायगा, बुझ जायगा ? ! नाराज क्यों हो, घूँघरी के दो दाने ही तो खा लेंगे ? ! कुछ भोग-सामग्री ही तो ले जायेंगे ? ! मन चला तो थड़े का एक टुकड़ा ही तो मुँह में डाल लेंगे ? ! घोटा देंगे तो बस दो-चार पैसेरी चावल ही तो उड़ा ले जायेंगे ? ! बहुत हुआ तो एक घेंली-अधेंली, एक फटी घोली या एक सुपारी अड़ो, बस और क्या ? !"<sup>३</sup>

योग सभ्य की पूजा करते थे। यह दारु ऋतु में होती थी। उस

१. 'साम्बोपाख्यान', ४-१४२।

२. वही, ४-१५२।

३. 'विप्रनारायण चरित्र', ५-१६।

त्योहार के अवसर पर रत्नकजन, वेदप्राप्तों को पटुगा दडुगा (त्योहार का दंड) करने थे। इन दण्ड की सफ़रमाँ भी दी गई है। अपने घर पर कितों के दिने बकरे की मीठी आवाज कानों में पडनी तो वेदप्राप्तों को बड़ी उत्कण्ठा होती। इन प्रकार रुपये, साडियाँ, पान-मुपारी, बकरे आदि सभी चीजें वेदप्राप्तों को त्योहार की भेंट के रूप में दी जाती थी।<sup>१</sup> इस वर्णन से प्रतीत होता है कि यह अवसर दीवानों का ही होता होगा। भाद्रकन सादियाँ दीवानों के दिन मधेरे ही मूरज उगने से पहले ही धनी-भानियों के घर आकर झारनी उतारती है और इनाम के रूप में झारनी में रुपये छोड़े जाने हैं।

मंगल की लानना एक सामान्य बात है। 'अपुत्रम्य गतिनाम्नि'-जैसी शास्त्रोक्तियों के कारण हिन्दू आज भी पुन-प्राप्ति के लिए अनर्हतीय धारना भेनकर देव-आशुगा को प्रसन्न करते हैं। उन दिनों तो और भी बुरा हाल था। धन-उपवान रचना, दण्ड-जाप करना, शाशुगु-परिवारों को धन-दान करना, 'शान्ति रचना,' पदम्मत्र (दूध के मठार) गोचना, तीर्थ-यात्राएँ करना, देवी-देवताओं के दर्शन करना, दानधर्म करना, देवनाथों के स्नानों का पाठ करना, 'पोरनु' दडवन् लगाना (पैरो पर न चक्कर जमीन पर मोटने हुए मन्दिर को परिव्रमा करना), जो भी मूर्ति दिने उनकी पूजा-मन्नन करना, जो भी दान कोई बतावे वहाँ करना आदि मन्त्र-प्राप्ति के लिए ध्यान बात थी। नोग कुछ भी उठा नहीं रखने थे। मंगल के लिए मरने रहे थे और तवाह होने रहे थे।<sup>२</sup>

( 'पोरनुदडनु' का एक और भी मयकर रूप उत्तर भारत में है। शिन्धाचन-माई आदि देवियों के दर्शन को जाने वाले बिनने ही मन्त्रों वाले यारी बीसियों मील तक मृष्टाग-मृष्टों में घरती को नापने जाते हैं। उनमें धागे की चमड़ी तक धिन-धिन जाती है।—धनु० )

वैष्णव-धर्म के प्रवर्तक श्री रामानुजाचार्य के समय श्रीपति पंडित

१. 'धंजयती वितान'।

२. 'मत्स्यचरित्र', ध० १ पृ० १३।



एक आदमी लाठी का सहारा देकर उस कपड-छाजन को उठाए रहता है, जिसमें उसका आकार चञ्चल-फिरते तम्बू-जैसा दिखाई देता है।" (इसी-को राय न सीमा में 'उल्ले' कहते हैं।—लेखक)

संक्रान्ति के त्योहार को रायल सीमा में 'पशुओं की खिचड़ी' कहते हैं। भारत के अधिकतर प्रान्तों में इसे 'खिचड़ी' अथवा 'खीचड़ी' का त्योहार कहते हैं। उग ममय के ग्रान्ध्र देश में यह त्योहार कितना सर्व-प्रिय था, इसका अनुमान एक पद्य में होता है जिसमें संक्रान्ति के बाजार का वर्णन है :

"कुम्हार कुट्ट रहा था कि चार आधे और बयों न पका लिये, बनिया बड़बड़ाता था कि सारे रुपयो की हल्दी ही बयों न खरीद ली, गडरिये को यह गम था कि दो-चार रेवड और बयो न बढ़ा लिये, किसान कुड़-बुड़ाना था कि सारे खेत में हल्दी ही बयो न उपजाई ! सभी धन्धों और वृत्ति वालों का सारा माल सबेरा होते-होते ही बिक गया था। इससे सभी व्यापारी पछताते रहे थे कि अगर क्यादा माल लाते तो खूब मुनाफा होता। अर्थात् खिचड़ी के त्योहार पर सभी जाति के लोग खूब खुले हाथों खर्च करते और ठाठ से त्योहार मनाते थे। सचमुच संक्रान्ति सबका त्योहार है। ब्राह्मणों से लेकर शूद्रों तक सभी का। मांसाहारी उस दिन बकरे काटकर खाते थे। घर-घर खिचड़ी पकती थी। मिट्टी के नए घरतन खरीदे जाते थे ! हल्दी की बात इसलिए आई है कि उस दिन हमलो का अचार डाला जाता था। उसमें हल्दी पड़ती है।"

'विनटि पटुगा'—पटुगा तो त्योहार को कहते हैं, पर 'विनटि' शब्द कोश में नहीं है। 'विनु' माने बीज। इस त्योहार का मतलब हुआ 'बुघाई का त्योहार'। आज भी बुघाई के दिन लोग अपने-अपने घर साधारण-मा त्योहार मनाते हैं। जान पड़ता है कि आज से तीन सौ साल पहले बुघाई की शुरुआत करने के लिए कोई दिन निश्चित था। उमी दिन सब विमान बुघाई शुरू करते थे। ब्राह्मण बुघाई-कटाई के समय हर कहीं हाजिर रहते थे ! एक पद्य में बुघाई के समय ब्राह्मण के

निःशर्क घाने पर विमान विगडकर कहता है : "अरे बांभन, यहाँ भी आ गया नू ?" फिर हँसी में कहता है "तूने अच्छा मुहूरत नहीं बताया या । पैदावार क्या खाक होगी ?" फिर ब्राह्मण के मीठी-मीठी बातें करने पर टोकुरा भर नाज देकर विशा जिज्ञा । (वे-मन में टोकुरा भर दिया, तो मन में देने वाले तो बोरियाँ भर-भर देने रहे होंगे ।) ।

इसी बीच बुद्ध नये ग्राम-देवता भी पैदा हो गए थे । 'नदनपोलव्या को नमस्कार'<sup>१</sup> नदन पोलव्या नामक कोई वीर पुण्य रहा होगा या उमने कोई अद्भुत कार्य किये होंगे । न तो यह किनी देवता का नाम है, और न इन शब्द का कोई अर्थ ही है । मरने पर लोग उसे भी देवता बनाकर पूजने लगे होंगे । इसी प्रकार एक 'ग्राम-गंगा' देवी थी । इस देवी की भाव्यता बहुत रही । इनके नाम पर विचरियाँ चढ़तीं, बकरे बटते, तान्त्रिक लोग मुरगें काटते ।<sup>२</sup> मेनानि रामनिगम् ने इसका वर्णन यों किया है : "ग्रामाधिकारी ने 'गंगम्मा-जातरा' की । डोंडी पिटवाई कि 'जातरा' कर रहा हूँ । 'जातरा' के दिन गेवार स्त्रियाँ तेल मल-मलकर गरम पानी में नहाईं, नये कपड़े पहने, काजल-सिन्दूर लगाये, छोटी में फूल गुथे, गले में नीम के हार डाले, और पान चबाती हुई निकल पड़ीं ।" लोग इन 'गंगम्मा' की शक्ति और महाशक्ति के नामों से पूजने थे । रेड्ड लोग गेवार धान से शान के साथ महाशक्ति के उम दिव्य भवन की ओर चले, जो पहाड़ी काटकर बनाया गया है ।

इस महाशक्ति के उत्सव में विगेष रूप में दक्खियों की बनि दी जाती थी । लोग ताड़ी भी मूत्र चढाते थे । स्त्रियाँ मनोती मानने के नाम पर बंभे बंभे भयंकर कार्य करती थी, उसका भी वर्णन मिलता है : "कोई सोड़ी पर भूतों, कोई अग्नि-बुग्ड में नाबनी, कोई बेल के पत्तों पर नाबनी, कोई अग्नि शरीर से मांस काटकर शक्ति की जड़ानी, कोई

१. 'शुक सप्तत्रि', अध्याय २ ।

२. 'महर्षि चरित्र' ।

३. 'शुक सप्तत्रि' ।

मुँह में ताला देती, अर्थात् दोनों होंठ मिलाकर उसमें लोहे की एक कील भोंक लेती इत्यादि.....”<sup>१</sup>

ग्राम-देवता की तरह घर की देवियाँ भी निकल पडी । घर में किसी स्त्री की हठान् मृत्यु हो गई तो उसके नाम पर घर या खेत में एक पेड़ के नीचे छोटी-सी वेदी बनाकर उस पर पत्थर, लकड़ी या मिट्टी की देवी 'धाप' कर पूजा जाने लगा । ऐसी पूजा जहाँ न हो वहाँ उसे चालू कराने वालों की कमी न थी । एक रेड्डी की पत्नी मर गई । कुछ दिनों बाद ग्राम-पुरोहित ने कोई स्वप्न देखा । स्वप्न में रेड्डी की पत्नी कहती है कि जाओ रेड्डी से कहो कि वेदी बनाकर मेरी 'धापना' करे !<sup>२</sup> एक देवी चगलम्में है । इस नाम की एक स्त्री अपने पति के साथ सती हो गई थी । नेल्लूर की ओर चगलम्में चगलम्में आदि नाम बहुत होते हैं । देवी-देवताओं की कोई कमी न थी । पुट्टताम्मा, मदिवीरुलु, एक्केलम्मा, पोन्नुराजु, धर्मराजु, कम्बय्या, देवाडुलु, काटिरेडु आदि देवी-देवताओं का प्रादुर्भाव हुआ । देवी-देवताओं में 'मनोती' माँगना और 'सात्का' घडाना भी एक रिवाज था ।<sup>३</sup> किन्तु 'सात्का' शब्द कोश में नहीं है । पता नहीं, इसका मूल क्या है । (उडू में 'सदके जाना' चलियाँ लेने या बत्ता उतारने के अर्थ में प्रयुक्त है । 'सदका' ही 'सत्का' हो गया होगा । —अनु०)

'उतारे' का रिवाज भी चल पड़ा था । घर में किसी के बीमार पड़ जाने पर तरह-तरह के घन्न बनाकर बीच घर या देहरी पर रोगी को खड़ा करके 'उतारे' निघ्रावरें उतारते और उस रंग-बिरंगे 'उतारे' वाले घन्न को बाजार में या गाँव के घन्दर जहाँ तीन-चार रास्ते मिलते हो, डाल देने थे ।

ये सारी देवियाँ प्रायः शूद्रों की होती हैं । कुछ लोग इनके पुजारी भी बने । वे भी ग्राम तीर पर शूद्र ही होते थे । ब्राह्मण पुजारियों की

१. 'पाट्टरंगमाहात्म्यम्', ३-७५ तथा तेनालि रामकृष्ण, सन् १५३० ई० ।

२. 'शुक सप्तति', २-४४५ ।

३. वही ।

तरह इन शूद्र पुजारियों या पुजारियों को भी घन्न, माम, मदिरा, पैसे आदि खूब मिलने लगे। इन देवियों के आगे 'अमुमाने' की प्रथा भी चली। अमुमाने का काम अधिकतर स्त्रियों का ही होता है। अमुमाने वाली स्त्रियाँ बाल बिछेरकर घोर कपड़े तक का होश न रखते हुए बूद-फाँद करती हैं और चिल्लाती हैं। चारों ओर लोग जुट जाते हैं। लोग पूछने हैं और वह जवाब में 'भासती' (बोलती) है। वह तरह-तरह की माँग करती है, और लोग उसकी माँग पूरी करने का वादा करते हैं। वादे हो जाने पर अमुमाना बन्द हो जाता है। (ब्राह्मण शास्त्रों की दुहाई देकर दान-धर्म लेने लीं शूद्रों ने स्वयं भगवान् या भगवती को बुलाकर उनके मुँह में अपनी कमाई का रास्ता कर लिया!) ऐसा भी होता था कि अमुमाने वाला व्यक्ति स्वयं देवी या देवता बनकर माँगें पेश करने लगता। एक देवी कहती है— "किमान स्त्रियाँ घोरार्हों पर लिच्छी के खूब चढ़ाये चढ़ाये तो कुछ प्रसन्न हो सकती हैं।"<sup>१</sup> शिव-शक्तियों, तपारों (चौकीदारों), बघनीनों (बाजे बाने) और नाच-गाने वालों को मुक्त ताड़ी पीने को मिलती थी।<sup>२</sup>

मन्दिरों पर मुबह नूर के तड़के नगाड़े बजाये जाते थे। जिस प्रकार राजमहलों में राजा-रानियों को गा-बजाकर जगाया जाता, उसी प्रकार मन्दिरों में भी। देवी-देवताओं को नगाड़े आदि बजाकर जगाया जाता था। 'शुक सप्तति' में लिखा है कि "लोग देवनित्य की प्राचन्महामर्दत ष्टिनियों से सवेरा होने की सूचना पाते थे।" इसी प्रकार 'विप्रनारायण चरित्र'<sup>३</sup> में लिखा है— "रंग स्वामी के मन्दिर पर शंख, दुन्दुभि आदि मंसुत थात बजे....."

उस समय के राजाओं ने वैष्णवाचार्यों को घामों के कुछ अधिकार भी दे रंगे थे। पैम्मानानि निम्मानापुद्द नामक एक कम्माराजा का एक

१. 'शुक सप्तति', ३, ३८३।

२. वही, ३, ११६।

३. वही, ४-६८।

शिला-लेख है, (शांतिवाहन शक या सम्वत् १५६६, सन् १६४४ ई० वा) । उसमें लिखा है :

“ताताचार्य के प्रपौत्र तिरमल बुक्का पट्टनम् कुमार ताताचार्य जो को नुसन्नागोन के पेम्मसानि तिम्मानायन को लिखवाई ‘देश-समाचार-पत्रिका’ । पहले कृष्णदेवराय-काल से चले आते तिरमाली के इस ‘देश-समाचार’ के चालू गांव ‘वर्षाशन’ (शांतियाना) को चलाने की आज्ञा ‘देश के म्लेच्छाक्रान्त हो जाने के कारण’ हमें मिली है । इसलिए हम अपने पंच-संस्कार के अवसर पर ध्यापकी सेवा में गोलकोंडा के बादशाह के दिये हुए अपने मनसब (शाहीशांतियाना) में मिले गंडिकोट तालूका (तहसील) के चार लाख पचास हजार के इलाके को हरितेवा, गुदतेवा, मुद्रा की नरर, मन्दिर की भेंट, चमिवि (अन स्पॉहता) मुद्रा, भूल-धूक, बंडन, खंडन, पट्टुपावोडा आदि, देश-समाचारों (प्रयात्रों) के साथ अर्पित कर दिया है ।”

सन्, १६५२ में गोलकोंडा मुलतान के वजीर भीर-जुमला ने पुर्तगालियों की मदद से गंडिकोट पर घोलाघड़ी से कब्जा कर लिया । उसने मले नामक पुर्तगाली को हुकुम दिया कि गंडिकोट के मन्दिर में सब मूर्तियाँ ले जाकर उनकी धातु से २० तोपें बनवा लावें । उसने कहा कि दस तोपें ४८ पौंड की, दस २८ पौंड की हों । इतनी तोपों की जरूरत है । ताम्बे की मूर्तियों को गलाया गया । सब मूर्तियाँ पिघल गईं किन्तु ‘भूमा’ (बढ़ाई) में भगवान् माधव स्वामी की मूर्ति ज्यों-की-त्यों बनी रही । कोशिश करने पर भी वह नहीं गनी । तब समझा गया कि यह ब्राह्मणों के मन्त्रों का प्रभाव है । ब्राह्मणों को पकड़कर उनकी लाटना की गई, पर कोई नतीजा नहीं निकला । एश भी तोप तैयार नहीं हो सकी । टार्विनियर नामक व्यक्ति ने अपनी पुस्तक ‘ट्रावेल्स इन इटिया’, (भारत की यात्रा) में यह अपनी धर्मो-देवी घटना लिखी है ।

१. ‘गंडिकोट का घेरा’ नामक पुस्तिका से ।

(अभी-अभी जिम पुस्तिका का हवाला दिया गया है, उस पर लेखक का नाम नहीं है। निम्ना है कि यह निबन्ध 'समदर्शनी' की 'आगिरग मन्त्रिका' (एक वार्षिकाङ्क) के लिए लिखा गया था। निश्चय ही यह पत्र अग्नेजों के बाद का होना चाहिए।)

### वेश-भूषा

सोमों की वेश-भूषा, तिलक आदि में विभिन्नता पाई जाती थी। चार सौ वर्ष पूर्व आन्ध्र के अन्दर कौन-कौन-सी जातियाँ थी, और वह कौन-कौन धन्धे, रोजगार आदि करती थी, इसकी लगभग भरी-पूरी-सी तस्वीर पालवेकटी बदरीपति ने अपनी प्रतिभाशाली शैली में दृ-दृ-दृ खींच रखी है। प्रत्येक जाति के स्त्री-पुरुषों का मूर्तिमान वर्णन देकर मानो उन्हें हमारे सामने ला सड़ा दिया है। इस सम्बन्ध में उनका एक-एक पद्य उल्लेखनीय है। किन्तु विस्तार के भय से यहाँ केवल कुछेक पद्य ही उद्धृत किये जा रहे हैं :

“है वृष्टदेश पर मोर पंख-तरकस,  
 हाथों में धनु 'सेलस'।  
 कटि-बाघबर में खुँसी हुई मग्ही फटार,  
 भूलता गले में फूलहार।  
 तिपटी दाहिनी भुजा पर माला गुञ्जा की  
 घुँघराले बालों पर बाँकी  
 सले की तलेंमुगीर पट्टी। हैं खड़ी-खड़ी  
 मूँछें ! आँखें हैं बड़ी-बड़ी।  
 पैरों में चप्पल 'इस्तझा'—”

### राजा की शिकारी पोशाक

“रेशमी जाँघिये पर फटे से कसी कमर।  
 है जरीदार मिरचई कसी उसके ऊपर,

जिस पर है लाल किनारी की सुन्दर चादर ।  
 कानों में कुण्डल पन्ने के ।  
 माथे कस्तूरी के टीके ।  
 दाँये कर में कटार, बाँये में पड़ी ढाल ।  
 झीं गले हार में गुँथे सोहते लाल लाल ।  
 रंगीन कुल्लई है सिर पर,  
 लम्बी-सी, जगमग, प्रति सुन्दर ।”<sup>१</sup>

कोमटी सेट्टि (बनिया महाजन)

“माथे चन्दन, मुँह में पान,  
 नीलम के कुण्डल हैं कान,  
 सिर पर वगड़ी, गेरुआ चादर,  
 रजत करघनी कसो कमर पर,  
 मन्मथ करती हुई चप्पलें हैं भलवत्,  
 कितनी शोभा से मंडित है यह ‘धनदत्त’ !”<sup>२</sup>  
 (‘धनदत्त’ अर्थात् धन  
 उधार देने वाला महाजन ।)

वृद्धा वेश्या

“साड़ी, जो रानी जी का उपहार है,  
 अक्कलदेयी के घरलों का हार है,  
 माथे कुंकुम की छोटी-सी टिकली है,  
 झोर गले में मुक्ताघों की हंसली है ।”<sup>३</sup>

१. अण्डमान, २-२ ।

२. वही, २-१५ ।

३. ‘वंजयंती विलासपु’, ३-७१, ७२ ।

### सिराहियों का नरदार

“नाक की नॉक से भाये के सारे तक  
भीहों के बीच से पतला-सा है तितक,  
बनपट्टी पर सारे से बँधा, भौंटा, है  
एक पल्ला लटकाये नीला बजरंगी लँगोटा है !”<sup>१</sup>

### धाना

धानेदार को दंडनायक कहा जाता था । दंडनायक का ठाठ, दरदबा  
नौ धावकन के धानेदारों से कम नहीं होना था :

“सनकाते साठियों के छल्लों को,  
चमकाने धावदार ततवारें  
भनकाने हनुमन्-चिप्रित ढालें  
नरसिंधी में भरते फुकारें  
चले वेदयाओं के मुहल्ले को  
सत्रे सिपाही, करते कोलाहल ।  
उन्हें लेके चला दंडनायक है,  
बशमाशों के दित में है हलचल ।”<sup>२</sup>

सिराहियों की साठियों में लोहे के छल्ले सजे रहने थे । ढालों में तीन-  
चार पौन होती थी, जिनमें लोहे की मोतियाँ पड़ी रहती थीं ! अब  
सिराही बनने, तो इन मोतियों में ध्वनि निकलती थी । ढाल पर शेर-  
बजर धादि के चित्र बने होने थे । इन पद्य में ढाल पर हनुमान का चित्र  
बनाया गया है ।

### वेदया

मंदिर से निकलकर सहेतियों में कपड़े की धाड पचडवाकर जल्दी-  
जल्दी धरने घर जा पहुँचती और माता के पूछने पर हँस देती ।

१. 'वंजयन्नी विलासपु', ४-६७ ।

२. वही, ४-७८ ।



## दासर यानी

“गेहमा चोली, चोटी लिपटी साडी की लीरे-से  
मोती की दुलड़ी पहने, हरिनाम भजन करती चलती घीरे से……”<sup>१</sup>

## पटवारी

“मोटी पगड़ी और नीरकावी धोती पहने  
यही दबाये हुए, बगल में, श्री' चमड़े के म्याल मे  
धरे हुए तलवार, कहीं से पटवारी जी आ पहुँचे,  
ढंढे रेड्डी से सटकर, ज्यों कहना हो कुछ कान में……”<sup>२</sup>

## मादिगा जोगुरातु

चमारो की एक देवी का नाम जोगुलम्मा है । उसके पुजारी भी चमार  
ही होते हैं । देवी के नाम पर चमार पुजारिनें भीख माँगने निकला करती  
थी । उनकी पोशाक का वर्णन यों दिया है :

“गले में देवी के चर्मचरण, लंबा कौड़ीहार और दर्शनमाला,  
माथे पर हल्दी का टीका और बाँये हाथ में देवी की हल्दी,  
दाहिने में नागफनी की साठी, लांगदार जेंगावी साड़ी है,  
परशुराम के गाने गाती यह 'जोगुलंबे'-भीख माँगने चल दी ।”<sup>३</sup>

## मुसलिम मिवाही

मुसलमानों को तुलुक कहते थे । आज भी तेलुगू में तुलुका का  
अर्थ मुसलमान ही होता है । उसकी पोशाक का वर्णन शुक्र सप्तति-कार  
ने<sup>४</sup> किया है । किन्तु उसके कई शब्दों के अर्थ शब्द-कोशों में भी नहीं

१. 'विप्रनारायण चरित्र', ३-३ ।

२. 'शुक्र सप्तति', २-४१७ ।

३. " , २-२४५ ।

४. " , ४, २७-८ में ।

मिले । लेखक ने उन पद्य का अन्वय यों दिया है :

“एँठनदार रेशमी मुरंठे-तले कारचोबी की, फर्राँसीसी टोपी,  
सूने<sup>१</sup> भाये पे<sup>२</sup> धँगोछा, धँगरला भिनमिल मलमल बा, तिस पर चादर  
काँस तले से निकलती कंधों पर, जरीदार पाजामा, डीले-ढाले जूने,  
मेंहदी-रंगे नल, जनेऊ-ता चमड़े का पट्टा, पेटी-बटार, रूप धरे भयंकर ।  
अभय-रूप साईँस संग लिये, ‘धुस्तंदी’<sup>३</sup> से आ पहुँचा वह गाँव के बाहर,  
चीरान वाले पोपल तले खड़ा होके गरजा, ‘बुला, तलार’<sup>४</sup> को बुला,  
वे ‘धगड़ी के’<sup>५</sup>

गर्जन सुनते ही रेड्डी-तलार, संगियों को संग लिये भाग चला खेतों पर !”

‘धगड़ी के’ की गाली इनी रूप में आज तक तैलगाने में मुरझित है ।  
एक छोट्टे में मिनाही, उसके घोड़े-साईँस, उसका ठाठ, और उसकी  
गालियों के मारे जब गाँव के पटेल-पटवारी तक भाग जाता करने पे,  
तो धीरों का फिर क्या पूछना ? मिनाहियों का मह दबदबा उस समय  
था, जब गौतचोडा के मुचनानों ने आध्र-देश को अपने अधिनार में कर  
लिया था । यह वान मन् १६३०-५० ई० की है ।

### रेड्डी

“धोनी पहने अपकेर, खदरिमा काली-धारीदार  
चनरीधी चप्पल, और सकुटिया हाथों की हमदार,  
विश्ट ससससी बड़ी दाड़ी, मूँछे भी खड़ी, घनी, भंग्लाड़,  
उपज चौड़ी छाती पर घने बाल, लगने हैं जंगल भाड़,  
नाभि-थोका ठोपा भर, और पिडलियों का भोंडा आकार,

१. बिना टोके के ।

२. तेलुगू पद्य में ‘धुस्तंदी’ शब्द अपने मूल फारसी अर्थ में (‘तियारी’ के  
लिए) प्रचुरत हुआ है ।

३. तलार : पटेल या साम्राजिकारी ।

४. गंदी गाथी है ।

उठती कमर से गले तक किनारदार चादर,  
 और बाईं बांह में बांका कड़ा,  
 जरीदार ग्यान में कटार पड़ी, पंरों में  
 रंगीन खड़ाऊँ का जोड़ा पड़ा,  
 कानों में चौकट<sup>१</sup> बालियाँ भुलाये  
 आयुध जीवी सिपाही खड़ा !”<sup>२</sup>

### ब्राह्मणी

ब्राह्मणी का अलग वर्णन नहीं मिलता। एक ऐसे ब्राह्मण का वर्णन मिलता है, जो किसी रेड्डी-युवती पर मोहित होकर अपनी स्त्री को भी उसी प्रकार की वेश-भूषा में देखकर प्रमत्न होना चाहता था। वह अपनी ब्राह्मणी से इस प्रकार आग्रह करता है “बालों में यह कील-गांठ क्या, चिकनी चोटी क्यों नहीं घूँय लेती ? हल्दी क्या मलती है, विभूति लगाते ! और काँछ की साड़ी भी कोई साड़ी है, फुँफदी वाली साड़ी तो पहन। ताड़ के रंगीन पत्तों के कर्णफूल क्या, असली सोने के क्यों नहीं पहनती ?” बेचारी पत्नी भी यह सोचकर कि वही पति पागल न हो जाय, वैसा ही करती, पर पतिदेव यह कहकर अपने दिल में व्याकुल होने कि भैस तो जरूर रेड्डिन की है ‘हालिक—लिकुच-कुच-वेप’, किन्तु वह बात कहाँ ?<sup>३</sup>

ऊपर के वर्णन से ब्राह्मण की रेड्डी-मानी का भी कुछ व्योरा हमें मिल गया है। विशेष व्योरा नीचे के पद्य से मिलता है।

“पोतहार, जोड़े मनकों की नय,  
 फुँफदी वाली साड़ी, ऐंठन वाली तिकड़ी,  
 पाँव की हर उँगली-उँगली विधिमा,

१. जिनमें चार-चार मोती जड़े हों।

२. ‘शुक सप्तति’ २-२४१।

३. वही, २-४५७।

बंगने में बत्तू, दाँतों में पत्ती जड़ी,  
 सहाराता पन्तू, कपोलों पर भुको चोटियाँ,  
 धाँकी, कोयों के कोनों से,  
 प्रागे तक बड़ी हुई पत्रनो काजल-रेखा,  
 जोड़ी-जोड़ी बालियाँ खोने,  
 नाभि-टोका और गने में 'नायु',<sup>१</sup> मले  
 हल्दी-उबटन, चौथो कसमसी,....."<sup>२</sup>

### जंगम स्त्री

"बरगद के दूध से बेंधी हुई जटाएँ,  
 इमली के पात-सा विभूति-तिलक  
 बाँहों पर खदाशों की माला,  
 नागफनी-बंड, कटि से बाँधे तक  
 जनेऊ-तपेट उपरना, ताँबे का छन्ता,  
 साँड घाप और योग की पट्टी"<sup>३</sup>

### मुवामिनी स्त्री

"मुच पर, शरीर पर हल्दी की उबटन, धाँसों में काजल धाँजे  
 मोन सटी कुंकुम की टिकुती या तिलक....."

### वेश्मा-मानी

"पापनामे पर इरहरी साड़ी, धौ' छोड़नी घाधी बाँधे घाधी भूलती"  
 यह थी उनकी पोगाक। मन्दिरों में भगवान् के स्नान के समय मेवा  
 में वेश्माघों के उन्मियन रहने का नियम था। वे भगवान् के लिए भरा दूधा  
 पहा भी ले जाती थी। इने निर्मजन कहते थे। कीटुमेत्तु अर्थात् भगवान्

१. तार का एक गहना।
२. 'मुच सप्तति', २-३३२।
३. वही, २-३२।

के लिए पानी का भरा घड़ा ले जाते समय भी सानी की उपस्थिति आवश्यक थी ।

“कोडुमेत्तु के लिए वेदया-कन्या मन्दिर की ओर चली जा रही है !  
नाभि-तिलक, सुन्दर बेणी, पीछे को खोंसी साड़ी सहारा रही है !  
प्रांचल का सहाराना देखकर भौंचक्का रह जाना पडता है !”<sup>१</sup>

### माष्टी

“पगिया पर पूजा-फूल वाम भुजा पर सांकल,  
लम्बो अस्ति लंबित दक्षिण कर है,  
पेटी में लघु कटार, जनेऊ-सी चादरिया,  
वीर समर-यात्रा की तत्पर है ।”<sup>२</sup>

### प्रजा अर्थात् जन-साधारण का जीवन

उस समय का जो साहित्य हमें प्राप्त है, उसमें बहुत-से शब्द ऐसे हैं; जो शब्द-कोशों में नहीं मिलते । जो मिलते भी हैं, उनमें कुछ के अर्थ प्रमग को देखते हुए ठीक नहीं लगते । साधारणतया जो अर्थ लगाये जा सकते हैं, उनके अनुसार नीचे भिन्न-भिन्न जातियों के घर-बार तथा उनके जीवन का वर्णन दिया जाता है ।

### ब्राह्मण

लीप-पोतकर रगोली डाने हुए चबूतरे बड़े-बड़े दरवाजे छप्पर का बरामदा, ढालिया, छोटे रोशनदान, रसोईघर, घाबे की छत, निवाड के पलंगों वाला मयनागार, जानवरो को बाँधने और चारा गिलाने की जगह, पिछवाड़े में नारियल, नौबू तथा अन्य फलों-फूलों के झाड, मीठे पानी का कुआ, इन सब चीजों के साथ ब्राह्मणों के घरों में हरे तोरणों

१. 'शुक सप्तति', ३-१७ ।

२. वही, ३-५२ ।

के साथ नित नये उनके मनाये जाने थे ।<sup>१</sup>

ब्राह्मणों में बड़े-बड़े जमींदार भी होते थे । उनके साथ 'बाहमन खेती, बान बेशगी' की कहावत लागू नहीं हो सकती । उनके यहाँ भच्छी खेती भी होती थी । बड़े-बड़े बाग-बगीचे भी थे और खेतों में अनाज भरा रहता था । 'शुक सप्तति'<sup>२</sup> में उनका वर्णन यों दिया है :

"साल में वह तीन-तीन फसलें उगाने थे । खेतों को भर देने तापक बड़े-बड़े खेत, बगीचे, सुपारी के पेड़, भंड-बकरियों के रेवड, गन्ने के कोन्हू और ठंके के खेत भी थे । दास-दासी-जन थे । प्यादे-निपाही थे । उनसे घरों की बड़ी-बड़ी चहारदीवारियाँ थीं । घर के अन्दर बड़े-बड़े दानान होते थे । उन पर कोठे और सामने बरामदे भी होते थे । घर के चारों ओर ऊँची-ऊँची चहारदीवारियाँ होती थीं । बरतन तांबे के होने थे । तुलसी का एक छोटा चबूतरा, देव-पूजा, निम्न अन्न-दान, माथे पर तिलक, ये सब उनके सदाचार में शामिल था ।" यह तो खाते-पीने खुशहाल ब्राह्मणों का वर्णन हुआ । अब गरीब ब्राह्मणों की दशा भी सुन लीजिए :

"बाजार में रुपाम की भीख माँगकर, उसके जनेऊ तैयार करना, बरगद के पान साकर उनकी पसल तैयार करना, घर के अगवाड़े-पिछवाड़े साध-भाजी उगा लेना, बाजारों में दुकानों के सामने गिरी हुई गोल मिर्च आदि बोनकर और इन सबको बेच-शावकर गुठारा करना ।<sup>३</sup> सोभी ब्राह्मणों की सन्तान साधारणतया दुराचारी ही निश्चयनी थी ! जोगी-जंगम आदि अन्य भिक्षा-वृत्ति वालों अपवा साधु-संतों को देखकर सोभी ब्राह्मण जल-भुन उठते । पर यही दुराचारी स्त्री-वर्गीकरण आदि जड़ी-बूटियों आदि की बहरत पड़ने पर उन्हीं साधुओं, जोगियों-जंगमों आदि को दिल सोलकर देने भी थे । रात को घरों से निकलकर वे..... और स्त्रिभारियों के साथ घूमा करते थे । पहरेदार पकड़ सते तो बृष्ट

१. 'शुक सप्तति', ३-४७८ ।

२. वही, २-१४५ ।

३. वही, ४-१०६ ।

ले-देकर उनसे पीछा छुड़ाते थे। इस प्रकार गरीब बाह्याणों के बच्चे आवारा हो जाते थे। उन दिनों एक प्रथा थी कि रात में निश्चित समय पर ढोल-उपली बजा दी जाती थी। उसके बाद गाँव की चहारदीवारी का फाटक बन्द कर दिया जाता था। उसके बाद बाहर वाले अन्दर या गाँव के अन्दर वाले बाहर नहीं जा सकते थे। गाँव के अन्दर रात में चौकीदार पहरा देते थे। जो रात के समय घूमता हुआ पकड़ा जाता, सुबह चौपाल में उसकी जाँच होनी और सजा दी जाती थी। आवारा घूमने वाले चौकीदारों को कुछ दे-दिलाकर पीछा छुड़ाते थे।<sup>१</sup>

### रेड्डियों

रेड्डियों को उस समय की रचनाओं में कुबेर-गुप्तों के नाम से याद किया गया है। उन दिनों राज-दरवार में रेड्डियों की सूब आवा-जाही थी, जिसके कारण गमाज में उनका अच्छा मान था। नाज मापने की उनकी रीतियाँ भी चन्दन की बनी होती थी।<sup>२</sup>

रेड्डियों के घरों के सामने एक चौरस चट्टान बिछी होती थी। बबूतरे पर वरामश होना था। घर के चारों ओर एक बड़ी चहारदीवारी होती थी, जो माचारगुप्तवा पत्थर या मिट्टी की बनी होती थी। मह भी नहीं तो कटि का घेग होता और फाटक की दीवार पत्थर की होती। एक बैठक भी होती। एक देवता का चौरा होना और बैठक के लिए मल्लमाला का शब्द आया है। पर 'मल्लमाला' अग्नादे के अर्थ में भी लिया जा सकता है। इनके अन्वावा मुणियों का बाटा और उसके साथ मेसी के सामान, चुषा, दराती, रस्सी, बछिये-बछड़े, दुधारू माय-भैंस और उनके लिए एक अट्टाना, लकड़ी का तग फाटक, पिछसाडे एक बडा-गा चुषा अथवा चाकनी, जिममें उतरने-चढ़ने के लिए पत्थर की मोड़ियाँ बनी होती थीं। (दक्षिण में ऐमे हुए ही अधिक पाये जाने हैं। इनमें मिचार्ड भी होनी

१. 'गुरु सप्तति', ४-१०७।

२. वही, २-४०६।

है। केवल पीने के लिए छोटे होठे हैं और उनमें सीढ़ी नहीं होती।) पिछ-वाड़े में घान और बड़की की बड़ी-बड़ी टेरियाँ लगी होती थीं। वहीं सन को गट्टियाँ भी घरी रहतीं। एक ओर उपजों का घरोड़ा जमाया होता। घर में मोचनी और दूध गरम करने का 'नच बून्हा' होता था (जो फर्ग पर छोटा-सा गडा-भात्र होता है। उनोंने गोबर के उनसे जला दिये जाने हैं और दूध का बगुन चडा दिया जाता है।) यह 'शुक मत्तनि' का बगुन है। 'हरिश्चन्द्र' में लिखा है कि नमी जगह दात्रियों के ठहरने के लिए मंदिर, चौकान पचापनघर, दुकान और ठडे चूने से पुनी बँडके होती थीं। बँडक के लिए यहाँ भी जो शब्द 'मल्लभाता' आया है, उसे मन्नाडा क्यों न समझा जाय ? 'शब्दकोश' में तो इसका अर्थ मोचनालय बताया गया है, जो ठीक नहीं बँचना। तैमलाने में यह शब्द बँडक के लिए भी प्रयुक्त होता है।

रेडियों की स्थितों ज्वार के मैदानों में मवान पर बँडकर मैदानों की समझाती करती थीं, और मट्टू बानकर उनकी शराब बनाती थीं। शराब बनाने की नबकी स्वगन्धना थी। दिन में मोचन के बाद वे चरना काना करती थीं। उनके आसुरगुणों में गले में पीतों की माला, कान में मोने की बानियाँ, हाथ में कडे, पैरों में चाँदी के छप्पे, हाथ में नगदार भंगूठी, निर के बानों में चाँदी या मोने के पंचदार विन्ने आदि थे। पहनावे के सम्बन्ध में लिखा है कि वे 'कूनमन्ना' की माठी पहनती थीं। 'कूनमन्ना' क्या है ? 'कूनों' बच्चे को कहने हैं। मन्नात देने वाली देवी को 'कूनमन्ना' कहा जाता था। दिन स्थितों के बच्चे न होते थे कूनमन्ना की मान बिनादे की छन्दे माठी चडावा चडाती थी, और उनी-को प्रजाद के म्प में इहणु करके पहना करती थीं। 'कूनमन्ना' का प्रचार राजन मीना के अन्दर अब भी है। 'बिजयनीमाला' में भी इसका बगुन मिलता है। इन्ने यही निजयं निजयता है कि तैमलाने में भी



इसकी प्रथा भीजूद थी ।<sup>१</sup>

ब्राह्मणों के सिवा अन्य सभी जातियों में चरखा काता जाता था । (ब्राह्मणों ने अपने को जनेऊ बनाने तक ही भीमित रखा ।) रेड्डी लेनी करते और कपास उगाते थे । इसलिए कताई भी ज्यादा वही करते थे । केवल स्त्रियाँ ही काता करती थीं । पुरुषों की कताई गांधी-युग की उपज है । वे विशेषकर दोपहर के भोजन के बाद चरखे पर बैठती और शाम तक काता करती थीं । वे सौलह नम्बर तक का सूत कात लेती थीं ।

'शुक सप्तति'<sup>२</sup> में कताई का विस्तृत वर्णन मिलता है । चरखे में मालडोर, तस्ती, तक्रिया, तकुआ, खूँटो, पायदान, घुमाने की मुठिया आदि सभी पुरजे होते थे । स्त्रियाँ चरखा कातने बैठती तो बाईं ओर पूनियों का ढेर लगा रगती और दूगरी ओर 'बेपुट्टु गिजन' चर्वन का दाना । लकड़ी की मचिया पर बैठती स्त्रियाँ कातती जाती और नामों से नाने जोड़-जोड़कर कुछ गाती भी रहती । दूधियाँ बातें करती और मुवती बन्पाएँ गाती ।

"रई का काम उठाया" गाना ऐसा मधुर होता, मानो उनके मुख में मधु-धारा बह रही हो । "चरणान्त को पैर से दावती हाथ से पद्ममुखियों ने काता !" पूनी की ढेरी लगाकर, फगल की अर्घान् कडवी के डठनों से रई मेंवारती । बते सूत की घुण्डियाँ बनाती चलती । उम समय उन कापु-स्त्रियों को देखकर आश्चर्यान्वित हो जाना पड़ता था ।

मचिया एक छोटी-भी चौकोर चारपाई होती थी, जिसमें निचाड अथवा दान बुनी होती है । इसमें पीठ भी लगी होती थी, जिससे कातने वाली की पीठ को सहारा रहे । इस मचिता में कुछ शब्द ऐसे हैं जिनके अर्थ शब्द-कोश में नहीं मिलते ।

### होटल

होटलों को अधिचतर विधवाएँ चलाया करती थीं । उनमें भी

१. 'वैजयन्ती माला', १-३-१०० ।

२. 'शुक सप्तति', २-४२०-४ ।

शास्त्रगिर्या ही अधिक होर्की थीं । होटलों में जगह-जगह और प्रान्त-प्रान्त के मानी, कवि, गायक, व्यापारी और नौकर-चाकर ठहरते थे । 'मिनुकु' (पंगा) देकर गाया-बिया करते थे । काश्मीर-काल में ही ये होटल प्रायः खोरी तथा व्यभिचारियों के लिए अट्टों का काम देने थे ।<sup>१</sup>

### कोमटी (वनिया)

कोमटी को 'गौरा' भी कहा जाता था । यह यान तीगरे अध्याय में आ चुकी है । 'शुक सप्तति' में कही-कही इग शब्द का प्रयोग हुआ है । वनियों में अथवा गुरुओं के नाम 'गौरव्या' और स्त्रियों के नाम 'गौरमा' होने थे । कोमटी स्त्रियाँ वानों में लाल जड़े बगंफूल और हाथों में धेनुदुध अथवा सीराजी बगन पहना करती थीं । ये काल या तो सीराज में घाते रहे होंगे या नमूना सीराजी रद्दा होंगा । माड़ी प्राय गोपनी (कूतदार) आयन की होती थी । व्यापार ही वनियों की विशेष वृत्ति थी । माधारणतया ये धनी होते थे । किन्तु कवियों ने उन्हें प्रायः सोभी कहा है । हेमुनवाडा भीम कवि ने कोमटियों की इग प्रकार गानियाँ गुनाई हैं :

"बया मिला दिधाना को कोमटी बनाने में ?  
 कुगिन है मुट्टि, भूटी थटा, भूटी घाते,  
 कपट हनुनि इनही, घौ' सदा परधन पर घाते,  
 प्रथ में विप्रथ में अंड-अंड दफ-घाते हैं,  
 घालें, दल, घोले, जाल, कपट भी लाले हैं,  
 कोमटी को एक बेके दग लो लो पाव नहीं,  
 बोव नहीं उगके घर घाव भी लगाने में !"

ऐसे भीम कवि पर एक और कवि ने वनियों के साथ वक्षान करने का आरोप लगाया है और यह कहते हैं :

१. 'शुक सप्तति' १-११६-४६ तथा 'वीरभिराममु' ।

इसकी प्रथा मौजूद थी ।<sup>१</sup>

ब्राह्मणों के सिवा अन्य सभी जातियों में चरखा काता जाता था । (ब्राह्मणों ने अपने को जनेऊ बनाने तक ही सीमित रखा ।) रेड्डी खेती करते और कपास उगाते थे । इसलिए कताई भी ज्यादा वही करते थे । केवल स्त्रियाँ ही काता करती थी । पुरुषों की कताई गांधी-मुग की उपज है । वे विशेषकर दोपहर के भोजन के बाद चरने पर बैठती और शाम तक काता करती थी । वे सोलह नम्बर तक का सूत कात लेती थी ।

'शुक सप्तति'<sup>२</sup> में कताई का विस्तृत वर्णन मिलता है । चरने में मालडोर, तल्लो, तबिया, तकुआ, गूटो, पायदान, घुमाने की मुठिया आदि सभी पुरजे होने थे । स्त्रियाँ चरवा कातने बैठतीं तो बाई और पूनियों का ढेर लगा रगती और दूमरी और 'विपुट्टु गिजन' चढ़ने का दाना । लकड़ी की मचिया पर बंटी स्त्रियाँ कातती जाती और नामों से नाने जोड़-जोड़कर कुछ गाती भी रहती । छूटियाँ बानें करती और मुबली बन्ध्याएँ गाती ।

"हई का काम उठाया" गाना ऐसा मधुर होता, मानो उनके मुख में मधु-धारा बह रही हो । "चरणाम्र को घेर से दावती हाथ से पद्ममुखियों ने काता !" पूनी की ढेरी लगाकर, फगल की अर्थात् बडवी के डटलो से रई सँवारती । कते सूत की पुण्डियाँ बनाती चलती । उस समय उन बापु-स्त्रियों को देववर आश्चर्यान्विन हो जाना पड़ता था ।

मचिया एक छोटी-सी चौकोर पारपाई होती थी, जिसमें तिवाड़ अथवा बान चुनी होती है । इसमें पीठ भी लगी होती थी, जिससे कातने वाली की पीठ को सहारा रहे । इस बबिना में कुछ शब्द ऐसे हैं जिनके अर्थ शब्द-कोश में नहीं मिलते ।

### होटल

होटलों को अधिकतर विधवाएँ चलाया करती थी । उनमें भी

१. 'वंजयन्तो माला', १-१-१०० ।

२. 'शुक सप्तति', २-४२०-४ ।

ब्राह्मणियाँ ही अधिक होती थीं। होटलों में जगह-जगह और प्रान्त-प्रान्त के यानी, कवि, गायक, व्यापारी और नौकर-चाकर ठहरते थे। 'मिनुकु' (पैसा) देकर खाया-पिया करते थे। काकतीय-काल से ही ये होटल प्रायः चोरों तथा व्यभिचारियों के लिए ब्रह्मों का काम देते थे।<sup>१</sup>

### कोमटी (वनिया)

कोमटी को 'गौरा' भी कहा जाता था। यह बात तीसरे अध्याय में आ चुकी है। 'शुक सप्तति' में कही-कही इस शब्द का प्रयोग हुआ है। वनियों में अक्सर पुष्टियों के नाम 'गौरम्या' और स्त्रियों के नाम 'गौरम्मा' होते थे। कोमटी स्त्रियाँ कानों में लाल जड़े बरगणफूल और हाथों में चकट्टु अथवा शीराजी कगन पहना करती थी। ये कगन या तो शीराज से घाते रहे होंगे या नमूना शीराजी रहा होगा। साड़ी प्रायः पोप्ली (फूलदार) आँचल की होती थी। व्यापार ही वनियों की विशेष वृत्ति थी। साधारणतया वे धनी होने थे। किन्तु कवियों ने उन्हें प्रायः लोभी कहा है। वेमुलवाडा भीम कवि ने कोमटियों को इस प्रकार गालियाँ सुनाई हैं :

“क्या मिला विधाता को कोमटी बनाने में ?

फुरिसत है बुद्धि, भूठी अढ़ा, भूठी बातें,

कपट स्तुति इनको, घी' सदा परधन पर घातें,

क्रय में विक्रय में अट-शंट दकवासों हैं,

घातें, छल, घोसे, जाल, कपट भो खासे हैं,

कोमटी को एक देके इस लो तो पाप नहीं,

दोष नहीं उसके घर आग भी लगाने में !”

ऐसे भीम कवि पर एक और कवि ने वनियों के साथ पशुपान करने का आरोप लगाया है और वह कहते हैं :

१. 'शुक सप्तति' १-११६-४६ तथा 'वीड़ाभिराममु' ।

“वाह भीम कवि, कवि सार्वभौम होके भी  
कोमटी के साथ तूने किया बड़ा पक्षपात !  
यह क्यों कहा कि एक देके दस लिये जायें ?  
एक भी न देके दस लेना, मान मेरी बात !  
धर्मशास्त्र का है आदेश यही धर्म, तात !”<sup>१</sup>

कवि मल्हण ने एक वनिये के मुँह से कहलवाया है

“देव-बेवियों को नमस्कार हमारे छूँछे,  
पूजा में कभी एक पाई न चढ़ाते हैं  
गायक-कवि आके बखान करते हैं तो  
देने के डर से चुपके से खिसक जाते हैं,  
इपर-उधर की कहके सम्बन्धी टरकाते,  
राही-बटोही मुझमे घोखा ही पाते है,  
दास-दासी जन आते, काम कर जाते,  
हम सताते, खटवाते, फूटी कौड़ी न दिखाते हैं !  
बहाराक्षसी हो, डाकिनी हो, शाकिनी हो,  
हम हाथ जोड़ लेते, और घाल से न देते हैं,  
बम्हन को गाय, साँप-मजरी को बलि की  
बलाय कहीं मेरे सिर आये नहीं, चेतें हैं  
दाने उड़ जाने के डर कभी न जूटें हाथ  
कौए उड़ाते, चाट-चूट लिये लेते हैं  
तिस पर भी लोग कहें जीने का मौल नहीं  
मूल रहे हम तो श्राज पर ही जिये लेते हैं ।”<sup>२</sup>

परन्तु ऐसी कविताएँ कुछ पक्षपात में भरी हुई हैं । अथवा तिल्पग्या के समान दानी वनिये भी कई थे ।

ईधन की बिक्री भी उन दिनों हुषा करती थी । ईधन के गट्टर पर

१. ‘चाटुपचमजरी’, १०१-२ ।

२. ‘मल्हण चरित्र’, अ० २, पृ० ३५-६ ।

सरकारी चुङ्गी लगती थी। चुङ्गी भर देने पर ही कुल्हाड़ी के साथ जंगल में घुसने की अनुमति मिल सकती थी। एक लकड़हारे का वर्णन मुनिये :

“कमर में लंगोटी है, लंगोटी की अंटी में चुङ्गी की कौड़ी है,  
कंधे पर दंभी कुल्हाड़ी है और जाल की एक छोटी-सी तौड़ी है,  
जाल के उस थंले में रोटी और पानी की तुम्बियाँ हैं लौकी की,  
जंगल को लपका बड़ा वह लकड़हारा, मजबूत चप्पलों की जोड़ी है।”

### वेश्या

वेश्याएँ बुध और सनीचर को मिर और सारे शरीर में तेल मलकर सिर-स्नान करती थी। चिकनाई को हटाने के लिए उडद के घाटे की उबटन मलती थी। सिर के बालों में नींबू और सीकाफाई का प्रयोग भी करती थी। फिर बाल साफ करके नये या घुने कपड़े पहनती और आभूषण आदि मँवारती थी।<sup>१</sup> गरीब लोग चिकनाई को दूर करने के लिए अम्बली अथवा गटका मलते थे।<sup>२</sup> पानी में आटा घोलकर घरेलू गमीर के साथ गटका परोया जाता है। (गरीब लोग दोनों जून इसीसे पेट भरते हैं।) वेश्या मुवतियाँ पहले मदिरो में भगवान् के सामने नाच-गाना करने के बाद ही उसे अपना पेशा बनाती थी।

“डोई पिटी नगर में : नलिणुत्तल पुष्पगंधी’

प्रथम बार शिव के आगे नाचे-गायेंगी !”<sup>४</sup>

वेश्याओं के शयनागार अत्यन्त आकर्षक होने थे :

है निवार का पनेंग, सेज फूलों की है,

रेडम के तकिये, सोने की नागफनी,

१. ‘शुक सप्तति’, ३, २४५ ।

२. ‘वैजयंती विलासमु’, ३-५१ ।

३. ‘शुक सप्तति’, २-३७८ ।

४. ‘मल्हण चरित्र’, पृ० ३१ ।

काँसे की समई, दीवट, गजदंत की  
मुघड़ खड़ाऊँ की जोड़ी मनभावनी,  
ऐसी सज्जा होती है रतिधाम की ।”<sup>१</sup>

### गर्भियों में गहगीरों की यातनाएँ

जो लोग गर्भियों में यात्रा पर निकलते थे, वे यात्रा की बठोरता कम करने के लिए अपने साथ में ये सामान रखते थे—गाँठ में इमली और दक्कर, कंधे पर दही-चावल की गठरी, जिममें इलायची, गोल-मिर्च, अदरक, सोंठ और नमक पड़े होते थे। सिर पर करज का पत्ता बांधे रहते थे। इस पत्ते की तासीर ठंडी होती है, लू नहीं लगती। दाहिने हाथ में पानी की लुटिया, दूसरे में पत्ता। दोनों पैरों में मजबूत चप्पलें। (चप्पल के लिए जो शब्द प्रयुक्त हुआ है, उससे ऐसा लगता है कि जिस प्रकार अँगरेजों में बारूद बंद होते थे, उसी प्रकार चप्पलों में भी तत्वों में कुछ चाम के डोर निकले रहते थे, जिनको पाँवों में बस लिया जाता था।) इस प्रकार यात्री कड़ी धूप में थक-थककर ऊब-ऊबकर चला करते थे। करज का पैदा हर जगह नहीं मिलता। दक्षिण में तडवड का पाँधा बहून होता है। सतों में काम करने वाले मजदूर धूप में इसकी पत्ती सिर पर बाँध लेते हैं। इसमें भी लू नहीं लगती। इस पद्य में कवि का स्वानुभव अथवा लोकानुभव टपकता है। कुछ भले लोग रास्तों में प्याऊ बनवा देते थे, जिनमें पानी के साथ बहो-बहो गाने की चौड़े भी दी जाती थी। इन प्याऊओं पर पानी पिलाने वाली स्त्रियाँ होती थीं। कविधों ने इन स्त्रियों को ‘प्रदानिका’ कहकर इनका सुन्दर वर्णन दिया है, और कुछ छेड़-छाड़ भी की है। एक कवि कहता है -

“काम अहेरी ने प्याऊ पर धड़े भर रसे  
पास बिछेर दिया प्रपालिहार्यों का चारा,

१. ‘शुक सप्तति’, ४-२२। दे० ‘मल्हण चरित्र’, पृ० ४६ भी।

जाल बिछाये उनके नैनों की चितवन के  
 वचता हिरन बटोही भी बर्योकर बेचारा ?”<sup>१</sup>  
 इसी प्रकार वर्षा-काल के यात्रियों का भी वर्णन मिलता है :  
 “फंसे कीच में भून राहें, पुकारा किया—  
 जानकारी किसी और को हो, धता दे  
 विनी राह तो पैर किसले कि काली मिली राह माटी,  
 नजर भी घता दे  
 गई सामने के भुकोरे पड़े जब, बिबट वीगरीं के, भुक्काना पड़ा सिर;  
 लिया आसरा पेड़ का, पर बरसने लगा मेंह चमते ही वह आप  
 हिर-फिर,  
 न ‘गूडा’<sup>२</sup> किसी काम आया, न ही चप्पन पांव से हाथ में आ—”<sup>३</sup>

### ताबीज

ताबीजों का प्रचार आभूषणों के रूप में हो गया था। गले में ताबीज  
 कमर में ताबीज, कलाई पर ताबीज, बाजू पर ताबीज, यहाँ तक कि  
 मिर के बालों का भोंटा बांधकर उसके चारों ओर ताबीजों की माला  
 लपेट दिया करने थे।<sup>४</sup>

### राजा का शिकार

राजा जब शिकार में जाने चलता तो नौकर-चाकर तरह-तरह की  
 शिकार-नामशे साथ लिये चलने थे। कुछ सामान ये हैं—जाल, फंसे,  
 सिरछी लकड़ी, शूकरभोंक, परदे, कतदार रस्से, पिजड़े, पांव के फंदे,

१. ‘चंद्रमानु’, १-१६१-२।

२. ‘गूडा’ = सरपत की छत्रो, छान-सी, दे-रो चटाइयाँ जोड़कर  
 बनाते हैं।

३. ‘चंद्रमानु’, ५-३६।

४. ‘शुक्र सप्तति’।



गले के कांटे, बसि, गोरकल, तेरल, मिडिविन, बडगुल, सीग, पादु, बल्लेताड (एँठो हुई रस्सी), छड़ों की टट्टी। हिरन के लिए सीग की फाँसी लगती थी। बाज भी साथ रहते थे। चार-पाँच प्रकार के अलग-अलग जाति के शिकारी कुत्ते भी साथ रहते थे। कुत्तों के नाम पुट्टुचडु, चिम्बोनु, तुपाकी, तुटारी, लकोरी आदि थे। शिकारी पोशाक में सारा राज-परिवार चल पड़ता।<sup>१</sup> 'साम्बोपाख्यान' में ऐसे वर्णन मिलते हैं।<sup>२</sup> 'शुक सप्तति' के अन्दर दूसरी कहानी में शिकार का विस्तृत वर्णन है।

### घड़ी-घण्टा

घड़ी-घण्टे का प्रचार काफी था। चौपाल पर, राजमहल के फाटक पर घड़ी के हिनाव से घण्टे बजाये जाते थे। 'साम्बोपाख्यान'<sup>३</sup> के अनुसार दोपहर का घण्टा 'महासबुलाय' के साथ बजा। इससे विदित होता है कि उस समय ये काफी थे।

### तेलुगू पर तमिल का प्रभाव

वैष्णव-सम्प्रदाय के साथ-साथ ग्राम्य देस में उस सम्प्रदाय की जन्मभूमि तमिलनाड के शब्द भी आ गए। उन शब्दों को धार्मिक महत्त्व प्राप्त हो गया था। ग्राम्य के वैष्णवों में भी आज विशेष वस्तुओं के लिए विशेष तमिल नाम ही बोले जाते हैं। जैसे तिरुवट्टे (भग्न), तिरुमाले (मन्दिर), तिरुवजन (स्नान), तिरुवैणुकु (दिया), तिरुपण्णारम् (पुरी), तिरुमणि (तिलक), सापाट्टु (भोजन) इत्यादि। यदि ऐसे शब्दों का प्रयोग न करें तो समझा जाता है कि उनका वैष्णवत्व अपवित्र हो गया, वैष्णवत्व ग्राम्य के लिए तमिल दामता तो नहीं ?<sup>४</sup>

१. 'चंद्रभानु', २-२१, २४।

२. वही, दे० आश्यास २, पृष्ठ ३-२५।

३. वही, २-४८।

४. 'वैजयन्ती माता', २, १०५, १२०, १२१।

'विश्वामय्यर रात्रि' तेलुगू भाषा की पुस्तक है। फिर भी उनमें बहुत सारे ठमिन शब्द प्रयुक्त हैं। जैसे—तिरुवीरुनु, तिरुनादुनु, तिरु-पदेरुनु, गंडा दडा, (५,२,१२)। श्री वैष्णवों के लिए गड्डवडा, तिरुमणि पेट्टी, विम्बानगरडी (ढलिया), कादिवेष्टि (घोटी), हिरन का चमडा उच्चंभून्डु कंगुनुन, तुनर्त्तानात्ता, दवित्रम्, कुगन्तररम् आदि विशेष सामन हैं। शब्द दविन शक्त है। अमल में यह 'दवित्र' है, जिनके माने हैं हिरन के चमडे से बना हुआ पंखा।

दासरी नानी की पोगाक में चाँची कहेंगे और उन पर धूँघट ने डकी 'पैलक मुद्रा' का उल्लेख है।<sup>१</sup> 'पैलक मुद्रा' शब्द-योग के अन्दर नहीं है। किन्तु एक दूसरे कवि ने दासरी नानी का वर्णन इन प्रकार किया है :  
"चोटी धूँघट और उमे लोरे से कस्तकर !"

सम्भवतः यही पैलक मुद्रा है।

### पान और पानदान

पान खाने खाने पानदान भी रखते थे। पानदान चाँदी, पीतल या तंबू के होते थे और उन पर उनमें जँची धातु से जानी का काम किया होता था ! कल्पे को केबड़ा जल के साथ पीसकर गोलियाँ बना ली जाती थीं। कस्तूरी और कपूर भी पान में पड़ते थे।<sup>२</sup>

घनी नाग खनेली के तेल को सिर में मलने और उड़द के भाटे से रगड़कर स्नान करने में।<sup>३</sup>

### 'मच्छली-मार'

'मच्छलीमार' एक दवा होती थी। एक जंगली पेंड, जिसे 'गारा' कहते थे, उसे पीसकर नानी, ताजाबों और कुम्हों में डालने पर मारी

१. 'विश्वामय्यर रात्रि', २-२७।

२. 'मच्छर रात्रि', १०-४५।

३. 'वैश्वदेवी त्रितातनु', ४-५६।

मछलियाँ उसके अंगर से भरकर पानी पर तैरने लगती थी ।<sup>१</sup>

### पुरस्कार

पण्डितों, विद्वानों, कवियों, नर्तकों, गायकों तथा वेश्याओं की कलाओं से प्रसन्न होकर राजा उन्हें पुरस्कार दिया करते थे । वस्न, आभूषण के साथ ११६ या १११६ 'वरहा', 'माडें' आदि पुरस्कार में दिये जाने थे । एक सौ सोलह की सख्या की शुभता तेलुगू की एक प्राचीन परिपाटी है ।<sup>२</sup>

### भोजन

पिछले अध्यायों में भोजन के विषय में बहुत-कुछ लिखा जा चुका है । उस समय भी वही भोजन प्रचलित थे । 'साम्बोपाख्यान' में लिखा है कि भोजन के समय माले-रहनोई आपस में व्यग्य किया करते थे ।<sup>३</sup> भोजन के समय पहले घी तथा अन्य मीठे पदार्थों से चावल खाने थे । उसके बाद पत्तली दाल अथवा 'रसम'-जैसी पत्तली चीजों के साथ खाने थे । और अन्त में दही-चावल खाने थे । मासाहारी लोग माम खाने तथा मास वा शोरवा आदि पीते थे । गेहूँ के आटे, दाल और घी के साथ 'कुडुमुलु' आदि अनेक भक्ष्य पदार्थ बनाये जाते थे ।<sup>३</sup>

'शिवरिणी' की प्रशंसा भी आती है । लेकिन शब्द-कोश में इसके अर्थ मिलत हैं । 'विक्रमावंशीय' के तृतीय अंक में लिखा है कि "ग्रहमपि यदा शिवरिणी रसालञ्च न सभेत देतत् प्रार्थयमानः संकीर्तयन्नाऽनसिभिः" (मुझे भी जब तक शिवरिणी और मीठे आम न मिले तब तक मेरा मन नहीं भरता है.....) । इस शिवरिणी की व्याख्या रमनाय पण्डित ने यों की है :

१. 'संजयन्ती विलासमु' २-१४० ।

२. यही, १-१३२ ।

३. 'साम्बोपाख्यान', अ० ५-२६६, ३०३ ।

“एला ख्वंग कर्पूरादि सुरभि द्रव्य मिश्रितम् बाधेन सह गलितम्, सिता संगतम्, दधिशिखरिणीत्युच्यते दध्यतिरिवत पूर्वोक्त द्रव्यमिश्रितः पक्व कदली फलम् तत्सारोऽपि तत्पदवाच्यः !” अर्थात् इलायची, लौंग, कपूर आदि सुगन्धित वस्तु दूध या दही में मिलाकर, शक्कर के साथ कपडहन करके शिखरिणी तैयार की जाती है। दही की जगह पके केले के गूदे के सत को मिलावे से भी शिखरिणी बनती है। भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में इन शिखरिणी को भिन्न-भिन्न पद्धतियों से बनाते हैं। महाराष्ट्र में दही को कपडे में बाँधकर लटका देते हैं। पानी सारा निचुड जाने के बाद एक बड़े भगौने के मुँह पर कपडा बाँधकर उसमें दही को छोड़ देने हैं और शक्कर, इलायची, लौंग, जायफल, जेंतरी, केसर आदि मिलाकर कपडे में छानने हैं। यही श्रीरुण्ड कहलाता है। रायल सीमा और तेलगाने में अमरस में उक्त मुगन्धियाँ मिलाकर उसे शीखरिणी कहते हैं। ‘वाल्मीकि रामायण’ में कहा है “रसात्स्पर्दघ्नः”। भारतवाज ने जब रामचन्द्र जी को भोजन करवाया तब उसमें यह भी था। व्याख्याताओं ने कहा कि दही को मिर्च, सोंठ, अदरक, जीरा आदि डालकर छोक दिया गया था। वह भी शिखरिणी ही तो नहीं थी? अम्बली अथवा गटका नाम पहले कई बार आया है। आटे को पानी में पतला पकाकर गरीब खा लेते हैं, यही अम्बली है। पर ‘पाटुरंग माहात्म्य’, ‘साम्बो-पान्थान’ और ‘ग्रामुक्त मान्यदा’ में भी दावत की सामग्री में ‘अम्बल्लु’ (‘अम्बली’ का बहु वचन) का प्रयोग आया है। यह जवार या रागी की अम्बली नहीं, बल्कि खीरे की जाति का कोई लेह्य पदार्थ है, जिसमें इलायची आदि मिलाने की बात भी नहीं गई है।

खड़ाजें भी कई तरह की बनती थी। वैष्णवाचार्य चदन की खड़ाजें पहनते थे।<sup>१</sup> राजा हाथी-दाँत की सड़ाजें पहनते थे।<sup>२</sup>

१. अयोध्या कांड, श्लोक ६१-७।
२. ‘विप्रनारायण चरित्र’।
३. ‘शुक सप्तति’, १३-७०।

## ओली अथवा मेहर

'ओली' एक प्रकार का स्त्री-धन है। वनियों में इसकी प्रथा अधिक प्रचलित थी। एक वनिये ने कहा है कि "मैंने अपनी पत्नी को १०० माँड की ओली दी।"<sup>१</sup> शूद्रों में साधारणतया १० माँड ओली में दिये जाते थे।<sup>२</sup>

## मालिश

तेल की मालिश करके जीविका कमाने वालों की एक जाति थी। एक कविता है

"मालिश करने घर-घर जाकर  
खेत-खेत की दौड़ लगाकर  
साग-पात चुन लाता,  
उत्तरन के फटे-चिटे कपड़ों को  
बेलटके यह सगे सगों को  
दाँत निपोर दिखाता,  
नित्य किरण से पहले जाकर  
नित्य किरण से पीछे छा घर,  
रात का रखता नाता".....<sup>३</sup>

## कालीने, कनातें

धनी कान्नीनों पर बैठ कर ले ये,<sup>४</sup> सदियों में 'बुनीम' (मुलायम ऊनी चादर) ओढ़ा करते थे।<sup>५</sup> ये शब्द कोश में तो नहीं है, किन्तु

१. 'शुक सप्तति', २-६१।
२. वही, ३-१३६।
३. वही, २६२-३।
४. वही, १-२६२।
५. वही, २-२६-६५।

तेलगाने में अत्र भी कहीं-कहीं प्रचलित हैं ।

व्यभिचार, चोरी, नीच जाति के साथ खाने-पीने या नाता जोड़ने आदि के अभियोग में लोगों को विरादरी से निकाल बाहर किया जाता था ।<sup>१</sup>

मुद्र रोकने अथवा मुनह करने के लिए हारने वाला पक्ष 'धर्मदारा' धारण करता था, अर्थात् नारसिंघी बजाता था । इस पर दोनों पक्ष मुद्र रोक देते थे । 'क्रीडाभिरामम्' की भांति 'शुक सप्तति' में भी :

“विरही ने ....”

धर्मदारा की तरह की मुर्गे की बांग सुन,

सवेरा होने की सूचना पाई !”<sup>२</sup>

मजाएँ

क्रजंदारो के बारे में पहले कह चुके हैं कि उन्हें धूप में खड़ा कर दिया जाता था । इसे 'पोगड दडें' कहते थे ।<sup>३</sup> धूप में खड़े अपराधी के चौगिदं, जमीन पर लकीर खींच दी जाती और कह दिया जाता कि उसमें बाहर न रहे ।<sup>४</sup>

चोरो को पकड़-पकड़कर एक बत्ती के साथ खड़ा किया जाता था और उनके हाथ-पैर, उस बत्ती में लगी दो-दो सूट्टियों के छेदों में उतार-कर बम दिने जाते थे । और फिर धूप में खड़ा या पड़ा डाल दिया जाता था । इसे 'वोंडाकोम्पा' कहते थे ।<sup>५</sup>

मुद्रागिन के मरने पर कहा जाता था कि वह कड़े के साथ स्वर्ग मिथारो ।<sup>६</sup> उम कड़े की इतनी ऊद्र थी कि पुरण के दूमरी शारी करने

१. 'शुक सप्तति', २-१३६ ।

२. वही, ३०३ ।

३. वही, २-१६ ।

४. 'वंजयंती विलासधु', २-२४३ ।

५. शुक सप्तति, ३-२०४ ।

६. वही, ३-३३७ ।

पर, नई स्त्री के दाहिने हाथ में एक पतला कड़ा पहना दिया जाता था, जिस पर दो बिंदियाँ बनी होती थी ।

नम्बी जाति के वैष्णव मंदिरों के पुजारी होते थे । वे अपने घरों और मंदिरों में पीले, लाल और उजले कनेर लगाते थे । वे लोग उनके फूल धनी स्त्रियों के घर पहुँचाकर बदले में कुछ पा जाते थे । “ग्राम-नम्बी को खालच देकर फूल मंगा लेना” अथवा “पके बालों में नम्बी के फूल गूँथना” आदि उक्तियाँ इस बात की सूचक हैं कि नम्बी का पेशा फूल पहुँचाना ही था ।<sup>१</sup>

सतो-यतियों के जीवन के सम्बन्ध में कहा है :

त्रिकाल-स्नान, इष्ट पूजन, ध्यान-मनन,  
पोथी-पठन, भीख का भोजन और हरे का सेवन,  
मृगछाला-शयन—यती के लच्छन ।<sup>२</sup>

यहाँ पर हरे खाने की बात आ गई है । आयुर्वेद में हरे को बड़ा महत्त्व दिया जाता है । “दसमाताहरीतकी” (यस्य माता गृहे नाम्नि, तस्य माता हरीतकी) आदि उक्तियाँ इसकी प्रामाणिकता को घोषित करती हैं । हरे बड़ी लाभदायक वस्तु है । कहते हैं कि शक्र की चाशनी से हरे का मुरब्बा तैयार करके, रोज एक हरे के हिमाय से छः मास तक खाते जायें तो सिर के पके बाल भी काले पड़ जाते हैं । पर यह भी कहा गया है कि यह पुम्ब के लिए हानिकारक होता है । यहाँ पर यति का हरे-सेवन कदाचित् इसीलिए हो ।

ब्राह्मण के घरों में दूँटीदार लोटे होने थे । ‘द्वारावतिगलति’ ।<sup>३</sup> आज-कल ब्राह्मण लोग मिट्टी के बरतन नहीं बरतते । वेद-काल में मिट्टी के बरतन ही अधिक होते थे । ‘मृण्मयमृदेवराश्रम्’ (देवताओं के बरतन मिट्टी के होते हैं ।) । आज तक शुभाशुभ कार्यों में मिट्टी के पात्र ही के बरतने

१. ‘शुक सप्तति’, २-४३५, ४८७ ।

२. वही, ३-५४५ ।

३. ‘वाङ्मयं माहात्म्यम्’ ।

की विधि चली आ रही है। तेनाति रातहृत्पा के समय में ब्राह्मण-धरो में रनोई अधिकतर मिट्टी के पात्र में ही बनती थी। किसी ब्राह्मण के घर कोई ब्राह्मण अतिथि पहुँचा। ब्राह्मणी ने दरतन भरकर पकाया और उसके भागें घर दिया। भूमे अतिथि ने नारा भोजन सफाचट कर डाला। तब ब्राह्मणी ने अपने पति के लिए, जो गाँव से बाहर कहीं गया हुआ था, मिट्टी के एक बरतन में जो खाना रख छोड़ा था, उसे भी मिट्टी की एक रखावी में लाकर उसके भागें परोस दिया था।<sup>१</sup>

निगम शर्मा की गणना भ्रान्धों में की जाती है। उनकी बहन ती पक्की भ्रान्धाणी थी। उसकी समुराल भ्रान्ध में थी। इनके पिता कलिंग देश के भ्रन्तगंत पीठिचापुर के एक प्रनिष्ठित व्यक्ति थे, किन्तु निगम शर्मा ने व्यक्तिचारी बनकर अपने पिता की सारी सम्पत्ति बरबाद कर डाली थी :

“दिन-भर के खर्च के लिए वह अपने शरीर पर के सोने-चाँदी के गहने ‘वस्त्रि’ नामक स्त्री के घर रहने रख देता। माता के शरीर से भी रोज थोड़े-थोड़े करके सारे गहने लेकर खरच डाले। पिता के कागज़-पत्र भी चुरा-चुराकर बेचता रहा और उनसे साहूकारों से ध्याज पर रुपये ले-लेकर कर्जदार बन गया। सेतों की टोके पर दे डालता। अपने बेटे निगम शर्मा की यह दशा देखकर पिता व्याकुल हो उठते कि न जाने उसकी क्या दुर्गति होने वाली है !”

उन दिनों ब्राह्मण-धरो में प्रायः पुस्तकालय होने थे। हर्ष ने अपने ‘नैपथ’ में भी इनकी चर्चा की है। ‘भूर्खान्ध रूपपतिनादिब पुस्तकानाम्’ (मूर्ख रूपी अंधेरे हुए में पुस्तकों के पड जाने के समान.....)। निगम शर्मा की बहन अपने पुस्तकालय को अपने पति के द्वारा दूनरो को दिये जाने, जल जाने, खुन जाने, कौड़ों द्वारा खाये जाने या भाँग ले जाये जाने आदि उपद्रवों से बचाये रखती थी। ताड़-पत्तों पर लिखे ग्रन्थों के लिए अग्नि, सिधिलता, कीड़े और वाचक मुख्य शत्रु हैं। एक दिन निगम

१. ‘पाण्डुरग माहात्म्यम्’, ४-१७२।



शर्मा भोजन के लिए वहन के पास गया। वहन ने अपने बच्चे को भाई के हाथ में देते हुए कहा कि कहीं जाते हो, भानजे की गोद में ले लो, वहनोई के साथ भोजन कर लेना ! खाने के बाद जब उसके छोटे-बड़े बच्चे चारों ओर से उसे घेरकर गडबड कर रहे थे, तब वह अपने भाई के पास जा खड़ी हुई और उसके सिर के बालों का शिखा-बन्धन खोलकर स्नेह-सीत्कार के साथ जूँघो के अण्डे परत-परतकर निकालने लगी। निकालती जाती और अंगूठों के नाखूनो के बीच दबाकर फोड़ती जाती। फिर अपनी अँगुलियों के नाखूनो के सिरों से कषा करके उमके बालों को फटकार दिया और गले के मँल को मल-मलकर निकाला। फिर मूब मल-मलकर उसके हाथ धुलाये। इतने में भावज भी आ पहुँची। एक हाथ में पान का बीड़ा धमाते हुए वह हमरे हाथ से स्वर्ण-रचित पत्ता भलती रही। नौकरानों ने पीड़ा ला रखा और वह उस पर बैठ गई। उस समय वह ऐसी लगती थी, मानो पद्मकणिका पर साधान् लक्ष्मी जी विराज रही हो। उसकी गोदी का बच्चा दाहिनी ओर जरा निरछा बैठा माँ के स्तन से दूध पीने लगा। धीरे-धीरे वह कमलनयनी अपने भाई में कहने लगी : “बयों भैया, जिस वेदाध्ययन का तूने अभी-अभी आरम्भ किया है, उसमें यहीं बाधा न हो, शापद इसी विचार से तेरा इपर आना-जाना बन्द हो गया है। कितने दिन बीत गए, तुझे देखने को अखिँ तरसती रहती हूँ। कमल के सभान, मेरे यह नयन रोते-रोते सूज गए हैं। तुम्हारे वहनोई भी तुम्हारे आगमन की कामना बँते ही करते रहते हैं, जैसे समुद्रराज बन्द्रमा के आगमन की।”

इस प्रकार निगम शर्मा की वहन अपने भाई के दुराचरण से मतस-हृदय होकर कहने लगी :

“भैया ! शगमगाकर चलने वाले माता-पिता, चल न पाने वाले छोटे-छोटे बच्चे, यह नई दुलहिन, ये धेजूवान गोएँ, नौकर-चाकर, तुम्हें छोड़-कर और कहीं जाये ? इन सबका भार तुम्हारे सिर है। टोक उती प्रकार जैसे महाभारत की सारी कहानो कर्ण (कुन्ती-पुत्र) पर निर्भर है।”

इसी प्रकार उस बहू ने भाई निगम को करणा-भरे अनेक उपदेश दिये । सारा-का-भारा प्रकरण उस समय के ब्राह्मण-बुद्धि का सुन्दर वर्णन है । 'निगम शर्मा उपाख्यान' उत्तम कोटि का रसोपेत ग्रन्थराज है । यह हमारे सामाजिक इतिहास के लिए अत्यन्त उपयोगी है ।<sup>१</sup>

साँप के डसने पर जहर उतारने के कई उपाय थे । साँप ने शरीर के जिम भाग पर काटा हो, वहाँ दुरे में घाव लगाकर रक्त बहा देने थे । घड़ों में पानी भर-भरकर मन्त्रों का उच्चारण करने जाते थे, इत्यादि इत्यादि ।<sup>२</sup>

वैकटनाय के इस 'पंचतन्त्र' में अनेक ऐसे विषय हैं जो मूल मस्कृत 'पंचतन्त्र' में नहीं हैं । इन्हीं नये विषयों की कुछ चर्चा यहाँ पर करेंगे । जाडो में लोग कैमं निर्वाह करने थे, इसका बहू न ग्रन्था वर्णन वैकटनाय ने किया है । कहते हैं : "जाड़े के आगमन पर पान, सोंठ, अमरघूप (तोदान) कम्बल और मोटी चादरें लोगों को प्रिय हो उठती थीं । कोदों का भात, सूखी फली की तरकारी, गाय का धी और दही-भात साय बांधकर रेड्डी खेत जोतने चले ।"<sup>३</sup>

'वैदिकी ब्राह्मणों' अर्थात् पुरोहिताई करने वालों के सम्बन्ध में वैकटनाय ने लिखा है कि (वे) "चून्टदार घोती बांधे, घुला हूमा उजला उपरना छोड़े, माथे पर गोपी-चन्दन लगाये और चोटो में फूल गूँथे (होते थे) ।"<sup>४</sup>

गडरिये के जीवन के सम्बन्ध में वैकटनाय ने बहू विस्तार लिखा है—“गडरिये के पास भेड़ों का गलना, गाय-बैल का बाड़ा, अनाज की सत्तियाँ और घास की टालें हूमा करती थीं । गडरियों के चौधरी 'बोया' कहलाते थे । गडरिया नये तल्ले लगी पुरानी चप्पलें पहने, गटकें

१. 'पान्दुरंग माहात्म्यम्', अ० ३ ।

२. वैकटनाय, 'पंचतन्त्र', ११६-१२० ।

३. वही, १-६८६-८ ।

४. वही, ५-२४४ ।

का मटका सिर पर लिये, लँगोटी लगाये, कमर में कटार लोसे, मनको फी करधनी बांधे, गुलेल और दूध की बहूँगी के साथ कंधे पर कम्बल लटकाये, बाँसुरी धरे धर को और चला ।”

उस समय लिखाई ताड़ के पत्तों अथवा कागज पर हुआ करती थी। पुराने जमाने में कई कागज एक साथ लाँवालाँची जोड़कर लिखते जाते और गोल लपेटकर रख देते थे, यह लपेटा दस-बीस हाथ तक की लम्बान का भी हो सकता था। (आजकल भी उत्तर भारत में जन्म-पत्री इसी प्रकार लिखते हैं।) कागज के अतिरिक्त टाट के टुकड़ों पर भी लिखा जाता था। बनिये अपने हिसाब इन्हीं टाट-पट्टियों पर लिख लिखा करते थे। ‘पांडुरंग माहात्म्यम्’ के टीकाकार ने टाट की पट्टियों का ब्यौरा दिया है। पिछले अर्धशताब्दी में हम बता आए हैं कि तेलगाने के महबूबनगर जिले में चालीस-पचास वर्ष पहले तक बनिये मुकब्बे जोड़कर कोयलों और पत्तों के रस में उसे काला करके उस पर सेलम सरिया की बत्ती में घना हिमाब-कित्ताव लिखा करते थे। पाँच-सात दफ्तियों को जाली की सिलाई से इस प्रकार जोड़ दिया जाता था कि वे सब एक ही दफती के बराबर पुस्तक के रूप में रचे जा सकते थे और तहनी का काम देते थे। लगभग सन् १६२० ई० तक इस प्रकार की दफती-बही हैदराबाद राज्य के बनियों के पास रहती थी। बड़े-छूटों से पूछ-ताछ करके जो-कुछ हम मानूँ कर सके, उनके अनुसार टाट या दफतियों की बही इस प्रकार तैयार की जाती थी—

दो मोटे-मोटे कागज एक कपड़े के दोनों ओर गोंद या लेई से चिपका दिये जाते। दफती पर कागज के चिपकाने की आवश्यकता नहीं थी। पहले उसे कोयले से काला किया जाता, फिर पत्ते, विशेषकर भृंगराज के पत्ते से रगड़ा जाता। उस रंग में कुछ गोंद भी मिला देते थे। भृंगराज के पत्ते न मिलने पर तुरई, धनूरा आदि किमी भी बेल या पीपे की पत्तियाँ रगड़ दी जाती थी। इस प्रकार कई बार कोयले और

१. ब्रह्मदत्तनाथ, ‘पंचतन्त्र’, १-५६८।

पत्ते रगड़ा करने थे । इससे उत पर एक काला लेप-सा चढ़ जाता । धूप में उने खूब मूला लेने के बाद उस पर सेलम खरिया की मोटी-मोटी बतियों से लिखा जाता था । मिटाना हो तो फिर वही कोपला-पत्ता रगड़ा करने थे । अब तो टूटने-फूटने वाली सलेटें चल पड़ी हैं । विद्यार्थी पुराने जमाने में चौबी तख्तियों पर लिखा करते थे । उन तख्तियों पर भी कोपने और पत्ते के रस आदि को रगड़कर मला जाता था । आजकल दक्षिणियों की वे बहियाँ या चौबी तख्तियाँ एकदम गायब हो चुकी हैं । 'पादुरंग माहात्म्यम्' में इनके तीन-चार नाम दिये हैं । जैसे पोबा, कडितम्, कलितम्, कविले आदि ।<sup>१</sup>

इस सदी के पहले नाग में चौबी तख्तों की लम्बाई चार या पाँच फुट, चौड़ाई एक फुट और मोटाई मबा इंच के लगभग होती थी । धूप एकदम न निकलने पर पत्ती रगड़ने के बाद उत पर फिर कोपला रगड़ देने थे । इसमें बिना मूले भी अक्षर उठ आते थे ।

गुट्टियों का खेल औरतों का ही था । आज भी उन्हीका है । पाँच-छः गुट्टियों को हाथ की अंगुलियों पर उल्टे-सीधे मेलकर यह खेल खेला जाता है ।<sup>२</sup>

'बैजयन्ती' में बाजी बंदकर मेनते के कुछ खेलों की चर्चा है । ऐसे खेल विशेषकर वेद्यों के घरों पर हुआ करते थे । कुछ लोग मुरगी के अंडों को बाजी पर लगाते थे । कुछ मुरगों की बाजी लगाते थे । कुछ पैसा ही लगाकर मेला करते थे । कई गधों को एक-साथ गट्टा बांधकर एक ही बार में सबको तोड़ दिया जाता था । कुछ खाने की चीजें रख दी जाती । नियत स्थान को छूकर आने से पहले दूमरा उसे खा जाता था । खा न सके तो हार मानता था ।<sup>३</sup>

गडरिये धूम-धूमकर दूध-दही और घी बेचने थे । 'शुक सप्तति' के

१. 'पादुरंग माहात्म्यम्', ५, ७४, ८०, ८१, ८२ ।

२. 'साम्योपाख्यान' ।

३. 'बैजयन्ती', ३-६६ ।

अनुसार कुछ गडरिनें दूध-दही घेचने का बहाना बनाकर अपने प्रेमियों की घात में निकल पड़ती थी ।<sup>१</sup>

### खेती तथा व्यापार

राजा ही नहीं, उनके मंत्रीगण तथा उनकी पत्नियाँ भी तालाब अर्थात् बाँध बँधवाती थी । गुट्टर मडल में लकायल पाडु गाँव में गोपीनाथ-समुद्र के नाम से एक तालाब है, जिसे मंत्री रामय्या भास्कर की बहन विद्याम्बा ने बँधवाया था और वहाँ एक शिला-शासन (सन् १४६२ ई०) भी स्थापित किया था ।<sup>२</sup>

उसी प्रकार १५२७ ई० में कडपा जिले के सिदपट्टम नामक गाँव में मट्टला अनल भूपाल ने एक तालाब बनवाकर एक शिला-लेख स्थापित किया था ।<sup>३</sup>

श्रीमान् पल्जी रामकृष्ण शर्मा ने कर्नूल जिले के पेदावेलगल्लु के धर्मन्ना नामक पटवारी के यहाँ से ताम्र-पत्र प्राप्त करके लगभग चालीस वर्ष पूर्व वनस्पति से उसे प्रकाशित किया था । उस ताम्र-पत्र से उस समय खेती की विधियों तथा आयागार और भीरामो की व्यवस्था का ब्यौरा मालूम होता है । उस ताम्र-पत्र के खास-खास विषयों को ज्यों-ज्यों नीचे दिया जाता है :

“शालिवाहन सम्बत् १४१४ में श्री कृष्ण देवराय के साय धाये हुए मुम्मडो रेड्डी नायक आदि सरदारों को दो गई भीरासों का ब्यौरा—गडरियों के पालेगार बन जाने से दुर्गों की गतिविधि भ्रमल हो गई थी, और घोर उपद्रव मचा रहता था । आप लोगों ने उन पर विजय प्राप्त की है । इसलिए चेहवेलगल्लु से लेकर चामल गूरा, कम्मल पाडु, तिम्मन दोड्डी आदि सोलहों स्थान आपके हो चुके हैं । अतः इन

१. 'शुक सप्तति', ३-५४० ।

२. 'शासन पद्य मंजरी', शासन संख्या ८०, पृष्ठ १०३ ।

३. वही, शासन सं० २४, पृष्ठ १०६ ।

स्थानों का शासन मुख्यतया के साथ चलाकर श्री विष्णुपक्षेन्द्र के राज्य को प्रत्यान करें। गाँवों के सिमाने निश्चित करके रायममवीर-मरूम को भेजकर सिमाने-नये स्थापित करने का व्योरा.....बारह बन-वंतों के नाम;

इतोक—करराम्, मुच्चि कंनानी, कम्मर, कुम्भर, गुरक, शिल्पक, स्वर्ण, मृद्वस्कार तक्षका कस्तारकदव, भकारः चङ्गलचित्तनम् तथा निहृष्टकःनिर्वावि यपारनम् छेने द्वादशजातीनाम् पान भारत्य दाहवाः।”

अर्थ—पटवारी, मोची, मुनार, मुहार, कुम्हार, नापने या पिनने वाला गुरक, शिल्पी, बहई, कसेरे, चादान, घोषी, तथा बर्दिकी ये बारह व्यक्ति गाँव के नार का बहन करते हैं।

वनूल गाँव में जंगल अधिक है। इस कारण विजय नगर के मन्नाटों ने मौरा में दे-देकर और कई-कई वर्षों तक नगान भाग करके सिमानों की आर्क्षित किया और इन तरह वहाँ पर अनेक नये गाँव बनाये। वनूल जिले के अम्बरी गाँव के पटवारों के पाम जो ताम्र-वन पाना गया था, उनका व्योरा इस प्रकार है :

“शातिवाहन मम्बन् १४१२ में सातुवा श्री नरसिंह राय जी ने द्रोणावन और अश्वपुरी की भूमि के बंजर और जंगलमय हो जाने पर यहाँ पर गाँव बनाने के लिए यह घोषित कर दिया कि यहाँ जो भी चाहें और जहाँ से भी भ्राना चाहें, आकर गाँव बना सकते हैं। और उन्होंने यह शौन-नामा लिखवाकर भिजवा दिया कि यह हमारी कारिमाच्चि मीराम रहेंगे और हम गल्ला अडा करने रहेंगे। इस पर मतकासीमा, गोरंटी सोमा, बिनकल्लु, बाराल, अमरवात, शाननकोट, ध्यावनकीडा आदि गाँवों से अठारहों लोगों को प्रजा तथा बारह दसवंत, पुरोहित, भठपनि, अंगम, तम्मडि, गडरिये तथा बुनकर आदि चेरचेतगल्लु पहुँचे और स्थानी रूप से श्री रायन की सेवा में उपस्थित होकर बस गए। रायन के बड़े लक्षों का व्योरा : वित्त गाँव को जो बना रहा है, यह

उसी की मीराम है। गाँव बसाने वाली इस नवागत प्रजा को आठों विशाघों के सेत घटाकर, उनकी चौहदियाँ तय कर देने का फंसला...”

“मीरामदारो की नियुक्ति का इधोरा : रेड्डियों का फंसला-पाफानाटो प्रजा दो भाग, ओटारी प्रजा एक भाग, परवाटो प्रजा एक भाग, कुल चार भाग ...” ।

“पटवारी” लुहार, धोबी, नाई, कुम्हार, लुहाहे, चौकीदार, देवी-देवताघों की बड़ी देवनी, छोटी देवनी ( विचित्र नामों पर ध्यान दें ), चमारनागपागा, तिमपापागा ( ये नाम भी ध्यान देने योग्य हैं ), बंगार, ये चारह बलवंत हैं ।

माफो जमीनों का निर्णय : बालविश्वेश्वर अनादि मूर्ति हैं । इसलिए भोग तथा दीया-बत्ती के लिए माफो जमीन चार तूम (मन) और भंरवे-इवर को डेढ़ तूम (अर्थात् इतनी बीज की जमीन... )।

शिवालय के लिए महादेव को डेढ़ मन, हनुमंतराय (हनुमानजी) को पाँच तूम, पोतराशु को डेढ़ तूम, इति देव स्थानों की माफो समाप्त । रेड्डी की माफो, पटवारी, चौकीदार, लुहार, बड़ई, धोबी, नाई, कुम्हार, जंगम, तम्मडी, दासरी, मेरगोड ( न जाने यह कौन-सी जाति है ! ) (शायद दरजी हों—अनु०), बुनकर, (हर एक के लिए अनुक-धमुक ‘तूम’—परिमाण निश्चित किया गया है) । इस प्रकार पाँच साल तक माफो कौल के बाद प्रत्येक ‘तूम’ पर पाँच ‘बरहा’ लगान निश्चित करते हैं ।”

राजत-काल के बाद से अब तक केवल चारह कामदार ( नेगी या पीनी) रह गए हैं । सन् १६०० ई० में नीचे दिये हुए इन चारह धाय-गारो (कामदारो) की गिनती की जाती है.—१—पटवारी, २—रेड्डी (मुकद्दम), ३—चौकीदार, ४—धोबी, ५—चमार, ६—नाई, ७—बड़ई, ८—मुनार, ९—पुरोहित ब्राह्मण, १०—मेरडी, (जहाँ पानीदार ताताब हो), ११—कुम्हार और १२—लुहार । इस गिनती में पीछे कुछ और परिवर्तन हुए । आजकल मुनार और ब्राह्मणों की गिनती धायगारों में

नहीं है। पटवारी, पटेल और चौकीदार अथवा काबलकार के लिए ब्रेतन अथवा स्केल मुकरंर है। इमलिए इनकी भी गुमार घायगारों में नहीं रही। अब निदिचत रूप से बचे हुए नेगी लोग ये हैं—घोबी, नाई, बडई, नुझार, पानीशार (जहाँ तालाब हो), चमार और कहीं-कहीं कुम्हार भी। करणम् अर्थात् पटवारी का काम सदा से हिसाब-किताब सीखने का ही रहा है।

एक कविना है —

“काम पड़े पर खड्गों का बदला लेता है ‘गंटम्’”

इसी नीति पर चलकर बाजी जीता करता ‘करणम्’ !”<sup>२</sup>

रेड्डी अथवा मुक्कद्दम के सम्बन्ध में भी कहा है कि यदि रेड्डी ग्राम का अधिकारी बन जाय तो किसानों की तबाही निदिचत है।

उन दिनों ग्राम-पंचायत के अधिकारी ही लगान-बमूनी करते थे। गांव के चौकीदार ही पुलिस, और पचायत ही अदालतें थी।

किसान ढोर-डगरों को बांधने और जोतने के लिए बड़ की जटा (बरोह) काट-काटकर उसमें रस्मियां बनाने थे।<sup>३</sup>

सेती करने वालों में रेड्डी ही प्रधान थे। साधारण रेड्डी खुद खेतों में मेहनत करके फसलें उगाते थे। वे दोपहर तक खेत में काम करके घर लौटते, उपलों के चूल्हे पर मिट्टी के बड़े घड़े में गरमाया हुआ पानी लेकर स्नान करते और कांसि के नसलों में रागों का दलिया खाने बैठ जाते थे।<sup>४</sup> सेती करने वालों के यहाँ दूध-दही भी खूब होता था। अभावस्था के दिन वे खेतों पर काम नहीं करते थे। यह प्रथा आज भी अनेक प्रान्तों में विद्यमान है।

व्यापार विशेषतया कोमटी अर्थात् बनिये ही चलाया करते थे।

१. ‘गंटम्’=कलम। ‘करणम्’=पटवारी।

२. ‘गुरु सप्तति’, २-३३२।

३. वही, २-३३५।

४. ‘दशमंगद चरित्र’, २-४३।



पहले अरब, ईरान, बर्मा, चीन, मलाया, पेगू, कम्बोडिया, इंडोनेशिया और सिंहल के व्यापारी ही हमारे देश के साथ व्यापार करते थे। कुष्णदेवराय के समय पुर्तगाली भी उतरे और अब फ्रेंच और अंग्रेजों का भी आगमन हो चुका था। उनके साथ हमारे व्यापारियों ने खरीद-विक्री की। कदरीपति ने अपनी प्रथम कथानिका में ही बताया है कि विचित्र वेश-भूषा और भाषा वाले अंग्रेज और फ्रांसीसियों के ठिकाने समुद्र-तट पर ही हुआ करते थे। किन देशों से क्या-क्या माल यहाँ उतरता था, इसका भी धोरा मिलता है। तेलिटापू से पत्थराग, ईला से नीलम, मक्का से कालीन, शीराज से शीराजी रुनियाँ, जम्मूद्वीप अर्थात् जम्मू से सोने के सीप (कट्टण का शब्द 'शब्दकोश' में नहीं है, किंतु कट्टण नाम की सोने के मनको की माला आज भी पहनी जाती है। यदि मोतियों का हार हो, तो उसे मोतियों की कट्टण कहते हैं), कश्मीर से केसर, मलाया से चदन और जावा, सुमात्रा आदि से मुपारी आदि माल गोधा के बंदरगाह पर जहाजों से उतरा करते थे।

इसके अतिरिक्त मोती, हाथी, कस्तूरी, जलादि, काच के कुम्भों में पनीर और गुलाब जल, पचधातु से बनी तोपें, चाँदी की डट्टी और रेशम के कपड़ों से बने पसे, तीर-कमान, पत्थर की ढाने वाली छुरी, बटार, सगमरमर के कटोरे, लीडियाँ अथवा दासियाँ आदि भी बाहर से आया करती थीं।<sup>१</sup> विदेशों से स्त्रियों के लिए जाने की बात हमारे कवियों ने भी कही है। पारा, जायफल, हींग, लौंग, पचलवण, गधक और कुत्ते भी आते थे।<sup>२</sup> व्यापार पर निरालते समय व्यापारी अपने साथ में बेंत के कटोरे, तम्बू तथा अन्य आवश्यक सामग्री लेकर चलते थे। ईल, जिलिंद और बंगाल के टापुओं से ये माल उतारते थे।<sup>३</sup> 'गुक सप्तति' में ईल का पाठांतर विलंग भी है। इसी प्रकार दूसरी जगहों पर कुछ

१. 'गुक सप्तति', १-२२२।

२. यही, १-१६२।

३. यही, १-१७६।

मिलने-जुलने ईला, मुम्मगी, बगाल, पंगोवा आदि नाम भी दिये है। 'शुक सप्तति' की रचना के दो सौ वर्ष बाद 'हस विशति' की रचना हुई है। 'हस विशति' के रचयिता ने 'शुक सप्तति' के शब्द, पद, पद्य, भाव, विधान सभी ज्यों-के-त्यों अपनाए हैं। इस प्रकार 'शुक सप्तति' तथा 'हस विशति' के समान शब्दावली के दो-एक पद्य का परस्पर मिलान करने पर कुछ निष्कर्ष निकल सकता है। दक्षिणी भाषाओं की बर्णमाला में 'ल' के साथ 'ळ' भी है, जिसका उच्चारण 'ड' के समान होता है। इसलिए यदि हम इन शब्दों के 'ल' को 'ड' पढ़ें तो ये शब्द बनते हैं : ईल = ईड, जो वास्तव में ईडन है। ईडन अरब देश में है और अरब से हमारा व्यापार प्राचीन काल से चलता था। इसी प्रकार 'बळदा' वास्तव में हालण्ड है। हालण्ड वालों ने हिन्दुस्तान के साथ अंग्रेजों और फ़ारसीमियों से भी पहले अपने व्यापारिक सम्बन्ध जोड़ लिये थे। वे अधिकतर भारत के बन्दरगाहों से होकर ही इण्डोनेशिया के द्वीपों से व्यापार करते थे। अम्बाइना में अंग्रेजों के मारे जाने से अंग्रेजों की बला हम पर आ उतरी थी। हालण्ड को हिन्दुस्तानी 'बलन्द' कहने लगे। जान पड़ता है, बदरीपति के अनुयायी नारायण कवि को इसकी जानकारी न रही हो। फिर भी इन कवि की रचनाएँ हमारे लिए अत्यन्त सहायक सिद्ध हुई हैं। इसलिए 'शुक सप्तति' की असुद्धियों को ध्यान में रखते हुए 'हस विशति' का अध्ययन ध्यान पूर्वक किया जाना चाहिए। 'शुक सप्तति' का 'पंगोवा' वास्तव में आज का पंगू है।

बनियों के अतिरिक्त 'गु ता गोला' जाति वालों ने भी उस समय के व्यापार में थोड़ा-बहुत भाग लिया है। 'बाहर से आने वाले माल में पटालाशुकम् का नाम है।' कोश में इसके पर्याय 'घर की छत', 'नेत्र-रोग', 'परिवार' आदि हैं। पर ये अर्थ ठीक नहीं। 'अंशुकम्' माने कपड़ा। इसलिए पटालाशुकम् कपड़े का ही कोई प्रकार होना चाहिए।

१. 'शुक सप्तति', १-१७५।

२. यही, ३-७।

'शब्द कल्पद्रुम' में 'पटलम्' माने 'घोड़ने का कपडा' बताया गया है। तेलुगु शब्दकोशी ने उसे घर की छत कहकर समाप्त कर दिया है। शरीर पर घोड़ने की वस्तुओं को भी 'पटलम्' कह सकते हैं। ऊनी चादर आदि रहो होगी। ईरान गुलाब की जन्म-भूमि है। वही से गुलाब-जल कुप्पो में भर-भरकर भारत में आता था। हरे और उजले दोनो प्रकार के कपूर पूर्वी द्वीपों से आते थे। 'शुक सप्तति' में कुछ और भी वस्तुओं के नाम दिये हैं, पर उनके अर्थ कहीं नहीं मिलते। इसलिए वेद के साथ छोड़ देने पड़े। उन दिनों बेलगाड़ी के चलने योग्य रास्ते नहीं थे। व्यापार के माल घोड़ों, गधों और बैलों पर लादे जाते थे। टट्टुओं पर सामान लाद-लादकर व्यापारी हाटों-हाट और मेले-मेले घूमा करते थे। 'शुक सप्तति' में एक स्थान पर एक टट्टू यह शिकायत करता है

"कमर तोड़ने को काफी है लादी का ही भार।

फिर उस पर से हो जाता सौदागर भी असवार ॥"<sup>१</sup>

इसी प्रकार बैलों पर भी लादी चमती थी।<sup>२</sup> (बल्कि बैलों पर अधिक व्यापार होता था) एक-एक तांडे (कारवाँ) में सैकड़ों बैल होते थे, घोड़े इस देश में इतने कहीं थे ?

लेन-देन उन दिनों सिक्कों में ही होता था, सिक्कों में 'माडें' को ही अधिक महत्त्व प्राप्त था। थोड़ी अर्थान् स्त्री-धन के लिए प्रधानतया 'माडें' का ही उपयोग होता था। 'माडें' (सोने के सिक्कों) का लोग घटों में भर-भरकर जमीन में गाड़ देते थे।<sup>३</sup> 'दवा' का प्रचलन भी काफी था।<sup>४</sup> 'दवा' शायद चांदी का होता था। एक गडरिन 'दवा' का एक 'सिक्का' खोकर यो पछताती है।

१. 'शुक सप्तति', ३-४०३।

२. वही, २-२४६।

३. वही, १-४६७।

४. वही, २-२५।

“धर देना पड़ा ‘रुका’ घालिर हठीले उस बग्हन के हाथ में !  
चार-चार मटके दही के बिकें जो लगा कें नगर के अनयक फेरे,  
तब कहीं पड़ता ‘रुका’ एक ऐसा है कोई कदाचित् बांट में मेरे,  
मूद पर अगर दे देती तो आता पलटके, लिये एक इकन्नी भी साय में।”<sup>१</sup>

ऊपर के पद्य में प्रतीत होता है कि एक ‘रुका’ के चार मटके दही के मिलने रहें होंगे। इसी प्रकार लिखा है कि एक ‘रुका’ में टोकरे-भर चावल आता था।<sup>२</sup> इस तरह दही के चार मटके टोकरे-भर चावल के बराबर हुए। आज भी लगभग वही अनुपात है। ताड़ी पीने वाली स्त्रियाँ टोलियाँ बनाकर, माँचल के पल्लुओं में कामु, सोने की मनकी और चाँदी के टुकड़े बाँधे बाजार में जाती थीं। ‘चिरवाड’ जो कुछ खरीदता वह भी खरीदती।<sup>३</sup> खेद है कि ‘चिरवाड’ शब्द किसी कोश में नहीं मिलता। ‘मिनुक’, ‘टक’ और ‘दीनार’ का भी प्रचलन था। पैसे जालियों के बटुए में रखा करते थे। बटुआ कमर पर बँधा होता था।<sup>४</sup> ‘चिट्टी’ सबसे छोटा माप है। एक जगह आया है कि ‘चिट्टी’-भर तेल सिर और शरीर पर मलने के लिए पर्याप्त है।<sup>५</sup> अर्थात् आधी छटाँक को चिट्टी कहते रहे होंगे। ‘सोला’, ‘मानिका’, ‘इस्सर’, ‘तूम’, ‘खंडी’ आदि अनाज के तोल थे। ‘मानिका’ या ‘माना’ ढाई सेर का होता था।<sup>६</sup>

‘शुक सप्तति’ में छुरे, कटार आदि के सिलसिले में कई नाम आये हैं, जैसे ‘अडिदमु’, ‘खडा’, ‘कत्ति’ (तलवार), ‘दुनेदार’ (दुधारी तल-

१. ‘शुक सप्तति’, २-५८।

२. वही, २-५६६।

३. वही, ३-११७।

४. वही, १-२१६।

५. वही, २-३८१।

६. वही, २-२६०।

वार), 'बाकु' (कटार), जमु (जम्बिया), दाडी, डावा आदि ।<sup>१</sup>

### पंचायत सभाएँ

तमिल देश के अन्दर मन् २०० ई० से पंचायतें बनी हुई थी। जात-पात के भंगड़े, समाज-सुधार के कार्य तथा लगान की बमूली पक्की करते थे। साल में एक बार गाँव-भर के लोग इकट्ठे होकर पंचों का चुनाव करते थे। वही हर प्रकार के फैसले किया करते थे। यही विधान ग्राम्य के अन्दर भी धीरे-धीरे जमने लगा। किन्तु ग्राम्य में चुनाव की प्रथा के प्रचलित होने के प्रमाण नहीं मिलते। चौकीदार अथवा ग्रामिणों को पकड़ लाते थे। रात को वे मशाल लेकर गाँव की गश्त लगाते थे। रात में ढपली बजने के बाद लोग बाहर घूम-फिर नहीं सकते थे। रात में यदि किसी पर सन्देह हो जाय तो उसे रात-भर घाने या चौपाल में काठ पर बस देने थे। (जिसे 'बोडा कोप्या' कहते थे। इसकी चर्चा पीछे की जा चुकी है।) सवेरा होने पर वह चोर है कि साह, इसकी जाँच करने के बाद निर्दोष होने पर उसे छोड़ देने थे। सोने-चाँदी की चोरी होने पर सबसे पहले मुनारी को पकड़कर पूछ-ताछ की जाती थी कि उसके पास कोई चोरी का माल तो नहीं आया। 'वैजयन्ती' में एक पद्य है :

"कसि, तावे, चाँदी, सोने, भोती, मणि को चोर,

ले जाते हैं धिक्की करने सदा मुनारों के ही घर की ओर।"<sup>२</sup>

उन दिनों देश में सबसे धनवान मन्दिरों की मूर्तियाँ हाँती थी। चोरी प्रायः मन्दिरों के अन्दर ही हुआ करती थी।

चोर के पकड़े जाने पर चौकीदार गवाहों के साथ उसे अपने ग्रामिणों के पास ले जाता, जो पंचायत की सभा में उसकी मुनवाई करते थे। गाँव के मुखिया, सास-खास व्यक्ति ही पंचायत के सदस्य होते थे।

१. 'गुरु सप्तति', २-३६४।

२. वही, ४-७३।

वे साधारणतया वेद-शास्त्रों के विद्वान् ब्राह्मण होते थे । सभाएँ मन्दिरों के सामने अथवा गाँव के बाँव में बने हुए चबूतरों पर की जाती थी । गाँव वाले भी घ्राऊर अगल-अगल में बैठ जाने थे । पंचायत की सुनवाई किस प्रकार होती थी, इसे जानने के लिए हम विप्रनारायण की सुनवाई की मिमांसा ले सकते हैं—“रंगनाथ के मन्दिर से सोने की कटोरी चोरी चली गई । एक मुनार ने पता दिया कि वह कटोरा एक वेदया के घर में है । गाँव के चौकीदारों की लाठी, तनवारों से लैन टोली तलाशी के लिए वेदया के घर पहुँची । मारा घर छान मारने के बाद चन्दन की एक पेट्टी में कुन्दन की वह कटोरी मिली । कटोरी और वेदया को लेकर वे अधिकारी के पास भाये । तब उस वेदया की वृद्धा माता ने कहा— ‘महाराज ! मेरी विटिया के एक प्रेमी ने यह कटोरी हमें दी है । वह इस समय हमारे घर में है ।’ यह सुनकर अधिकारी ने उसको पकड़ लाने के लिए अपने नौकरों को भेजा । वे वेदया के घर गये । उन्होंने वेंग के साथ विप्रनारायण को दण्डवत् किया और ब्यन करते हुए चोरी की बात बतलाकर उसे जिम्मा (अधिकारी) के पास ले आए । जिम्मा ने वेदया से पूछा कि यह कटोरी तुम्हारे पास कैसे आई ? वृद्धा वेदया ने विप्रनारायण की ओर नकेत करते हुए कहा कि यह दामरी साल-भर से मेरी विटिया देवदेवकी का प्रेमी बनकर हमारे यहाँ रहता है । जब हमने हमें कुछ नहीं मिला तो हमने इसे घर से निकाल दिया । तब एक छोटे-से ब्रह्मचारी के हाथ इसने हमें यह कटोरा भिजवाया है । तब विप्रनारायण ने सभा-वितति में यों कहा—‘मिरा कोई शिष्य नहीं है । मैं एकाकी हूँ । यह जो कुछ कहती है एकदम झूठ है ।’ इस पर वेदया ने कहा कि ‘जो ब्रह्मचारी ने अपना नाम ‘रंग’ बताया था । उसकी शत्रु-भूत भी इसी जैसी थी । हम औरतें हैं । हमें यह मालूम न था कि तमिन देग का यह व्यक्ति हमारे साथ ऐसा करेगा !’ दोनों की बातें सुनकर जिम्मा ने विद्वानों की धर्म-सभा की बैठक बुलाई । सभा के सभी विद्वान् सदस्यों ने विप्रनारायण की निन्दा की । सभा की

कार्यवाही देखने के लिए गाँव-भर के लोग टकटुं थे। वे घापम में तरह-तरह की बातें करने लगे। जिम्मा ने बेश्या तथा विप्रनारायण के वपानों को विस्तार से बताकर निर्णय देने के लिए कहा। सभी सदस्यों ने परस्पर वाद-विवाद किया कि बेश्या को कटोरी इमीके द्वारा मिली है। यह सदा मन्दिर में जाता है, इसलिए यही चोर है। इस प्रकार विप्रनारायण पर चोरी का अभियोग लगाकर सब सदस्यों ने एक स्वर से अपना निर्णय जिम्मा को सुनाया। तब जिम्मा ने पूछा कि इसका सजा क्या होनी चाहिए? इस पर उन लोगों ने कहा—'जुमाना करना एक, सिर मुँडवा देना दो, और मन्दिर से निकाल देना तीन, यही तीन इमकी सजाएँ हैं। यद्यपि रूपराय तो प्राण-दण्ड के योग्य है, किन्तु ब्राह्मण होने के नाते इसके प्राण न लिये जायेंगे। विज्ञानेश्वर (धर्मशास्त्र) का यही मत है।' तब जिम्मा ने कहा—'इमके पास धन तो है नहीं। सिर इसने पहने से ही मुँडवा रखा है। इसलिए कपड़े उतरवाकर सरहूद से बाहर खर देना ही इसके लिए उपयुक्त दण्ड होगा।' सभा ने एक स्वर में इमे स्वीकार किया। इस पर श्री रगनाथ भगवान् ने सभा में प्रत्यक्ष होकर कहा कि विप्रनारायण निर्दोष है। यह देखकर ब्रह्म-सभा आश्चर्य-चकित रह गई। विप्रनारायण के लिए शहर में रखा गया, अर्थात् विप्रनारायण को रथ में बिठाकर सभी ब्राह्मणों ने अपने हाथों से उसे खींचा। 'ब्रह्म-सभा' शब्द से प्रतीत होना है कि उसके सभी सदस्य ब्राह्मण होने थे।<sup>१</sup>

बाकी बातों को छोड़ भी दें तो विप्रनारायण के इस मामले से तत्कालीन पचायती विधान तथा उसकी कार्य पद्धति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

एक दूसरे कवि बेकटनाथ ने अपने ग्रन्थ 'पञ्चतन्त्र' में पचायती विधान का सुन्दर वर्णन किया है। यहाँ पर उनका व्योरा सरोप में लिख देना जरूरी है—

"एक शहर में दो बनिये थे। एक का नाम था धर्मबुद्धि, और दूसरे

१. 'पञ्चतन्त्र', ४-६२-१२८।

का दुष्टबुद्धि । उनके नाम भी नामों के अनुरूप ही थे । एक दिन धर्मबुद्धि को १००० गटे दौनार मिले । यह बात उसने अपने मित्र दुष्टबुद्धि को बना दी । दुष्टबुद्धि दकैना ही उस जगह पर गया दलि-भेंट चटार्द और उस धन को उठा लाया । कुछ दिनों बाद दुष्टबुद्धि ने धर्मबुद्धि के पास जाकर कहा कि चलो अपने धन को देख लें । दोनो पेड़ के नीचे पहुँचे । धन का पता न पाकर दोनों आपस में तकरार करने लगे । झगडा बढा । मामला पचापन में पहुँचा । छोटे-बड़े इकट्ठे हुए । धर्माधिकारियों ने दोनो को और देखकर कहा—‘हल्ला न करो । दोनो एक माय मन बोलो । एक-दूसरे के बीच में मन बोलो । तुम दोनो अपनी-अपनी बात गुरु से आविर तक अलग-अलग बताओ ।’ धर्मबुद्धि हाथ जोडकर खड़ा हो गया । कहने लगा ।—‘महाराज, मैं और यह दुष्टबुद्धि दोनो माय-साय यात्रा कर रहे थे । रास्ते में एक जगह मुझे खजाने का घडा एक मिला । मित्र समझकर बत्ता दिया । इसने घडे को एक पेड़ के नीचे गाडकर निशान लगा दिया । कुछ दिनों के बाद इनने खुद मेरे पास आकर कहा कि चलो देखें कि दरीने का क्या हान है । पहुँचकर देना तो दफीना गायब । और अब उलटे मुझे बोर बत्ताकर इनने मुझे पचापन में घसीटा है ।’ इतना कहकर धर्मबुद्धि अलग खडा हो गया । तब दुष्टबुद्धि ने सबको हाथ जोडकर प्रणाम किया और कहा—‘उम पेड़ की बत्तम धन को इनाने चुराया है !’ यह सुनकर धर्माधिकारियों ने कहा—‘इन पर निर्गुण देना बठिन है । इननिए पाँच दिन भी नुहलन देकर कहा कि छठे दिन अपना-अपना ब्योग ( गवाही नाखी ) पेश करो !’ तब दुष्टबुद्धि ने कहा—‘इस नामूची-सी बात के लिए इतना बखेड़ा क्यों बढाने है ? गवाही मैं अभी दिला देता हूँ ।’ पूछा गया कि तुम्हारा गवाह कौन है ? दुष्टबुद्धि ने कहा—‘जिम पेड़ के नीचे खजाना गड़ा था, वही पेड़ मेरी गवाही देगा ।’

इस पर सभी चकित रह गए और उत्तमुक्तता के माय दूसरे ही दिन पेनी रख दी । दुष्टबुद्धि ने रात-भर अपने पिता के पास बैठकर उसे



पढ़ाया कि तुम्हीं उस पेड़ की खोह में बैठ जाना और जब पच लोग वहाँ पहुँच जायें तब खोह के भीतर से ही मेरे पक्ष में शहादत दे देना ! बूढ़े बाप ने बेटे की समझाया कि धन्याय नहीं करना चाहिए । बेटे के मन में धन्याय की बात बिठाने के लिए उसने एक कहानी भी बह मुनाई । दुष्ट-बुद्धि के मन में कहानी की बात नहीं बँठी । उसे अपना भूझ धन्या ही प्रसन्न था । बुरे दिन देखने थे । मजबूर होकर बाप मुँह-धन्धरे ही उस पेड़ के पास गया और खोह में छिपकर बँठ गया । सबेरा होने पर धर्माधिकारी और गाँव के सभी छोटे-बड़े दोनों बनियों को लेकर उस पेड़ के पास दबट्टे हो गए । तब धर्माधिकारी ने पेड़ से हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि बताएँ कि इन दोनों में दोषी कौन है ? बूढ़े ने खोह में से कहा—'धर्मबुद्धि ही छनी है ।' पेड़ की यह बात सुनकर सभी चकित रह गए । दुष्टबुद्धि खूब प्रसन्न हुआ और एकत्रित सभी लोगों ने गुन होकर तानियाँ बजा दी । धर्मबुद्धि ने सोचा—पेड़ क्या, और उसकी गवाही क्या ? जरूर इसमें कोई धोखा है । उसने पेड़ की खोह में घास-फूस भरकर घाग लगवा दी । घाग में जलकर बूढ़ा मुरदा बनकर बाहर निकल पड़ा । तब धर्माधिकारियों ने दुष्टबुद्धि को बुरा-भला सुनाया । 'धर्म-अधर्म की बात पर प्रमानत रखे धन को हड़पने वाले गुलाम बनिये ! विश्वामियों की हाथों-हाथ लेन-देन में सूट लेने वाले विजाती गिरगिट ! बनिये के कुत्ते !' और धर्मबुद्धि को मान दिखाया तथा उम दुष्टबुद्धि को सूनी पर चढ़ा दिया ।" यह बड़ी मनमोहक कथा है । इसमें पचापती विधान की कार्य-पद्धति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है ।

### कलाएँ

घशर क्या है, मानो मोती गियरे है । गुन्दर घशरों का निगना भी एक कला माना जाता था । श्री नाथ ने अपने 'नन्दमान चरित्र'<sup>२</sup> में

१. 'वंचतन्त्र', १, ७०१, ६४ ।

२. १-१६ ।

एक राज-मन्त्री के सम्बन्ध में उसकी भिन्न-भिन्न भाषाओं की सुन्दर लेखन-कला की प्रशंसा की है। शिल्पकार काँच की कुप्पियाँ और हाथों की द्विविधियाँ तैयार करते थे।<sup>१</sup> बेल के फल पर दगावतार के निन्दनारकर, उनमें वैष्णव धरती निलक-सामग्री रखने थे।<sup>२</sup> नाचने-नृत्य की कला में वेद्याओं का विशेष स्थान था। वेद्याओं की गायक-मण्डलियों को 'मैला' कहते थे। आज भी 'बोगम मैलम' अर्थात् वेद्याओं की गायन-मण्डली या नृत्य-मंडली कहा जाता है। वृद्धा वेद्या, गायिक सुन्दरी नर्तकियाँ, डाल-मंजीरे बाना, श्रुतिकार तथा श्रुति को उठा गाने को पूरा करने वाला, इन सभी को मिलाकर 'मैला' बनता था। नाटकों में नाचने वाली युवतियों को 'पात्रकंठे' कहते थे।

“परदा हटते ही पातरकंठे हाव-भाव के साथ  
खड़ी हुई आकर, श्रोताओं को जोड़े दोनों हाथ”<sup>३</sup>

नृत्य में 'देसी' तथा 'मार्ग', ये दो पद्धतियाँ प्रचलित थीं। नर्तकी वेद्या के नृत्यों का व्योरा यों है :

“भोगवरी कट्टडम, कोताटमु और मुखु अपहप,  
चिचिरुणो, बरतु बारदुनेति तथा बहुल रूप,  
बधुरगीत एवं प्रबन्धवितति वरमा पद्य;  
देसी, बंगाली, कोहति कट्टड, धनवद्य,  
बिन्दु कोटिय काडु, परगुराम, धीरभद्र कभी,  
कल्याणो, चौकटला, एकनाल आदि सभी,  
देसी गुड्डांगों में पटुता से नर्तकी,  
पग के कड़ों के साथ नाचती हुई न यकी।  
दर्शक जन पुनलो की भाँति, ठगे लगते थे।

१. 'विप्रनारायण चरित्र', ३-२८।

२. वही, २-२८।

३. 'निरंकुशोपाख्यान', २-६।

टक बोधे, प्रशस्तिर्षा करते न सकते थे !”<sup>१</sup>

उक्त पद्य में प्रयुक्त बहुत सारे शब्दों के अर्थ नहीं मासूम होते । कुछ तो मुद्रण की अशुद्धियाँ भी होंगी । बाद के पद्य में जविकरणी का शब्द आया है । इस पद्य का चिविकरणी शब्द जविकरणी के लिए भी आ सकता है । इसी प्रकार नृत्य-रत्ना का व्योरा नीचे के पद्य से भी मिलता है .

“चारण, धानड, धर्चरो, धहुलरूप, दण्डलास,  
मांडिक, कंडुक कोसाट आदि नृत्य-नाट्य खास,  
प्रेरण, बुण्डली-प्रेक्षण, सूतम्, पुहुडक, गति,  
गुड पढति, विप्र पढति, घनवेश की पढति,  
केनाट, अम्बक करण, एकतालिका  
आदि गीत, हल्सीपक आदि नृत्य-मालिका,  
मुख्य-मुख्य नाट्य-विधियों का प्रदर्शन कर  
एक-एक दशक का मुख मन लेती हर,  
और जग उसकी प्रशसा से या सुत्तर ।”<sup>२</sup>

ताल-विधियों में जपे, ध्रुव, आर्ट ताल आदि का विशेष प्रचार था ।<sup>३</sup> गान में हस्ताभिनय के साथ अर्थाभिनय तथा विविध-बोधार्थ-विलास-विनिमयता तथा नटन में चरण नूपुर नाद को तालनाद से मिलाने हुए तास्य अथवा नाट्य करने थे । ‘वैजयन्ती’<sup>४</sup> और ‘शुक मत्तति’<sup>५</sup> में इनके वर्णन मिलते हैं ।

यद्य-गान के सम्बन्ध में कटुनूर रुद्रम्व-लिखित ‘मुग्धीय विजय’ के लिए थी चेट्टूरि प्रभाकर शास्त्री ने उच्चम भूमिका लिखी है । उक्त भूमिका में कुछ उद्धरण यहाँ पर दिये जाते हैं :

१. ‘मल्हणोपपु’, ५-६ ।
२. वही, पृ० ४० ।
३. ‘वैजयन्ती’, १-१२३-४ ।
४. १-१२६ ।
५. ३-१४ ।

“द्रविड़ भाषा में जो दृश्य रचनाएँ पहले-पहल प्रसिद्ध हुई थीं, उन्हें ‘कुरवंजु’ कहा जाता था।’ गडरिये को कहते हैं, और अज माने पग, अर्थात् गडरियों का नाच। मंगलाद्रि, सिहाद्रि आदि पर्वतों पर वहाँ के पहाड़ी लोग मैलो में सामूहिक नृत्य का प्रदर्शन किया करते थे। चेंबु अथवा भील-नाच की गिनती भी ‘कुरवजो’ में होने लगी थी। स्त्री पात्र को सिगी और पुरुष पात्र को सिग या सिगडू कहते थे। खेल के ये दो ही पात्र होते थे। एक तीसरा पात्र कोएंगी (लंपूर) होता था, जो बिदूषक का काम करता था। संस्कृत का ध्रुवराग शब्द ही कुरवंजो में ‘दुह’-राग बन गया था।”

जबहू जाति के नृत्य-प्रदर्शन ने नगरो में भी प्रवेश किया। पहाड़ी भीलो की सिगी और सिगा की जगह सीता, राम आदि ने ले ली। फिर भी पहाड़ी नाच का प्रभाव इन पर स्पष्ट रहा। एकस्तानि का पत्र पहाड़ी नाच का प्रभाव-मात्र है। यक्ष, गन्धर्व आदि का स्वांग बनाकर वेश्याएँ विशेषकर मैलों-ठेलो में नृत्य-प्रदर्शन करती थीं। इसी कारण यह नाच बाद में यक्ष-गान कहलाया। कलाकारों की एक जाति का नाम ‘जक्कु’ था। यह जाति आज तक चली आ रही है। अल्प कवि ने यक्ष-गान के लक्षण कविता-वद्ध किये हैं। उसको दृष्टि में रखते हुए जब हम यक्ष-गान पर विचार करते हैं, तो पता लगता है कि यक्ष-गान के प्रधान गायक में ही क्रुद्ध हेर-फेर के साथ एकताल, त्रिपुट आदि का जन्म हुआ। एला, जोला, सुध्वा, धवल, वेन्नेनापद, विराली, तुम्मेदा, गोव्धिकोवेला, द्विपद, त्रिपद, चौपद, पट्पद, मंजर आदि भी यक्ष-गान से ही सम्बन्धित हैं। विजयनगर, तजावर, मधुरा आदि स्थानों पर यक्ष-गान ने अच्छी उन्नति की। कृष्णा नदी के तटवर्ती ग्राम कूचि-

१. ‘कुरुवं’ शब्द का पुराना अर्थ ‘पहाड़’ भी है : इससे ‘कुरुवंजि’—पहाड़ी नाच। ‘कुरवं’ (गडरिया) जाति के लोग भी पहले पहाड़ों में ही रहते थे। ‘पहाड़ी नाच’ अर्थ लेने से उसमें भील नृत्य की भी गिनती की जा सकती है—अनु०

पूड़ी में सिद्धेन्द्र नामक एक योगी ने भागवत-पुराण की कथाओं को यक्ष-गान का रूप दिया और अपने गीत के ब्राह्मणों द्वारा शास्त्रीय रूप में उनके प्रदर्शन का प्रबन्ध किया। तेलुगु में भी यक्ष-गानों का प्रचार इतना बढ़ा कि यक्ष-गायन की लगभग ५०० रचनाएँ मिलती हैं। इनमें 'मुषीक-विजयम्' सर्वश्रेष्ठ रचना है। इनके रचयिता रत्नकवि हैं। यह कवि सन् १५६८ ई० के लगभग हो गए हैं। 'मुषीक विजयम्' में त्रिपुट, अर्ध-चन्द्रिका, द्विपद, जपे, कुम्भ जपे, आर्टेतान, धवल, एता आदि का प्रयोग है। उसके अन्दर तेरागोत, सीम, उत्पलमाला, कदम आदि तीन-चार प्रकार के पद्य हैं।

इसी अध्याय में पीछे हम कह आए हैं कि 'शुक सप्तति' के अन्दर एककलिन को 'कोरवजि' कहा गया है, और वह अपने पति को सिंगरू कहती है। यक्ष तथा गधर्व शब्दों का प्रयोग गायन-प्रधान नाटकों के लिए ही किया जाता है। यक्ष-गान तथा गधर्व-गान बहुत प्रसिद्ध थे। नाटकों में परदे आदि तो मस्कृत तथा अंग्रेजी विधानों के अनुकरण के कारण हाल-हाल में आवे हैं। ४०-५० साल पहले यक्ष-गान का ही महत्त्व था। आज भी तेलुगु देश के अन्दर देहात में 'चबुलदमी' नाटक, बेडुूरि हरिश्चन्द्र नाटक, पारिजात हरण आदि यक्ष-गान दिखाये जाते हैं। साधारणतया यक्ष-गान के रचयिताओं को सौत के रगड़ों-भगड़ों की कहानियाँ अधिक प्रिय होती थीं। यक्ष-गान में परदे नहीं होने थे। गज-भर ऊँचा रगमच बनाकर उस पर लम्बे बिद्या दिये जाते हैं और उनके ऊपर स्त्री के साथ नाचते-नूदने हुए अभिनेता दंगों को लुमाने रहते हैं। मंच के दोनों ओर दो मंगालों जलती रहती हैं। मंच से कुछ दूर या पाम ही किसी घर में स्त्री भरे जाने हैं। स्त्री के पहुँचने ही मुट्टी-मुट्टी-भर बारीक राव डाल देने में मंगालों की लंबे भङ्क उठती हैं तथा उक्त प्रकाश में स्त्री बिल जाने हैं। स्त्री भरने वालों के चेहरों पर अरुण, नील आदि रंग लगे जाते हैं। गिर पर किरीट और भुजाओं पर भुजकीर्ति लगाये जाने हैं। संपारीघर में जब स्त्री चलता तो आगे-

प्रागे 'धपडा' बजाते हुए उमे रंगमंच पर पहुँचा दिया जाता। धपडे की धावाज से ऊँघने वाले दर्शक चौककर बैठ जाते थे। मशालों की भभकती लौ के साथ सूत्रधार जोर-जोर से सवाल करता—“हे स्वामी, आप कौन हैं जो इतने टाठ-वाट से प्यारे हैं ?” तब स्वांग उससे भी अधिक जोर से (यदि पुरुष हो तो) बोलता—“बया तू नहीं जानता मैं अमुक व्यक्ति हूँ, अमुक-अमुक मेरे प्रताप हैं, इत्यादि-इत्यादि।” कहकर आप-ही-अपनी बडाई जताता है। बीच-बीच में भांड समयानुसार छोटा-मोटा व्यंग कसकर सबको हँसा देता है। व्यंग क्या होता है, अधिकतर बकवास ही होती है। नगर-निवासियों को यक्ष-गान भेदे लगते हैं। गाना भी जोर का और नाच भी जोर का। आसमान फट रहा होता है और मच के तल्ले मानो घड़ी-घड़ी टूटना चाहते हैं। पर अब ये कम होते जा रहे हैं। इसके पहले कि ये एकदम मिट जायें, यह उचित है कि 'यक्ष-गान' करवाकर उनकी तसवीरें आदि उतार ली जायें और ध्योरे देकर पुस्तकें लिख डाली जायें। तभी जाने वाली पीढ़ियों के लिए इन यक्ष-गानों के स्वरूप के ज्ञान की रक्षा की जा सकती है। अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं में हम प्रायः जावा द्वीप के जातीय नृत्यों के चित्र देखते हैं। उनमें भी स्वांग भरने वाले के सिर पर किरौट और भुजाओं पर 'भुजकीर्ति' के प्राभूषण होते हैं। ये गहने हमारे यक्ष-गानों के गहनो से एकदम मिलते-जुलते हैं। जावा में रामायण तथा महाभारत की कथाओं को नाटक-रूप में दिखाया जाता है। यह तो अच्छे अनुसंधान से ही ज्ञात होगा कि हमारे पूर्वजों ने जावा आदि पूर्वी द्वीपों में जाकर अपने यक्ष-गान को वहाँ फैलाया अथवा वही से यह यक्ष-कला हमारे देश में आई। आन्ध्र के निवासी एकल हमारे ही देश के हैं, किन्तु वह जो भाषा बोलते हैं वह बिगड़ी हुई तमिळ है। निश्चय ही उनके पूर्वज तमिळ देश से आये होंगे। कोरवजी या तो इन एवँतो की ही एक शाखा है या जगली भीतो की। 'शुक सप्तति' में कोरवजि स्त्री का अपने पति के जंगलों से लाई वदनिवाओं को बेचना इस बात का प्रतीक है कि उनका सम्बन्ध

भीलो से था। अस्तु, यह स्पष्ट है कि यक्ष-गान जगली जातियों की कला है, जिसमें गायन की अपेक्षा नृत्य ही प्रधान था। इन जगली जातियों से ही हमारे नागरिकों ने उसे सीखा और उन्नत किया। आर्यों का सस्कृत के मुस्थापित नाटक-विधान को न अपनाकर यक्ष-गान पर ही अधिक जोर देना हम वान का प्रमाण है कि यक्ष-गान के प्रति तैलुगु जाति की आसक्ति अधिक थी।

यक्ष-गान के गीतों पर अल्पकवि ने लक्षण-शास्त्र लिखा है। व्याह के गीत, लोरियाँ, (जंतसार आदि से तुलनीय) कृटाई-विसाई के गीत आदि सभी यक्ष-गान के अन्दर आते हैं। अलग-अलग प्रकार के गीतों के अलग-अलग नाम हैं, जैसे श्रीधवल, सुव्रि, सुब्बाने, अर्धचन्द्रिका, रमदा इत्यादि।<sup>१</sup>

‘तलनामणिको कभी-कभी वह गायन हारो  
बड़े प्रेम से सिलवाती थी गुब्बा, शोभन,  
धवल आदि गीतों के गाने की विधि सारी।’<sup>२</sup>

इससे प्रचीत होता है कि उस समय देहाती स्त्रियों को इन गीतों में रुचि थी। ‘शोभन’ ही शीघ्र ‘शोभन-गीत’ कहलाये।<sup>३</sup> ‘गोधिवल-गीतों’ का भी प्रचार था। ‘गोधिवल’ गर्भगीत का ही तद्भव रूप ही सकता है। स्त्रियों का गोल-नोंड धूमने हुए, वार-वार झुक-झुककर और फिर गीतों ही होकर तानियाँ बजाने हुए नाचना ‘गोधिवल’ है।<sup>४</sup> बच्चों का गुल्लाने के लिए लोरियाँ गाई जाती थी।<sup>५</sup> दास्यणियों के गीतों में कोई विशेषता जरूर रही होगी। एक घोड़िन अपने पति में कहती है

१. दे० ‘अल्पकवीयम्’, आश्रवात ४।
२. ‘शुक सप्तमि’, १-५२३।
३. वही, ३-३५६।
४. वही, २-४३४।
५. वही, ३-४५०।

“बान्धनी से सौखा था एक गीत :

पति को बटु वचन जो सुनातो है,

सोट-पतंगों का जनम पातो है,—

इसीलिए तुम्हें गालियाँ देते, रहती थी भयभीत !”<sup>१</sup>

एना-गीतों को स्त्री-पुरुष दोनों ही गाते थे । ये गीत अधिकतर ब्राह्मणेतर जातियों के ही होने हैं ।<sup>२</sup> एता के पद-विधान के नमूने के तौर पर ‘मुद्रोव-विजयम्’ के इन पदों को देखा जा सकता है :

(१) “तुन मूरज के बंस जनमे, मारा दानवी को रन में,

अब क्या मुझ से निवाह का जतन न करोगे ?

हे राम, तुम्हारे गुन गाये मुनिराज, जी !

(२) तिल को कामिनी बनाया, शिवजी का घनु तोड़ गिराया,

अब क्या सीता से बियाह का जतन न करोगे ?

हे राम, जय-जय करे राजे-महाराज, जी !”

लिपि के सम्बन्ध में भी एक बात । नन्व-काल की लिपि को पढ़ सकने वाले आजकल कहीं इसके-दुवके ही मिलेंगे । काकतीय-काल से लेकर श्रीनाथ के समय तक लिपि के अन्दर परिवर्तन होने ही चले आये । तेलुगु लिपि में द्वित्व का प्रादुर्भाव सन् १५०० ई० के बाद ही हुआ है । ‘अप्पकवीयम्’ के द्वितीयाश्वास में दर्शागिन, पिप्पल सूत्र तथा उसके बाद के मूत्रों से व्यञ्जनाक्षरों के स्थान स्फ तथा स्वर के स्वरूपों का पाठ है । पर न जाने वह क्या वस्तु है ! पूर्वजों को भी इसका पूरा ज्ञान नहीं था । इसीलिए बाबिल्ला वालों ने पुरानी लिपियों का जो प्रकाशन किया है, उसमें भी कहा है कि लिपि में बार-बार परिवर्तन होते जाने के कारण समय-समय और स्थान-स्थान के शिला-लेखों और ताम्र-पत्रों आदि की लिपियाँ पूरी तरह पढ़ी भी नहीं जाती । नन्व से दो वर्ष पूर्व के शिवा-लेख भी मिलते हैं । इनलिए सन् २०० ई० से लेकर आज

१. ‘शुक सप्तति’, ३-१४८ ।

२. वही, २-१७२ ।



से एक सौ साल पहले तक अर्थात् मुद्रण-कला के आरम्भ होने तक की सभी लिपियों का शोध-परिशोध करके प्रत्येक अक्षर के परिवर्तनों पर प्रकाश डालने हुए एक विस्तृत ग्रन्थ लिखा जाना अत्यन्त आवश्यक है। अल्पकवि के हस्तलिखित पत्र जहाँ कहीं भी मिलें, लेकर उनके सभी भाव और अर्थ समझने की चेष्टा की जानी चाहिए। तेलुगु लिपि का सम्बन्ध निश्चय ही 'संस्कृत-लिपि' से है। किन्तु यह जानने की आवश्यकता है कि तेलुगु अक्षरों ने अपना वर्तमान रूप किस प्रकार पाया। जैसे, तमिल के एक ही अक्षर 'रं' से तेलुगु में 'ड', 'ल', 'उ' ये तीनों बने हैं। यह कैसे हुआ? ह्रस्व 'ए', 'ओ', 'च' और 'ज' तो प्राकृत में हैं। महाराष्ट्र में भी इनका प्रयोग है। इन सभी विषयों का समग्र रूप से अनुसंधान होना चाहिए। इसके लिए एक पूरा ग्रन्थ लिखा जाना आवश्यक होगा।

उस समय के साहित्य में सैकड़ों शब्द ऐसे मिलते हैं, जिनके अर्थ या भाव आज हम कुछ भी समझ नहीं पाते। शब्द-कोशों के अन्दर या तो वे शब्द हैं ही नहीं, यदि हैं भी तो 'पक्षी-विशेष', 'जन्तु-विशेष', 'भाव-विशेष'-मात्र देकर पर्याय-शूची समाप्त कर दी गई है। इस सम्बन्ध में भी विशेष परिश्रम की आवश्यकता है। मेरे पास 'शुक सप्तति' में ऐसे शब्दों की सन्धी-चोड़ी शूची बन गई थी। श्री सीतारामाचारी ने उग शूची को अपने पास रखकर कुछ दिन बाद कुछ-एक ही व्याख्या कर दी, पर सैकड़ों शब्दों को उन्होंने भी छोड़ना ही छोड़ दिया। वाचस्पति तथा 'गुरुरायाध निघट्ट' आदि शब्द-कोशों में भी बहुत सारे शब्द नहीं हैं। कुछ हैं भी तो केवल 'श्रीश-विशेष', 'पक्षी-विशेष' के पर्याय देने के लिए ही। शब्द-कोशों में जो शब्द नहीं हैं उनमें से कुछेक का स्वीरा हम यहाँ दे रहे हैं : पमुला गोडा—शब्दार्थ से दूरी या बाढा होता है, परन्तु तेलुगु में यह शब्द फारसी शब्द फमीन का ही स्वीर है।<sup>२</sup> वंटाणि—

१. बाह्यो (?)—स० हि० सं० ।

२. 'शुक सप्तति', १३६ ।

पैठन शहर की बनी घोती या साडी ।<sup>१</sup> बंदाराकू— चट्टान पर 'बंदार' के पत्ते बिछाकर जगलो मे गडरिये सोया करते थे ।<sup>२</sup> 'शब्द रत्नाकर' मे इसका अर्थ 'एक पेट'-मात्र दिया है । वास्तव में यह कोई पेड़ नहीं, बल्कि एक प्रकार की बेल होती है । तेलगाने मे इसे 'बंदाल' कहते हैं । वर्षा-काल मे सेतो मे खूब हरी-हरी घास फैल जाती है । उसकी पत्ती को हाथों से रगड़ने पर एक प्रकार की सुगन्धि निकलती है । ज्यों-ज्यों रगड़ते जायें त्यों-त्यों खुसबू बढती जाती है । खेतों मे काम करने वाली मजदूरिमें अपनी चोटियो मे बंदाल के पत्ते गूँथ लेती हैं । अब भी जिन जगहो पर यह बेल होती है वहाँ गडरिये वर्षा-काल मे इनकी पत्ती बिछाकर लेटने हैं ।<sup>३</sup> गुडिमुद्रा—यह शब्द 'शुक सप्तति'<sup>४</sup> मे आया है । गुडि मंदिर को कहते हैं । मंदिर मे देवी-देवताओ के नाम छोड़े जाने वाली गाय-बैलो पर छाप लगा दी जाती थी; लोहे आदि की मुद्रा को गरम करके उस पशु को दाग दिया जाता था । यह निशान देखते ही लोग उस पशु को भगवान् की वस्तु समझकर छेड़ते नहीं थे, खेत चरने पर भी मारते नहीं थे ।

ईलकत्ति शब्द भी 'शुक सप्तति'<sup>५</sup> मे प्रयुक्त हुआ है । शब्द-कोश में यह शब्द ही नहीं है । कृष्णा-गीदावरी के जिलों मे, जिसे 'बत्तिपीरा' कहते हैं, उसीको तेलगाने मे 'ईलपीरा' कहते हैं, सराड़ी की एक छोटी-

१. 'शुक सप्तति', १-१२६ ।

२. वही २-३४२ ।

३. दूसरा सम्भव अर्थ यह भी है कि यह 'बंदा' हो । 'बंदा' संस्कृत शब्द है । यह एक परगाछा पीघा है । आम, महुए, पोपल, बड़ आदि पुराने पेड़ों पर बरसात में उग आता है । स्वतन्त्र कहीं नहीं उगता । पत्ते चौड़े और फूल जरा-सी खुलती पतली तीलियों के गुच्छों की तरह होते हैं, रंग में लाल और पीले ।—सं०हि०सं० ।

४. २-५०७ ।

५. ३-५७ ।

सी पट्टी में धारदार लोहे की पट्टी लगी होती है। इससे औरतें रसोई में सब्जी-तरकारी कतरती है। गजमुक्षकपित्त्य—हाथी का खाया कईत्य। आधार कथा—'निरकुम्भोपारयान'<sup>१</sup> तथा 'सुमति-गतक' में भी इसकी उपमा दी गई है। (कहने हैं कि हाथी जब कईत्य के फल को चवाता नहीं, सीधे निगल जाता है, और उसके हगने पर पूरा फल ज्यों-ज्यों गोबर के साथ गिर पड़ता है, किन्तु फोड़कर देखने पर उमका गूदा गामय रहता है। छिनका टूटे बिना ही अन्दर का गूदा कैसे पच सकता है भला ?) यह अर्थ ही गलत है। वास्तव में 'गज' एक प्रकार के कीड़े को कहते हैं और यही अर्थ ठीक है।

बोम्मा कट्टुटा अथवा पुतलो बांधना भी हमारे गैंडो-हजारो भूले-त्रिमरे शब्दों में से एक है। यह नहीं सकते कि यह क्या बतता है और इसका इतना प्रचार कैसे हुआ। 'आन्ध्र महाभारत' में तो कवियत्री ने इस शब्द का प्रयोग कहीं नहीं किया। जान पड़ता है कि कवि तिरुक्कना तथा कवि एर्रा प्रगडा के मध्यवर्ती काल में वर्तमान कवि नाचनासोम ने इस 'बोम्मा कट्टु' का प्रयोग पहले-पहल किया है। 'उत्तर हरिवंश'<sup>२</sup> में उनके शब्द हैं : "पासिक बोम्म कट्टु बुन् !" अर्थात् 'पुतला बांधूंगा !' रेड्डी तथा बेलमें राज्य-काल में इस प्रथा का प्रचार मूज बढ़ा। आज भी आन्ध्रों में यह प्रथा कामय है। श्रीनाथ ने स्पष्ट रूप से बताया है कि

"अस्ताड भूपति ओर विन्नु बंटे होते जब भरे हुए दरवार में,  
तब वाम-पद-वलय के पीछे भुभुज लटकते होने पुतले बनकर सरदार में  
ओ' देख-देखकर बड़ा मठा घाता हमको....."<sup>३</sup>

मुमत्तमानों के हाथों स्वयं अपनी दुर्गति का विचार न करके रेड्डी तथा बेलमें राजा आपस में ही मूज मट्टे थे। एक-दूसरे को मारार

१. ३५।

२. ३-११७।

३. 'काशीसंघ पीठिका', पृष्ठ ४५।

उनकी आकृतियों के पीतल के पुतले बनाकर अपने गंडावेंडारम ( वडे कडे) में लटका लेते थे और उस कडे को अपने घुटनों पर पहन लिया करते थे। इस प्रकार अपने शत्रुओं का अपमान करके वे अपने मन की भडास निकालते थे।

‘वेलुगोटि-वशावली’<sup>१</sup> में इस पुतली रखने अथवा बांधने-पहनने के सम्बन्ध में विस्तार से लिखा हुआ है :

“अता पोतना अपने वैरियों का संहार करके उनके पुतले बांधता था। आठलू को मारकर उसके बच्चों के पुतले बनवा छोड़े थे। फिर दाचना, सिंगय्ये को पकड़कर बता दिया कि पुतला किस प्रकार बांधा या धारण किया जाता है।

“कुमार वेदगिरि ने अनावेमा रेड्डी के छोटे भाई माचा रेड्डी को मारकर उसका पुतला बांध लिया था। अनावेमा रेड्डी ने भी वेदगिरि के छोटे भाई को मारकर उसका पुतला बांध लिया। फिर विमा रेड्डी का संहार करके उसका भी पुतला बांध लिया और ‘सिहतलाट’ की पदवी धारण कर ली। थोनाथ ने उससे ‘नंदिकता पोतुराज’ नामक जो कठालि ले ली थी, उसे पुनः प्राप्त किया।”<sup>२</sup> इसी प्रकार—“यत्न पूर्वक बांध रखी कोमारगिरि रेड्डी पुतली का ध्यान तो नहीं रखा!”<sup>३</sup>

इस पुस्तक के द्वितीय संस्करण से कुछ दिन पहले एक जगह हमने एक मदारी की भीड़ देखी। एक मदारी रस्सी को मुरगी के खून से लथ-पथ करके उमका छोर अपने घुटने पर बांधकर, दूसरे छोर को गले से लटका रहा था। घुटने से नीचे रस्सी से पीतल का एक पुतला लटक रहा था। उमने कहा कि यह लोभियों यानी कंजूसों-मन्थीचूसों का पुतला है। अपना जादू-मन्त्र जो दूसरों की नहीं बतलाते वे तो पैरो

१. संप्रक : नेलदूर वेंकटरमण्य्यं । प्रकाशक : मद्रास विश्वविद्यालय ।

२. ‘वंशावली’, पृ० १०७ ।

३. वही, पृ० १०८ ।

में बांधार धपमानित किये जाने योग्य हैं ही। मदारी के शब्दों से हमारा समाधान हुआ ! शत्रुओं का अपमान करना हो या एक बार कर चुकने के बाद उसकी याद ताजा बनाये रखनी हो, तो उन शत्रुओं की पुतली बांधी जाती थी। अस्तु, तेलुगु-देश में इस पुतली-बधन का सूत्र प्रचार था। विशेषतया सन् १२०० ई० से यह प्रथा यहाँ चल पड़ी थी।

रणभोज—वैदिक विधान के विपरीत द्रविड देवी-देवताओं की पूजा की प्रथा आन्ध्र-देश के अन्दर प्राचीन काल में चली आई है और स्थायी हो चुकी है। ब्राह्मणों की जातियों में इन शक्तियों के प्रति जैसी श्रद्धा है, वही श्रद्धा महादेव शिव अथवा विष्णु भगवान् केशव के प्रति नहीं है। देहानों के गांव-गांव में ऐसे छोटे-बड़े देवी-देवता घर रखे हैं। बड़ी देवी की पूजा में हर सात निश्चित तिथियों पर मन्दिरों के सामने भैंसे की बलि दी जाती है। ये मन्दिर परोंदे के समान छोटे-छोटे ही होते हैं, पर बलि बड़ी-बड़ी चढ़ाई जाती है। मटके-के-मटके चावल पकते हैं, भैंसे कटते हैं, उनके रून से चावल गानने हैं, निश्चित सीमा तक मन्दिर और गांव के चारों ओर उस रक्तान्न की रेखा डालने जाते हैं। बीच-बीच में चकरे-मुरगे आदि भी कटते जाते हैं। इस भूत-बलि कहते हैं। भूत-बलि देने वाले उम्र व्यक्ति को 'भूतपित्त-गाडु' कहते हैं। अग्न में यह शब्द 'भूतबलिगाडु' अर्थात् भूत-बलि देने वाला है। उन 'भूत-पित्तगाडु' का भी विचित्र स्वांग होता है। उसके शरीर के सात बाल मुँह दिये जाते हैं। छोटी या भीड़ कुछ भी नहीं रह जाती। एकदम नंगा हो जाता है, लँगोटी भी नहीं पहने होता। रक्तान्न का घड़ा गिर पर उठाता है और पोलि (बलि) पोलि के नामे लगाना हुआ डाल-डाली के साथ गांव के चारों ओर उस रक्तान्न की भूत-बलि छोड़ता जाता है। प्राचीन काल में जब लोग लडाई के लिए कूच करने थे, तब सम्भव है शक्तिनी-शाकिनी आदि महा शक्तियों की बलि चढ़ाने रहे हों और युद्ध में जीतने पर चावल पकाकर शत्रुओं का भाग और रक्तान्न पोलि अथवा बलि चढ़ा देने रहे हों ! 'बेलगोटि बगावलि' नामक पुस्तक में

निम्ना है कि वेकमें-नरेशो ने ऐसा किया था।—“कोंडामल राजु आदि राजाओं के प्राण हर के, एक सौ एक राजाओं के सिर काटकर, इण्ड्यावन राजाओं को पत्थर को दंग (चबकी) तले पीसकर तैंतीस राजाओं को देवी की पूजा के लिए पकड़ लाकर उनकी आरक्षणार्थि चढ़ाकर, दिगम्बरी, काली, महाकाली, शाकिनी, डाकिनी, वायता, कापिनी, भूत, प्रेत, पिशाचों का स्मरण करके 'हे रणदेव, महारण-राजा हे रणधूर महा-रणवीर' कहते हुए भतौला, भंरव, वीरभद्र, रणपोतुराज, कलह कंटकी आदि देवताओं की जय-जयकार मनाते, कलह अथि देवता की आराधना करके, ध्यान-पूजा के साथ महाकाली के सामने वीर प्रतापी नरेशों को नरबलि चढ़ाकर, रणभोग चढ़ाकर उनके रक्त से अपने पितरों का तर्पण करके (पानी देकर) कृतार्थ हुए !”

दिगम्बरी देवी की आराधना करने वालो के लिए स्वयं दिगम्बर रहना भी शायद जरूरी था। आर्यों के दक्षिण पथ में प्रवेश करने में पहले डंडकारण्य के निवासी एबदम नगे ही जंगलो में घूमा करने थे। यह दिगम्बर-प्रथा भी उसीकी यादगार थी।

जिस प्रकार 'भूतपिल्लिगाटु' और 'भूतबलिगाटु' एक ही हैं उसी प्रकार 'महारणराजु' तथा 'रणपोतुराजु' भी एक ही हो सकते हैं। 'पोतु' माने भैसा। अर्थात् पोतुराज को भैसे पसन्द थे, इन्हींलिए भैसे की बलि दी जाती थी। बेलमें राजाओं के कान में जार पकड़ गई यह प्रथा आज तक हमारे पैददेवरा (बडा देवता) की पूजा के रूप में जमी हुई है। शूद्रों को शिव अथवा केशव की अपेक्षा इन शूद्र देवी-देवताओं के प्रति कहीं अधिक अगाध श्रद्धा है। 'विष्णुमादा' नामक ग्रन्थ की भूमिका में लिखा है कि शिवजी तथा मोहिनी के संयोग से शास्त्र का जन्म हुआ और वही शास्त्र हमारा 'पोतुराज' है। 'शास्त्र' देवता की पूजा आज भी मलयाल-देश (केरल) में होती है। मनशामी तथा टन्दिल 'शास्त्रन' अथवा 'चात्तन' के नाम से 'नेटम्' देवता की पूजा करते हैं।

### साम्प्रदायिक स्थिति

उन दिनों वैष्णवों और शैवों में साम्प्रदायिक विपत्ता और भी बढ़ गई थी। अद्वैत सम्प्रदाय के विशेषाभिमानी अण्णय्ये दीक्षित ने सारे भारतवर्ष का भ्रमण करके १०४ ग्रन्थों की रचना की और शैव मत का विस्तृत प्रचार किया। ठीक उन्ही दिनों वैष्णवाचार्य तानान्वारी ने विजयनगर के सम्राटों को वैष्णव धर्म की दीक्षा देकर सेतुबन्ध रामेश्वर से लेकर विन्ध्य पर्वत तक अपने सम्प्रदाय का प्रचार किया और शैवों की बलात् वैष्णव बनाया। अण्णय्ये दीक्षित ने फिर उन्हें शैव बनाया। पर वे फिर से वैष्णव बना लिये गए। ताताचारी का बलात्कार इतना बढ़ा था कि ग्रान्थ देश में एक बहावत हो चत गई थी कि वही भी भागो ताताचारी की मुद्रा से छुटकारा नहीं पा सकते। इसी प्रकार मरिक्किट मुद्रा भी मगहूर की और आज भी तेलगाना में मरिक्किटी वालों को सह्या काफी बड़ी है।

उक्त अण्णय्ये जन्म से तमिल थे। इसलिए उन्हें 'अण्णय्ये' भी कहने हैं। किन्तु तेलुगु नरेशों का आश्रय पा जाने के कारण उन्होंने तेलुगु भी सीख ली थी। उन्होंने स्वयं कहा है

“ग्रान्थप्रत्यमोअ भाषा च नात्पस्य तपसः फलम् !”

महालिंग शास्त्री ने अपनी निरुण्य दिया है कि अण्णय्ये दीक्षित का जीवन-काल सन् १५२० से १५६३ तक रहा है। अण्णय्ये ने अपनी वृद्धावस्था में अपनी जन्म-भूमि 'अद्वैत पानिम्' में श्री बालव टेश्वर महा-देव का मन्दिर बनाकर १५८२ ई० में उमकी पूजा की थी। गुविन्पात विद्वान् रंगराज मरिय उनके पिता थे। अण्णय्ये ने बैसूर के नायक नरेश योग्गानायक के यहाँ अपना आसन जमाया था। उन्होंने भूमे-विगरे 'श्री कंठमार्प्ये' का पुनरुद्धार किया और उग पर 'निवाकमणि-दीपिका' के नाम से एक विद्वत्तापूर्ण व्याख्या लिखी। उन्होंने अपने ५०० शिष्यों की विधिपूर्वक शिक्षा-दीक्षा देकर शैव-सम्प्रदाय के प्रचार के लिए सारे देश में फैला दिया था। योग्गानायक ने टंको और दीनारो में अण्णय्ये

दीक्षित का कनकाभिषेक करवाया था ।

यहाँ पर एक तीमरे सम्प्रदाय की चर्चा हो जानी चाहिए । 'विजयाद्य भिक्षु' ने माध्व सम्प्रदाय का प्रचार किया । यदि अल्पव्यं का कनकाभिषेक हुआ था तो विजयान्द्र भिक्षु का 'रत्नाभिषेक' हुआ । अर्थात् उन्हें रत्नों से नहलाया गया था ।

“विद्वद्भरोऽस्माद्विजयो प्रयोगी विद्यानुहृद्यास्वतुल प्रभावः ।

रत्नाभिषेकम् किल रामराजान् प्राप्याप्रतक्षीन्वृत्त्वाप्रहारात् ॥”

विजयान्द्र ने अपना प्रचार बढ़ाकर अल्पव्यं के साथ कटार-मे-कटार भिड़ाई थी, पर उसे आखिर हारकर भागने ही बना । ताताचारी ने भी अल्पव्यं पर बार-बार-बार कराये, पर शास्त्रार्थ में उससे पार न पा सके । कहते हैं कि ताताचारी ने अल्पव्यं दीक्षित को भरवाने का भी चेष्टा की थी, किन्तु ताताचारी के मन्त्र-तन्त्रों की परवाह न करके अल्पव्यं दीक्षित राजा बंकटपति राय के शासन-काल में भी सात साल तक जीवित रहे और ७३ वर्ष की वृद्धावस्था में अपनी जीवन-लीला समाप्त की ।

एक चौथे असाधारण व्यक्ति की चर्चा भी यहीं पर हो जाय । 'रत्नसेट दीक्षित' राजा जीजी नायक के गुरु भी थे और मन्त्री भी । वह महान् विद्वान् थे । उनकी असाधारण योग्यता के सम्बन्ध में लिखा है :

“विपश्चित्तामपश्चिमे, विवाद केलि निश्चले

सपत्न जित्यमत्नमेव, रत्नसेट दीक्षिते

बृहस्पति बव जल्पति, बव सपति प्रसर्पराट्

असन्मुखश्च पम्पुअश्च, तुमुंखश्च दुमुंखः !”

उम समय के एक और दिग्गज पंडित थे गोविन्द दीक्षित । सन् १५२७ में इन्होंने तंजावर में रघुनाथ राय को राजगद्दी पर बिठाया था ।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है विजयनगर-नरेश रामराजुराय ने ताताचारी को और उसके बाद उसके बेटे को अपने दरबार में आश्रय देकर वैष्णव धर्म के प्रचार में त्वव सहायता दी । ताताचारी के घोर प्रचार तथा क्रूर नीति के कारण रामराजु को शीवों का विद्वेष सहना पड़ा ।



इस प्रकार शैव, वैष्णव तथा माध्व सम्प्रदायों के आचार्यों ने अपने-अपने सम्प्रदाय के प्रचार के लिए हिंसारमक नीति को भी अपनाकर अपने-अपने दिव्य नरेशों को एक-दूसरे से भिडाकर हिन्दू राज्य की दुबल करने के और अन्त में उसके विनाश के कारण बने। विजयनगर साम्राज्य के पतन और उसके बाद की अराजकता और देश की दीन-हीन अवस्था के लिए मन्त्र-तन्त्र के ये आचार्य कितनी बड़ी हद तक जिम्मेदार हैं, इसका विस्तृत ध्यौरा देने के लिए एक अलग ही ग्रंथ की आवश्यकता होगी।

उम समय के प्रचलित अनेक शब्द हमारे शब्द-कोशों में नहीं मिलते। इसका एक कारण है। भाषा में ग्राम्यिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार के शब्द रहते ही हैं। बोल-चाल के शब्दों को अशिष्ट ममभवर शब्द-कोश में न देने का परिणाम यह हुआ कि आज उनको बोलते और बताने वाला कोई नहीं रहा। इस प्रकार साहित्यकारों का बोल-चाल की भाषा की अठ्ठेलना करना स्वयं साहित्य के लिए घातक है।

### इस ग्रन्थ के आधार

१. शुक सप्तति—रचयिता श्री कदरीपति। 'शुक सप्तति' उत्तम कोटि की रचना है। सामाजिक इतिहास के लिए इसका प्रथम स्थान है। इसके दो सम्करण छद्म चुके हैं, किन्तु उनमें त्रुटियों की भरमार है। यादविला के सम्करण में कुछ पद्य रह गए हैं। वे लेखक के पाम हैं। इस ग्रन्थ के एक सौ से अधिक शब्द शब्द-कोशों के अन्दर नहीं हैं। इसके अन्दर घाट कथाएँ ऐसी हैं जो प्रेम-शृंगार आदि में प्रसूनी हैं। शृंगार में नाक-भी चढ़ाने वाले गज्जन इन घाट कथाओं को तो अलग में प्रकाशित कर ही सकते हैं। चदनाम तो यह ग्रन्थ है, किन्तु यास्तव में सुप्रसिद्ध शिष्ट प्रबन्ध-काव्य कहलाने वाले शृंगार 'नैपथ्य', 'हरविलास', 'वैजयन्तीविनायक', 'ब्रह्महणीयम्', 'कुमारसम्मव' आदि ग्रन्थों में जिन भोगादियों का विपुल वर्णन है, वह इसमें नहीं है। इस ग्रन्थ को एक अछो भूमिका के साथ, अलंकारों को सुधारकर कठिन तथा अप्रचलित शब्दों के

अर्थ के साथ मुन्दर रूप में प्रकाशित कर ही देना चाहिए ।

२. वैजयन्ती माला—रचयिता सारगतिम्मयें । इसी कथानक को 'विप्रनारायण चरित्र' के नाम से चदलवाडा मल्लन्ता ने भी लिखा है । कविना इसकी वैजयन्ती विलास से प्रीड है । किन्तु हमारे सामाजिक इतिहास के लिए वैजयन्ती ही अधिक उपयोगी है ।

३. पांडुरंग माहात्म्यम् (अथवा पादुरंग विजयम्)—रचयिता तेनालि रामलिंगम् । मुप्रसिद्ध हास्य कवि तेनालि रामलिंगम् से इनका कोई सम्बन्ध नहीं । इस पुस्तक का 'निगममर्षोपाख्यान' विशेष रूप से हमारे इतिहास के लिए अत्यन्त उपयोगी है ।

४. मल्हण चरित्र	रचयिता	पेदनाटी एरंनार्य
५. साम्बोपाख्यान	„	रामराजु रगप्पा
६. विप्रनारायणचरित्र	„	चदलवाडुमल्लना
७. चन्द्रभानुचरित्र	„	तरिगोप्यनु मल्लना
८. निरंकुशोपाख्यान	„	सकुमाल रद्रकवि
९. अप्पक्वीयमु	„	कावतूर अप्पकवि
१०. गडिकोटमुट्टि		

११. पचतन्त्र—रचयिता वेकटनाथ । इन्होंने अपने सभी वर्णन प्रजाजीवन से लिये हैं । अपनी हास्य-प्रियता, उभय-भाषा-वैदुष्य तथा उत्तम कविता को अपने नोकानुभव के साथ ओत-प्रोत करके प्रकाशित करना वेकटनाथ का ही काम है । वीरेगलिंगम् पंतुलु ने इस ग्रन्थ पर लक्ष्मण वैह्व्य का लाछन लगाया है, पर यह ठीक नहीं । कवि ने लक्ष्मणों की अपेक्षा भावों को अधिक प्रधानता दी है । कविता उत्तम कोटि की है, और सामाजिक इतिहास के लिए बड़े काम की है ।

१२. वेलंगोरि वंशावलि ।

: ६ :

## सन् १६०० से १७५७ तक

विजयनगर के पतन के साथ सन् १६३० ई० में आन्ध्र जाति का पतन परिपूर्ण हुआ। हिन्दुओं के पतन तथा मुसलमानों की उन्नति के कारणों पर पिछले अध्यायों में सदर्भानुसार जगह-जगह चर्चा की गई है। विशेषतः स्मिथ ने अपने 'ऑक्सफोर्ड इण्डियन हिस्ट्री' में इस विषय पर विस्तृत चर्चा की है।

मलिक काफूर ने उत्तर में दिल्ली से जो झंडा उठाया तो उसे बिना झुकाये जीत-पर-जीत पाते हुए दक्षिण में सीधे मदुरा तक पहुँच गया। इसमें आश्चर्यजनक तो मिपहसालार मिलजी का सन् ११६७ में २०० घुड़सवारों को लेकर बिहार पर कब्जा करना है। उससे भी आश्चर्य की बात है ११६६ में उसका केवल १२ घुड़सवारों के साथ बगाल के नदियाँ नहर पर टूट पड़ना और राजा का पिछनी विडकी से भाग निकलना ! उन दिनों बगाल और बिहार की प्रजा अधिकांश बौद्ध थी। अहिंसा धर्म से ही उसकी यह दुर्गति हुई थी। यह तो मानना ही पड़ेगा कि हिन्दुस्तान के इतिहास में हिन्दुओं तथा बौद्धों का पतन अत्यन्त ही लज्जापूर्ण घटना है। उत्तर में मिलजी मुल्तानों ने और दक्षिण में बहमनी मुल्तानों ने हिन्दुओं को मविष्यों की तरह मगल दिया था। क़िरोत्तसाह बहमनी का नियम था कि बीस हजार हिन्दुओं की हत्या करने पर तीन दिन तक जयान मनाया जाय। एक बार तो उसने पाँच

नाथ हिन्दुओं को मौत के घाट उतारने के बाद रोड़ा खोना था । हिन्दू जान बचाने के लिए नाथों की तादाद में मुसलमान बने । कारण क्या है ? विसेन्ट स्मिथ से सुनिये :

“युद्ध-क्षेत्र में मुसलमान हिन्दुओं से निश्चय ही कहीं अधिक निपुण थे । जब तक मुसलमान भोग-विलास में नहीं फँसे, तब तक उनसे लोहा लेना हिन्दुओं के बस का रोग न था । बरफानी पहाड़ों से उतरे हुए ये मुसलमान गर्म मंदानों के हिन्दुओं से अधिक बलवान थे । उनके मांसाहार में शाकाहारी हिन्दुओं को हदम करने की शक्ति थी । उनमें जात-पाँत नहीं थी, छुआछूत या खान-पान के नद-भाव नहीं थे । उनको यही शिक्षा मिली थी कि काफ़िरों को मार डालने से जन्नत मिलेगी या जंग में मारे जाने पर शहीद बनकर सीधे स्वर्ग में स्थान मिलेगा । वे पराये देश से आये थे । वे जानते थे कि हारने पर उनकी बरबादी निश्चित है । इसलिए उनका नारा था—जीत या मौत । उन्होंने अपने क्रूर कृत्यों से हिन्दुओं को दबा दिया । मन्दिरों-शहरों और वस्तिगों में सोना-चाँदी, हीरे और जवाहरात भरे थे । इसलिए वे जानते थे कि उनकी बहादुरी बेकार नहीं जायगी । बस युद्ध में जात की बाज़ी लगा देते थे । हिन्दुओं की युद्ध-नीति पौराणिक युग की थी । वे प्राचीन नीति-नियमों पर ही भरोसा किये बँठे थे । उन्होंने नये युग की स्थितियों के अनुकूल अपने को बदला नहीं था । हिन्दू-सेना में निम्न-भिन्न जात-पाँतों और उनके अनेक सरदारों की न तो एक जाति थी और न ही वे किसी एक के नेतृत्व में युद्ध ही करते थे । विदेशी सेना की एक जाति थी और उनका एक ही सरदार था । हिन्दुओं की भयभीत करके नितर-बितर करने के गुण उन्हें खूब याद थे । सासकर मुसलिम घुड़मवार जब बंधड़क हिन्दुओं के बीच घुस पड़ने लगे हिन्दू अपनी सुघ-भुष लगे बँटते थे । प्राचीन पद्धति के अनुसार हिन्दू हाथियों पर अधिक विद्वान्त रखने थे । यह उनकी मूल थी । घोड़ों के भूपाटों के सामने हाथी की घोमी चाल चल नहीं सकती थी । हिन्दुओं ने अपने पास घुड़मवार सेना नहीं रखी और रखी भी तो

उसे तरबकी नहीं दी।”

इस इतिहासकार का कथन अक्षरशः सत्य है।

विजयनगर के महाराजागण घुट-घुरू में मुसलमानों से मोरचा न ले सके। द्वितीय देवराय ने (सन् १४२१ से ४८ तक) मुसलिम घुड-मबारों और उनके तोरदाजों के महत्व को पहचानकर अपनी सेना में भी मुसलमानों की भरती की। उनको खुश रखने के लिए मसजिदें बनवाई और उन्हें मुँह माँगा दिया। पर सब बेकार। अन्त में देवराय को यहमनी मुलतानों से मुनह करने ही बनी। उन्हें मालाना कर देना स्वीकार करना पडा।

तालीकोट की लडाईं सन् १५६५ में हुई। उसके साथ ही भाद्र की राजनीति कमजोर पड गई। विजयनगर छोडकर उन्होंने कुछ दिनों तक पेनुगोडा में गद्दी संभाली। उसे भी छोडकर जब चन्द्रगिरी पहुँचे तब तो भाद्र जानि का राजनैतिक महत्व मटियामेट हो चुका था। सन् १६०० ई० तक मुसलमानों की दूरमत अकेले गोलकोंडा में ही थी। गोलकोंडा के मुसलमानों ने एक ही गुद शिया होने के कारण और दूसरे बगल में ही विजयनगर के बनवान राज्य के मौजूद होने के कारण हिन्दुओं पर अत्याचार नहीं किये। लेकिन तालीकोट की लडाईं के बाद दक्षिण में मुसलमानों का बोल-बाला हो गया। अब तक बाबतीय विजय तथा बेलमें रेड्डी राजाओं के अपनी-अपनी सीमाओं के अन्दर सतर्क रहने के कारण मुसलमान भाद्र पर आधिपत्य जमा नहीं पाये थे। इसलिए मुसलमानों का जो कडवा अनुभव उनर हिन्दुस्तान के हिन्दुओं को था, वह दक्षिण बाली को नहीं था। अचानक सन् १६०० ई० में और उसके बाद लगातार १५० वर्षों तक मुसलमानों की घडाइयों का मिल-मिला बढ़ता रहा और बर्नूल, कटवा और गुण्टूर में नवाबी राज्य कायम हो गए। उत्तर सरकार का जिला भी उनके अधीन हो गया। इस प्रकार एक और मुसलमान आतनावियों ने और दूसरी और पिडारों और मुटेरी ने प्रजा को तरह-तरह की तकलीफें देकर नूट-मार मचाईं ! मन्दिर तोड़

दिये गए। महिनाग्रो का मान भंग किया गया। उन घोर यातनाग्रो का चित्रण हम कविताग्रो, पुस्तको और कहावतो के रूप में आज भी देख सकते हैं। जब विशाखापट्टम की सीमा में मुसलमानो का प्रवेश हुआ तो प्रजा की दुर्गति देखकर वहाँ के कवि गोगुलपाट कूर्मनाथ ने 'सिहाद्रि नरसिंह शतक' के नरसिंह भगवान् को ही गानियाँ मुना दी और 'सिहाद्रि नरसिंह शतक' के नाम से एक आक्रोशभरी पुस्तक लिखी। वह १७००-१७५० ई० के लगभग हुए थे। मुसलमानी फौजें पोटनूर, भीममिर्गो, जामी, चोड वरम् आदि इलाको में घुसी और मन्दिरों को लूट-पाटकर फिर उन्हें तोड़-फोड़ डाला तथा मनमानी करती हुई गुजर गईं।

कवि कहता है :

“न सोमयाजी महाराज की पूजा का नलदार कलश  
कलश रहा अब, उसमें तुकों की लगती हुकरे की कश !  
यत्नों के मंडप मटप अब कहां रहे ?  
उनमें तो मात्र तुकं तमाखू पान !  
यूरुदान बन गए हवन के पात्र !  
चन्दन चूल्हे का ईंधन !  
अरिसंहारी नरसिंह भगवान् !  
कैसे सहता है तू यवनो से विप्र-  
पराभव का अपमान ?”

सत्ते-खाने मीठी पूटी भी कड़वी हो जाती है !”

फिर कवि भगवान् पर बिगड़कर उसे मुसलमान बन जाने की सलाह देता है। कविता में भगवान् को जो कपड़े पहनाये हैं उससे उस समय के मुसलमानों की पोशाक का पता चलता है :

“त्याग जटा, जुल्फें सँवार ले, बाँध पगड़िया तुरादार  
माथे का टीका पुँछवा ले, कूण्डल अपने फँक उतार  
चोगा-याजामा कस ले, पेटो बस, उसमें लॉस कटार,  
पत्नी नाँचारम्भा के बीबी नाँचारी नाम पुकार,

सोख तुरुक भाषा नूसिह ! देवाधिदेव तू है बंकार ।  
दम ही नहीं घगर तुझमें, तो तुरुकों का ही बाना धार  
नोचों की बंबगी-सत्तामी तेरी, सहन शक्ति के पार ।”

आगे कहता है .

“खल बटोहियों को घर-घरकर सबकी नाकें काटते हैं,  
तू टुक-टुक देखा करता, ये धूतं सूटते-पाटते हैं !  
हाथ गुहारें मची हुई हैं सभी धोर, तू बहरा है !  
तुक्तं हमारी स्त्रियाँ बाँध लें, तू पत्थर का पहरा है !  
गाँवों के घून्हे ठंडे हैं खेती-बाड़ी उजड़ी है ।  
घर की भगवाड़ी-पिछवाड़ी बाड़ी-भाड़ी उलड़ी है !  
एक लंगोटी छोड़ सभी कुछ सूट ले गए तुक्तं हाथ !”

एक जगह कहा है कि मुसलमानों ने अन्त में जब सिहाद्रि नूसिह भगवान् के मन्दिर पर भी धावा बोल दिया, तब कवि कहता है कि भगवान् ने वरों की फौज भेज दी और मुसलमान भाग खड़े हुए । कवि आगे कहता है कि जब तुम्हें रोप घा ही गया है तो इन मुसलमानों का रूप हो मिटा डाल और आध्र मस्तिष्क की रक्षा कर !

बाचीवरम् के निवामी कवि बेबटाध्वरी सन् १६००-५० के लगभग के हैं । उनके लिखे मस्तुत ग्रन्थ 'विद्वजगुणदर्शन' में भी मुसलमानों के अत्याचारों का वर्णन है । कुछेरु अत यहाँ दिये जाते हैं

“हाथ, इस आन्ध्र देश के अन्धर सदा सर्वदा महामानी, मुसलमान हो घूमते-फिरते दिगाई पड़ते हैं ।

‘यहाँ पर घुइसवार मुसलमान मन्दिरों में घुसकर उन्हें घूम में मिला रहे हैं और धर्म का विनाश करके, भुवन-भीकर रूप धारण किये विचरते हैं ।

“एक भी मुसलमान गुस्से में आकर तलवार घुमाते हुए संशन में कूद पड़े, तो आन्ध्र सैनिक चाहे एक हजार भी क्यों न हों, उन्हें भागने

ही बनती है !

“हां उन्हें ताड़ी छूब पीने दो, पराई स्त्रियों का हरण करने दो, घूम-घूमकर देश का नाश करने दो, घरों को सूटने दो, शहर के बड़े-बड़े फाटकों को तिनके के समान तोड़ फेंकने दो ! यह सब वे भले ही कर लें, किन्तु इन्द्रपुरी के किवाड़ वे कभी नहीं तोड़ सकेंगे । (अर्थात् नरक में जायेंगे ।)”

सम्भवतः १७५० के लगभग भद्राचल के आस-पास के एक ग्रीर कवि ने ‘भद्रगिरि शतक’ में गोगुल पाठी कूर्मनाथ के समान भद्राचल के रामचन्द्र भगवान् को कोसा है । इस कवि धल्ला पेंग के सभी पद्यों का उल्लेख करने से ग्रन्थ भारी हो जायगा । इसलिए केवल उन्हीं पद्यों का यहाँ उल्लेख-मात्र किया गया है, जिनमें कवि ने मुसलिम सरदारों, मेनानियों, स्थानीय अधिकारियों आदि के द्वारा की गई धूर्तताओं का वर्णन दिया है :

‘धुद्र अचिद्धकरणों’ के अनघोन हो विप्र तुर्कों से कन्नी कटाते रहे !  
कभी खाँ-साहवों की न ताबोम की, अनसुनी की अजाने !

सजा ले रहे :

मन्दिरों में घुसे तुर्क, कल्लाण-मंडवे तथा दाहनागार मरघट बने;  
आन्ध्र में आन्ध्र भाया, न संस्कृत रही, यहाँ अपसत्य-भाषों के  
जमघट बने

सत्र, प्याऊ, हवनघर सभी बब्रों की असह बबरीयत के  
छप्पर हुए,

भागते भात भी तुर्क घर चाट लें, पुण्ड्र-छापे-तिलक

रफूचकर हुए !”

यहाँ पर कवि ने ‘धमा’ का उल्लेख किया है । यह स्थान हैदराबाद राज्य में निर्मल के निकट है । सम्भवतः यह कवि निर्मल के ही धान-ग्राम के निवासी रहे होंगे ।

१. अनदिदे कानों वाले मुसलमान ।



त्रिपति वाला जी ग्रान्ध्र देश का एक तीसरा कोना है, यहाँ पर भी शान्ति न थी। वेंकटाचल-निवासी की टेक के साथ एक 'शत्रु-संहार' शतक मिलना है। इसमें भी सूदखोर भगवान् बंरुटेश्वर की खूब निन्दा की गई है।

इन सबसे यही निष्कर्ष निकलता है कि सारे ग्रान्ध्र देश के अन्दर अराजकता का ताड़व नृत्य चल रहा था। जनता की यातनाओं का अनुमान-मात्र किया जा सकता है।

ग्रान्ध्र देश पर एक ओर जब उत्तर की ओर से विपत्तियाँ-पर-विपत्तियाँ उतर रही थी, तब दूसरी ओर दक्षिण दिशा से एक दूसरी बला दूट रही थी। इसका आगमन सात समुद्र पार से हुआ। वह थी क्रिस्तानो की क्रूरताएँ। तजावर में जब ग्रान्ध्र का शासन चल रहा था तभी पुर्तगालियों ने कालीकट पर कब्जा करके न केवल तलवार की धार पर बालक बन्दूक की मार पर भी उस सारे समुद्र-तट पर ईसाई धर्म का प्रचार किया। तजावर के राजा चव्वप्पा ने ही सबसे पहले पुर्तगालियों को अपने राज्य के अन्दर आश्रय दिया था। धीरे-धीरे उनका अत्याचार पैर फैलाता गया।

इतने में हार्लैण्ड निवासी डच भी भारत में आये। डचों ने तजावर-निवासियों को पकड़-पकड़कर उन्हें विदेशों में दास के रूप में बेच डाला। तजावर पर मुसलमानों के अत्याचार भी कम नहीं थे। उन्होंने हिन्दुओं की हत्या करके उनके घर-बार आदि सूट लिये थे। यह सब-कुछ तजावर के रंगीने राजा विजयराघव (१६३३-७४) के शासन-काल में हुआ। इन सख्ती राजा ने युद्ध-भूमि में ब्राह्मणों के हाथ तुलसी-जल भेजा था। इस मूढ़ विश्वास के साथ कि तुलसी-जल-श्रीशरण से मरे पड़े मुसलमान जलकर राख हो जायेंगे। परन्तु वह धाप ही अपनी स्त्री तथा बच्चों के साथ समूल नष्ट हो गया।

तेम भीरु समय में अकेले राधावारू ने ही ग्रान्ध्र जाति का मान बचाया। वे सब-के-सब हाथों में नगी तलवारें लेकर मैदान में लड़ते हुए

वीर गति को प्राप्त हुए ।<sup>१</sup>

ऐसी दृष्टियति में अर्थात् मुसलमानों और ईसाइयों के बाढ़ के समय, प्रजा की रक्षा करने वाले राजा महाराज नहीं थे । वे तो साधु-सन्त तथा वेदान्ती महापुरुष थे, जो गीसों और पक्षों से लोगों में नवीन उत्साह भरते हुए तथा ममाज का मुधार करते हुए देश-भर में भ्रमण करते फिरते थे । इन सत पुरषों में वेमनायोगी तथा पोतलूर वीर ब्रह्मम् मुख्य हैं ।

पोतलूर वीर ब्रह्मम् जाति के सुनार थे । वह सनहवी शती के मध्य के लगभग हुए । वे कर्नूल जिले के पोतलूर गांव के निवासी थे । छुटपन में वनगाने पल्ले में बँकट रेड्डी के घर डोर चराया करते थे । उन्होंने मूर्ति-पूजा का खण्डन किया, जात-पाँत के भमेले को घटा बताई और इसी प्रकार के अन्य उपदेश दिये । वह गृहस्थ थे । उनके बान्ध-बन्धे भी थे । अनेक शिष्य थे । उनमें एक धुनिया सिद्दय्या मुख्य था ।

वेमन्न वेदान्ती थे । ऐसे वेदान्ती, जो संसार को भी अच्छी तरह समझते थे । वह अत्यन्त ही महान् समाज-गुधारक हुए । सबको बुरा-भला कहने लगे, पर साथ ही हँसाने हुए सीधी राह बता देते थे । वेमन्ना के समय शैव तथा वैष्णव अपने-अपने सम्प्रदाय का प्रचार जोरों से चलाते रहे थे । वेमन्ना दोनों की त्रुटियों को खोलकर रख देने थे ।

सैबों के मन्वन्ध में वेमना कहते हैं कि :

“लिंगायत में दोंगा जनमे, बको परस्पर गाली,  
पड़ा तुर्क से पाला, पल में धूल-धूल उड़वा ली !”

“मुसलमान मजहब भी कितना सस्ता है सुलतान  
खिला-खिला पशु-मांस सभी के बदल लिये ईमान !”

वैष्णवों के मन्वन्ध में कहता है :

“मछ-मांस सेबेंगे, नाते रिदते नहीं विचारेंगे ।  
ये माटी के माघो तो माटी की राह सिधारेंगे ।”

“बने-ठने ये रंगनाथ के मन्दिर में तो जाते हैं ।

१. 'तंजावर आन्ध्रनायक चरित्र' ।

मगर लिल रहे मुल से ताड़ो की मुगंध फंलाते हैं !”

मेरी राय मे ऊपर के ये चारो प वेमन्ना के नही हो सवते । एक-दूसरे के साथ गाली-गलीज करने के लिए वेमन्ना के नाम से कबिता जोड़ने की चाल-सी की गई जान पडती है । वेमन्ना के जीवन-काल के सम्बन्ध मे इतना ही कह सकते हैं कि वह सप्रहवी या अठारवी शती के थे ।

उस समय की तेलुगु जाति के सम्बन्ध मे वेंकटाध्वरी ने 'विश्वगुण-दसन' मे लिखा है :

“श्रान्ध देश के प्रायेक गाँव मे शूद्र ही ग्रामाधिकारी हैं और ब्राह्मण उनके चाकर बनकर, उसके बगल मे बंठे लिखने का अथवा पटयारीगिरी का काम करते हैं । ऊपर भूमि के बीच गढ़ई के समाज एकाध वेद-पाठी ब्राह्मण कहीं हो भी तो वह यतन माँजने का ही काम करता है ।” इस वाक्य से प्रतीत होता है कि उस समय गाँवो मे रेड्डी वम्मा जाति का ही बोल-बाला था । वही गाँव के पटेल या मुख्दम होने थे । गाँव के पटवारी होते हुए भी नियोगी ब्राह्मणो का इतना जोर न था । पूजा-पाठ करके जीवन व्यतीत करने वाले पुरोहित ब्राह्मणो की और भी दुर्दशा थी । अधिकतर ब्राह्मण दूसरो के घर रसोई पकामा करते थे ।

उन्होंने यह भी लिखा है कि श्रान्ध देश के ब्राह्मण यज्ञ-हवन आदि नहीं करते, वेदाध्ययन नहीं करते, फिर भी इस देश मे भगवान् के प्रति भक्ति तथा ब्राह्मणो के प्रति श्रद्धा खूब पाई जाती है । यहाँ के ब्राह्मण गोदावरी नदी मे स्नान करके वही रेत का महादेव बनाकर बेल-पत्र तथा तिलाक्षत मे शिवजी की पूजा करते हैं । उन्होंने ऐसा भी लिखा है कि “गोदावरी के तटवर्ती ब्राह्मण शिवजी की पूजा तथा वेदाध्ययन के साथ पावन जीवन व्यतीत करते हैं ।” कृष्णा-गोदावरी के मध्य भाग के ब्राह्मण यज्ञ-हवन आदि करके पवित्र जीवन बिताते हैं ।

वेंकटाध्वरी के समय मद्रास मे अंग्रेज जम चुके थे । लिखा है कि “अंग्रेजों ने व्यापार की अच्छी उन्नति की है, और अपने अमीन मद्रास

में न्यायालय की स्थापना की है।”

‘तिरुवनिक्केनि’ आजकल मद्रास शहर का एक मुहल्ला है। वहाँ पर पार्यंसारियों का एक बहुत बड़ा मन्दिर है। उसके सम्बन्ध में बेंकटाध्वरी ने लिखा है कि : “ ‘तिरुवलिक्केनि’ प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान है। उनको कंरविलो अर्थात् कुई वाली भील भी कहा है। (सम्भव है तब उस तालाब में कमल कुई खिलती रही हो, आजकल तो गंदा पानी, काई और कीड़े भरे हैं।)

अप्रेजों के बारे में उनसे कहा है :

“दूणाः करुणाहीनाः तूरावत् ब्राह्मणगणम् न गणयन्ति,  
तेषाम् दोषाः पारे वाचाम् ये नाचरन्ति शौचमपि।”

यानी अप्रेजों के दिलों में दया का नाम नहीं है। ब्राह्मणों को तो वे तिनकेके समान भी नहीं गिनते। उनकी बुराइयाँ वाणी के परे हैं। वे तो टट्टी के बाद जन-शौच भी नहीं करते। (आज भी गोरे मूखा शौच ही करते हैं, धोने नहीं। कुछ हिन्दुस्तानी भी उनकी नकल करते हैं।) आगे भी उनसे कहा है :

“शौचत्यागिषु दूण कदिपु धनम् शिष्टे च विनष्टताम्।”

ऐसी गन्दी जाति को भगवान् ने लक्ष्मी दी !

बैने, अप्रेजों की प्रशंसा भी बहुत की है। कहते हैं :

“ये दूण (अप्रेज) पराये धन के लिए ललचाते नहीं, झूठ नहीं बोलते, चित्र-विचित्र वस्तुएँ तैयार करके विक्रो करते हैं। अपराध की जांच करके दोषी को दण्ड देते हैं।”

परन्तु यदि बेंकटाद्रि आज वहाँ जीवित होते तो वे अपने साम्राज्य की स्थिरता के लिए सब-बृद्ध कर गुजराने वाले अप्रेजों के लिए ऐसे शब्द कभी नहीं निव्य सकते।

आष्टिदनु मूर कवि मन् १७५० से पहले का है। उस समय अप्रेजों, प्रायोगियों और मुसलमानों ने देश के अन्दर जो अन्धाधुन्ध मचा रखी थी उसके सम्बन्ध में मूर कवि ने लिखा है कि वे कच्चा मांस और ताड़ी

पीते थे। बिलम पीते और गुब्बुडो का गरम पानी पीते थे। गी को मार गिराकर उसकी बोटी उड़ाते और मद पीकर धन्धे हो जाते थे। बटमारी करना और जेब काटना इन बाँडालो की वृत्ति थी। ऐसे वही और हीं सकते हैं।

उस समय भ्रान्ध में कोई केन्द्रीय शक्ति न थी। सारा देश छोटे-छोटे सरदारों में बँटा हुआ था। वे भी बाहरी राजाओं के अधीन थे। अंग्रेज फ़ार्मीसी और मुगलमान राजगद्दी के लिए छीना-भूषटी करते थे। इससे देश-भर में अराजकता फैल रही थी। दिन-दहाड़े चोरी-डाके होते थे। सन् १६०० के आस-पास अमरावती के छोटे-से राज्य में वामि रेड्डी बेंकटाद्रि नायडु का शासन चल रहा था। वह अपने दान-धर्म तथा वीरता के लिए बहुत प्रसिद्ध था। "हाँक नायो" वाली कहावत उसीके वार्षिकलापों से चल पड़ी थी। उन दिनों बटमारों का बड़ा खोर था। जान लेकर माल लूट लेते थे। इससे देश में घातक मचा हुआ था। बड़ी मेहनत और दौड़-धूप करके बेंकटाद्रि ने एक सौ डाकुओं का पकड़ मँगवाया, उन्हें सिलमिने से सजा करवाया और सबकी गरदन उड़ा देने का हुक्म दिया। यह देखकर चोरों ने कहा कि कत्तार के दूसरे छोर में गरदन उड़ाना शुरू करें। वे समझने में कि जब कुछ मारे जा चुकेंगे तो राजा के दिल में दया उत्पन्न होगी और बाकी शारे बच जायेंगे। किन्तु राजा ने एक न मुनी और सबके सिर उड़ा दिये। इस प्रकार बेंकटाद्रि ने प्रजा को चोर-डाकुओं से छुटकारा दिलाया।<sup>१</sup>

उस समय के लोगों की बेश-भूषा के सम्बन्ध में हमें विशेष कुछ ज्ञान नहीं। फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि घाज के जीवित बड़े-बूढ़ों के और घाज में तीन सौ वर्ष पूर्व के लोगों की पीलाक में विशेष अन्तर न था। अथ तो गिर पर ब्राप (अंग्रेजी बाल), शरीर पर घोट और पंरों में बूट देग के कोने-कोने में दिपाई देते हैं। तब वे चीजें नहीं थीं। पुरुष साधारणतया गिर पर गाऊँ बांधते, साऊँ गीन

१. 'बादु पल मंजरी' के आधार पर।

भी ये और बाँके भी । कुरता-कमीज न थी । लोग छः बन्दों वाला 'बारहबन्दी' अँगरखा पहना करते थे । बन्द चाहे कम हो, पर यह बारह बन्द कहलाता था । वाद मे चार ही बन्द लगते रहे । फिर भी उसका नाम 'बारहबन्दी' ही रहा । साधारण लोग इसे नहीं पहनते थे । वे केवल एक मोटी-सी चादर ओड लेते थे । कानो मे बालियाँ सभी के होती थी । घनियों के कान के ऊपरी भाग मे एक छोटी वाली होती थी, जिसमे मोती या हीरे लगे रहते थे । बहुतेरे वाजू पर सोने या चाँदी के बड़े पहना करते थे । वेमना का एक पद्य है ।

“जिसके सिर पर पाग, बदन पर चादर, कान में कुण्डल हो,  
अँगुलियों में अँगूठियाँ हों, और पेट भी तोंदल हो,  
सभी सगे नाती उसके बन जाते हैं मुँह के बल हो,”

एक खाते-पीते व्यक्ति की साधारणतया यही बोझाक होती थी । अपना काम बनाने के लिए ऐसे व्यक्ति के पास सभी लोग कोई-न-कोई बहाना लेकर पहुँच जाते थे । कहावत है, “बया फरोड़पती के घर कौड़ी नहीं चलती ?” गोया कौड़ी सबसे छोटा सिक्का था और उसका अच्छा चलन था । (तबि का पैसा चलने के बाद तक कौड़ी का रिवाज था । कोई पचास साल की बात है, एक पैसा देकर दुकान से कौड़ियों के हिसाब कई चीजें खरीद लाते थे ।)

वेमना का एक और पद्य है : जिसका भावार्थ है :

“कौड़ी-कौड़ी धन जोड़ी क्यों सालच के व्यवहार कर ?

घरती में गाड़ो, पीछे पछतामो ठौर बिसार कर ?”

उन दिनों भी घरों मे सन्दूक-बबसे और बाहर बैंक आदि नहीं थे । लोहे के घड़ों मे मोना-चाँदी भरकर गाड़ देते थे । दैनिक व्यय के पैसों को भी पिछवाडे जाकर मिट्टी के नीचे दबा रखना और फिर आवश्यकता पर ले लेना, साधारण प्रथा-सी थी । कभी-कभी रखते एक जगह और ढूँढते दूसरी जगह थे और परेशान हो जाते थे कि कोई उठा तो नहीं ले गया । दूसरे सचमुच उठा भी ले जाते थे ।

स्त्रियों का पुरपों को और पुरुषों का स्त्रियों को बश में करने के लिए बशीकरण की औषधियाँ खिलाने का रिवाज तब भी था। विशेष-कर स्त्रियाँ अपने पुरपों को बश में रखने के लिए उल्टी-भीठी वस्तुएँ खिला देती और बेचारा उसे खाकर जो सो जाता तो उठने का नाम भी न लेता। बेचारों रोती-पीटती रह जाती। इस भाग्य का वेमना का एक पद्य है। किन्तु मूली से प्रतीत होता है कि यह वेमना की कविता नहीं है। एक और पद्य है :

“घो के बिना बना भोजन तो, जानो जैसे घास है !

भाजी सग न हो, तो कुएँ भी हो कुत्ते का घास है !”

अर्थात् लोग साधारणतया भोजन में घी तथा सब्जियों का प्रयोग करते थे।

लोगों को सगुन पर विश्वास अधिक था। उसके सम्बन्ध में भी पद्य मिलते हैं। लिखा किमी ने हो, वेमना के नाम की छाप लगा दी। जैसे वेमना के नाम से एक पद्य यह है :

“कहे वेमना, रास्ता काटे खरहा, बाँभन, नंबी, नाग,  
या आगे हों तो जानो निश्चय अनर्थ, निश्चय दुर्भाग !  
लेकिन अगर कहीं संयोग मिले गरडा के दर्शन के,  
तो समझो निश्चय कि मनोरथ पूरे होंगे सब मन के !”

ऐसे अन्ध-विश्वास आज भी पाये जाते हैं। किन्तु जिस वेमना ने अन्ध-विश्वासों का खण्डन किया हो, वह ऐसे पद्य कभी भी नहीं लिख सकता था।

मोती की माँग की बात एक पद्य में कही गई है कि ‘विषया मोती की माँग सँवारे क्यों?’ (उत्तर भारत में माँग में सिद्धूर लगाने हैं।) उक्त पद्यास में जान पड़ता है कि दक्षिण देश में उन दिनों युवतियाँ माँग में मोतियों की लड़ी पहनती थीं।

बगिचिन के बारे में वेमना ने बार-बार कहा है ‘अमव’ कृष्ण में बना है। अमव भगवान् शिव के साँट को कहते हैं। जैसे गाँव छोड़े जाते हैं, उसी प्रकार घर की बेटी को अरविन बनाकर घरों में रखने

की धार्मिक प्रथा थी। साँड व राँड दोनों का समाज में आदर था। यह प्रथा शैवों में थी। जवान लड़कियाँ रुद्राक्ष की माला गले में डालकर और माथे पर विभूति पोतकर मन्दिरों में बैठती थीं और बाहर घूमा-फिरा करती थी। यह ताताचार्य से पहले की बात है। वैष्णवों ने इस प्रथा में कुछ परिवर्तन किया। वैष्णव गुरु अपनी शिष्याओं को तिरमणि ( तिलक ) और तुलसी-माला पहनाकर दासरी बना डालते थे।<sup>१</sup>

वेमना ने चित्रकारी की उपमाएँ दी हैं। इसने सिद्ध होता है कि उस समय इस कला की महिमा थी। इगलीरु (सिद्धूर) आदि से रंग तैयार किये जाते थे और उसीसे चित्र रंगे जाते थे।

बँदक में आयुर्वेद की ही पद्धति चलती थी। पर देशी बँदक का ही प्रचार अधिक था। जैसे किसी को कुत्ता काट ले तो सिर मुँडवाते, जगह-जगह चमड़े पर नश्वर लगाकर उन स्थानों में नीबू का रस भर देने थे। आज भी कहीं-कहीं ऐसा किया जाता है। वेमना के नाम से बँदक पर भी कुछ पद्य हैं। एक पद्य में लौह-भस्म की महिमा खूब गाई गई है :

“लौह-भस्म-सेवन शरीर में फुरती लाता,  
लौह-भस्म-सेवन क्षय तक को दूर भगाता,  
लौह-भस्म-सेवन से बढ़कर काया-कल्प न होगा,  
नित सेवे तो लोहे से बल अल्प न होगा !”

शैली के विचार से ये पद्य वेमना के नहीं जान पड़ते।

अब पशु-चिकित्सा की बात सुनिये। देहात में आज भी बलि के द्वारा ही इलाज होता है। पशु-चिकित्सालय तो अब खुल रहे हैं। वेमना का एक पद्य है :

“पशु को जो हो जाये दोम्मा-रोग,  
बकरे की बलि दो, बतलाते लोग,

१. अनन्तकृष्ण शर्मा-वृत्त 'वेमना'।



कहे वेमना, बकरा तो खुद खाना होता !

देवी का तो नाम बहाना होता !”

वेमना के समय में काँच की कुप्पियाँ प्रचलित थीं। उन कुप्पियों में दिया जलाते थे। धीनाथ ने भी अपने ‘भीमेश्वर पुराण’ में काँच की कुप्पी की बात कही है कि उसमें दस्तूरी-जल भरकर रखा जाता था।

यह तो पता नहीं कि ‘चन्द्रशेखर शतक’ का रचयिता कौन है, पर भाषा से इतना तो प्रबल है कि वह किसी ब्राह्मण की लिखी हुई पुस्तक है, और वह ब्राह्मण नेल्लूर प्रान्त का निवासी रहा होगा। ब्राह्मणोंतर जातियों के रीति-रिवाज की उसने हँसी उड़ाई है। पुस्तक के रचना-काल का भी ठीक अन्दाजा नहीं लग पाता। अनुमान होता है कि यह कवि सत्रहवीं-अठारहवीं शती में रहे होंगे।

अपने देश में तम्बाकू की प्रथा डालकर देशवासियों को तबाह करने वाले पुर्तगाली ही थे। तम्बाकू का श्रीगणेश भारत में सन् १६००-५० के लगभग हुआ है। इस ‘चन्द्रशेखर शतक’ में उसकी चर्चा है। इसलिए उस कवि का जीवन-काल १६०० और १७५० के बीच में होना चाहिए। चन्द्रशेखर का एक पद्य है :

‘तलब लगी, ले चित्तम-तमाखू बड़े सकारे  
अगिया लाने जा पहुँचे बंभना के द्वारे,  
बड़ी चिरौरी की, कर जोरे, दाँत निपोरे  
लेकिन भभका बंभन, न जाने काहे को रे !  
बोला, (घर में तीन-तीन अगियाँ) थीं जो-पर)  
‘भाग-भाग पापी, कोई अगियन हियाँ पर !’  
बड़ा बघेला किया, बहुत सारी दी गारी,  
बोला, बलपुग है, सारे पापी, अविचारी !  
बोला, अगियाँ ये देने की नहीं, कहा मेरे को मूरत,

बिगाड़ा—घातम<sup>१</sup> ! चुपके पलट पड़ा मुँह की चख ।”

पद्य की भाषा एकदम देहाती है ।

हमारे लङ्कपन तक इस देश में गाँवों और शहरों में भागवन, रामायण आदि पुराणों की कथाएँ करना और लोगों का धडा से मुनना एक परिपाटी-सी रही है । यह प्रथा सत्रहवीं-अठारहवीं शती में भी प्रवृत्त थी । ग्रामाधिकारी तथा धनी लोग गाँव वालों के लिए मनोरञ्जन आदि का प्रबन्ध करवा देते थे । पद्धति यह थी कि गाँव में कोई विद्वान् या नट आ जावे तो मारा खर्च धनी लोग उठाते थे, पर आनन्द सब लोग उठाने थे । दोम्मरी (नट) सेत मानो उन दिनों का सरक्त्त था । (दोम्मरी एक जाति ही है, जो सरक्त्त के-में करतब दिखाती गाँव-गाँव फिरती है । अनु०) । ‘चन्द्रशेखर-शतरू’ के रचयिता ने तो यहाँ तक कहा है कि ब्राह्मणों की बिचाएँ भी दोम्मरी के करतबों के सामने तुच्छ हैं ।

उत्तर भारत में ‘आल्हा’ का जो स्थान है वही स्थान आन्ध्र में ‘दुरकथा’ या ‘ताननन्दाना’ को प्राप्त है । आज भी गाँव के लोग ‘दुरे कथा’ को बड़ी धडा से मुनते हैं । चन्द्रशेखर ने अपने एक पद्य में चन्द्र दुरकथाओं के नाम गिनाकर कहा है कि ये तो सुन लो धव न जाने फिर सुनने का ऐसा सीभाग्य कब मिले !

“तिम्म राजु की कथा, धीर-भाया सोरी के गीत सुने,  
नायकराळ की कथा सुनी, नन्दी के वचन पुनोत सुने,  
पांडु चरित सुनके तो मन को पीर उठी है जाग रे !  
ना जाने इस मूरख के फिर कब बहुरे ये भाग्य रे ?”

भागोत नाटक—(यह नौटंकी की तरह का होता है विवरण पहले प्रा चुका है ।) चन्द्रशेखर तिग्गना है :

“रात मेंने स्वांग देखे, जाग के !  
सोह गुरु की बड़े सुन्दर स्वांग थे !

भागवत की सत्यभामा का विलाप क्या कहेँ कहने न देते बोल प्राप !

१. दुरात्मा ।

राधिका सचमुच बड़ी है पापिनी !

रविमणी की सौ .....!

चन्द्रशेखर क्या मुनासिब था यही ?”

इस प्रकार के नाटक करने वाले अधिकतर दासरी जानि के होने थे । जिस प्रकार दोम्मरी की वृत्ति नट के करतव दिखाना है, उसी प्रकार दासरी की नाटक दिखाना है ।

जातरा (मेला)— आज की तरह उन दिनों भी देव-स्थानों पर 'जातरा' या मेला लगता था । भगवान् की सवारी निकलती थी । चारों ओर के लोग इकट्ठे होते थे ।

कवि चन्द्रशेखर कहता है :

“मैंने अनेक तीर्थ देते, पर अवनगोडा, जातरा का मुकाबला कोई भी नहीं कर सकता । वहाँ डोल, नगाड़े, नारसिंगी आदि तो बजते ही हैं । कवि ने रंकुराटनम (भूलों) की भी चर्चा की है । ये यही भूले हैं जो आज भी मेलों में एक बड़े खम्भे के चारों ओर हवा में गोल-गोल घूमते हैं । सोढ़ो की चर्चा पीछे आ चुकी है ।”

पाठशाला और पढ़ाई—उन दिनों गुरु जी रेत बिछाकर उस पर अंगुनी से वर्णमाला के अक्षर, गिनती और पहाड़े लिगवाया करते थे । इस तरह की पाठशाला के नमूने आज भी कहीं-कहीं देहात के अन्दर दिखाई दे जाते हैं । तीस-चालीस साल पहले तो ऐसी पाठशालाएँ ही अधिक थी । कवि कहता है :

“मेरे पिताजी ने बचपन में मुझे रामायण, भागवत और महा-भारत आदि खूब पढ़ाये । नीचे की पढ़ाई, अर्थात् जमीन पर रेत बिछाकर सोखने की चीजें पहले ही सिखा ली थीं । किन्तु आह्लाण डोंगें मारते हैं कि मेरी पढ़ाई तो कुछ नहीं, असल पढ़ाई तो उनकी होती है । वे छोड़े हैं, मूर्ख हैं ।”

पाठशाला की पढ़ाई मूरज उगने से पहले अंधेरे में ही शुरू होती थी । गुरु जी के पास एक छड़ी या षोड़ा होता था । जो विद्यार्थी पाठ-

घाना में सबसे पहले पहुँचता उसनी हथेली पर वे 'श्री' लिख दिया करते थे। हमारे को 'तारा' कहकर कोड़े से छू लेते थे। दोनों ही चीज कोड़े के सिरे से खी जाता थी। उसके बाद एक, दो, तीन.....जैसे-जैसे दच्चे आगे-पीछे पाठशाला में पहुँचते, वैसे-वैसे उनके झुक बढ़ते जाते और घर मोड़ते समय कोड़े की टपनी ही चोटें उनकी हथेली पर पड़तीं। 'द्विधन विनास' में चेमडूर बेकंट कवि ने एक भुवती के नखों की घमक का वर्णन करते हुए तारों की घमक को हमरा ही दर्शा दिया है।

'श्री' देने के लिए दच्चे अपने बाप को बाध्य करते कि वह रात मछड़े ही गुरजी के घर छोड़ आवें। वहाँ पहुँचकर 'श्री'-दच्चा गुरजी के कम्यन में घुसकर छिप जाता (और घण्टे-भर के 'नूपान' यानी गीत-श्रवणा में झोचक पहुँचकर और दच्चों के थो-तारा बन को उलट-पुलट कर जानता—अनु०)।

घाना उन समय नी घूब और वर्षा में लोग छत्रियाँ लगाया करते थे, पर बहुत कम। छत्रियाँ आत्रकन की-सी नहीं थीं। आवकल केरन के देहाती बांस के डन्डे में बांस की ही छत्रियाँ लगाकर उसे ताड़ के पत्तों में मोन छा लेते हैं और उससे छत्रो का काम लेते हैं। इसे 'कोड़े' कहते हैं। कोड़े ही टेन्गु में गौडुगु (छाना) हुआ। इसका मतलब यह नहीं कि हमारे पूर्वज ऋषड़े की छत्रो बनाना जानते ही न थे। मगवान् की नवारी के समय अयना राजाओं के सिरों पर दो गज के डन्डे में रग-दिरगे ऋषड़ों के छाते चलते थे। इस सम्बन्ध में नास्कर कवि, जो १७०० ई० के लगभग हुए हैं, लिखते हैं : "जिस प्रकार प्रत्येक पेड़ को प्रत्येक डाल छाते की टण्डी नहीं बन सकती, वही-वही एकाध डाल ही ऐसी मिलनी है, उसी प्रकार जाति में एकाध व्यक्ति ही धार्मिक प्रवृत्ति के होते हैं। ऐसे सज्जनों की संख्या अधिक नहीं हो सकती।"

चाप के पुतने—मनोरंजन के कामों में चाप के पुतलों का भेल भी एक है। विविध प्रकार के गीतों के साथ चाप के पुतलों को नवाने का रिवाज आन्ध्र देश के मन्दर आदिवाल से था। प्राचीन कवि पातकुरिकी,

सोमनाथ ने अपने 'पंडिताराध्य चरित्र' में लिखा है :

“ 'भ्रमर', 'जाल' या 'व्ययनम्' आदि की 'पंचांग पेरलि' ललित गति, रमणीक विधि में नाचने वाले नटन-भरि तथा प्रथम पुराणतन उत्तम चरित्रों को यथायथ अनु-चरित अभिनीत करने में कुशल अभिनय-प्रप्रतिरय..... ”  
आगे कवि कहता है.

“दक्ष शैलूषिणी दोम्भरी जानि की  
प्रांशु वशाप्रचूडा-स्थिता नाचती,  
नाचती हो यथा देवता-कन्यका ।  
रञ्जु पर, यक्षिणी नाचती हो यथा ।  
वस्त्र की छोट अभिनीत करते कथा  
राम के काव्य भारत-कथा आदि की  
सूत्रनट, यन्त्रवत् पुतलियाँ नाचतीं ।  
यक्ष-गन्धर्व-विद्याधरी भूमिका  
में उतरते कुशल नाट्यपुट नटप्रवर !”

'भास्कर-शतक' के रचयिता कवि बौन हैं, कुछ पता नहीं चलता ।  
किन्तु उनके समय में भी चाम के पुतलों के नाच हुआ करते थे । अपनी  
कविता के सम्बन्ध में भास्कर कवि कहते हैं :

“यह तेरी श्रुति है कि माग्य हुई मेरी कविता अति सुन्दर प्रभो !  
पट-छोट चतुर नट के कर में नाचते सूत्र के पुच्छ, प्रभो !  
घरना धमड़े के पुतले की रच हो सकती है यह मजाल—  
भावुक-मन-मोहन नृत्य करे, कि हिला भी सके तिर-पुच्छ, प्रभो !”

'भास्कर शतक' के सम्बन्ध में कुछ लोगों का कहना है कि इन्हीं दो  
कवियों ने मिलकर रचा है । इस पद्य में 'मेरी' शब्द का प्रयोग इस मान  
का प्रमाण है कि इसका रचयिता कोई एक ही व्यक्ति था, एकाधिक  
नहीं ।

बिप्र विनोद—धाम्त्र देश के अन्दर विविष्ट मनोरजन की एक और

भी सामग्री देखने में आती है ! वह है 'विप्र विनोद' । इसके करने वाले ब्राह्मणों की ही एक जाति-बिरोध के नाग थे, जो किसी क्षुद्र देवता की उपासना करके या मन्त्र-तन्त्रादि क्रियाओं से मदारी के-से उच्चकोटि के करतब दिलाया करने थे । आज भी इस तमाशे के करने वाले ब्राह्मण ही पाये जाते हैं । गोलकोडा के भन्तिम मुलतानो के समय गुण्डुपल्ली मुनुराजु नामक एक मन्त्री हो गए हैं । उनके सम्बन्ध में एक कविता है :

“गुण्डुपल्लि-श्रीमंत मन्त्री-शिलामणि जो  
भोजन को उठने सज्जनकोटि-पूजन उपरांत !  
उनकी 'बंति' बंठ भोजन पाना ही भोजन है,  
नहीं तो समस्त शूकर-दास-'बंति'-पर्यायांत !  
'बंतियां' वे 'बंतिर्यां' नहीं हैं, बल्कि 'बंतिर्यां' हैं,  
'बंति', 'बंति'-जोड़ी, विप्र-'बंति', 'बंति'-चोरिकांत !”

सन् १७०० ई० के बाद आन्ध्र में भी भूमि की व्यवस्था महाराष्ट्र-पद्धति पर होने लगी थी । कवि कहता है :

‘यशस्वी मन्त्री श्री नरसिंहराय की कोठी का व्यय तो केवल परिमेय उमो सांवत्सर-व्यय से जो कि वर्ष भर में करता है एक बेस पांडेय ।”

देगमुन्न, देशपांडे आदि की यह पद्धति महाराष्ट्रों की है ।

पेम्पयसिंग राजु को लोग प्रौढ देवराय का समकालीन बताते हैं । यह ठीक ही होगा, क्योंकि उसके समय तक आन्ध्र में मिचं का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था । मिचं जो आज दक्षिण में इतनी अधिक खाई जाती

१. हिन्दी के 'सारंग' शब्द की तरह तेलुगु का 'बंति' शब्द अनेकार्थ-वाची है । इस पद्य में प्रयुक्त 'बंति' शब्द के प्रथम, द्वितीय आदि प्रयोगों के क्रमिक शाब्दार्थ ये हैं : (१) पंगत । (२) टोली, पांत । (३)-(४) पंगत । (५) गेंद । (६) कांटेदार लाठी या नोक-बरछी । (७) हल के बंतों की जोड़ी । (८) विप्र विनोद (बाजी-गरी) । (९) चोरी (के उद्देश्य से ही रखी गई यानो चोरों) की जगोजी ।

है, पहले-पहल स० १६०० ई० में अमरीका से आई घीर तीन सौ साल के अन्दर आन्ध्र में उमका इतना अधिक प्रचार हो गया कि मिर्च अब आन्ध्र की खास पैदावारों में से मानी जाती है और घास भोजन-सामग्री भी। और कहीं इतनी मिर्च नहीं होती। पहले यहाँ के लोग गोल मिर्च ही खाया करते थे, जो कि विदेशों से आती थी। "गोल मिर्च से रहित निपट फीकी तरकारी और परल-रहित दानों से मिली सम्पदा-सरो" (दोनों समान हैं)। मिर्च का रिवाज हमारे देश में सन् १६०० ई० के बाद ही चला।

तेलुगु-देश का कुछ हिस्सा समुद्र-तट पर है। इस कारण प्राचीन काल में ही यहाँ समुद्री व्यापार होना आ रहा है। किन्तु हमारे मभीक्षित समय में देश के अन्दर अराजकता का दौर-दौरा था। व्यापार की रक्षा करने वाला कोई नहीं था। गोलकोंडा का पतन हो चुका था। बडपा-कूर्म में अफगानों नवाब हुकूमत कर रहे थे। दक्षिण में अरकाट के नवाब की सत्तनत थी। उत्तर सरकारों में अंग्रेज और फ्रांसीसी ने जहाँ-जहाँ व्यापार किया, वहाँ सब भी और अब भी हम हिन्दुस्तानियों के लिए कोई जगह नहीं है।

अंग्रेजों ने सन् १६११ ई० में मछली बन्दर (मगूलीपटम्) में अपना एक कारखाना खोला। उस समय मगूली की मलमल बहुत प्रसिद्ध थी। 'मलमल' का पर्यायवाची अंग्रेजी 'ममलिन' शब्द इसी मगूलीपटम् से बना है। गोलकोंडा सत्तनत के अकबला मादन्ना मन्त्रियों के आश्रय में जाकर अंग्रेजों ने उन्हें तरह-तरह के नजराने दिये और बदले में अपने लिए मद्रास प्रान्त में व्यापार करने की अनुमति ली। गोलकोंडा के पतन पर उन्होंने औरंगजेब से कौल-पट्टे की पट्टि पर मद्रास, विजया-पटम, मगूली, मोटुपल्ली तथा अन्य स्थानों में व्यापार करने के इजारे की मंजूरी ले ली।

तेलुगु प्रान्त भारत-भर में हीरो की गान के नाम से मशहूर था। मंगलकोंडा के हीरो का नाम योरप-भर में पूँज उठा था। किन्तु वास्तव

उस्तिपल्ली में भी कभी हीरों की खानें थी। हैदराबाद से तीस मील की दूरी पर 'नरकोंडा' नामक स्थान पर ही 'निजामूहीरा' प्राप्त हुआ था। वह तोल में ३७५ केरट था, और दाम उसका दो लाख बीस हजार पौंड था। इनके अतिरिक्त कर्नूल जिले के रामल्लाकोट में भी हीरे की खानें थी। 'रव्वा' (नग) हीरे को ही कहते हैं। यह रामल्लाकोट पहले रव्वलाकोट अर्थात् हीरों का दुर्ग कहलाता था। रायल सीमा के मन्दर एक गाँव वय्यकूर है। यहाँ भी हीरे निकलते थे। वय्यकूर के लोग आज भी वर्षा होने के बाद जहाँ-जहाँ से पानी की धारा बही हो, वहाँ-वहाँ हीरो की खोज करते हैं और कुछ पा भी जाते हैं। गुत्ती के निकट मुनिमडुगु में भी हीरे की खानें थी। परन्तु आजकल कहीं भी हीरो की खुदाई नहीं होती। 'वेणुगोपाल-रातक' में एक पद्य प्राया है। उसमें उद्गं मन्दा का वाङ्मय है। इससे प्रतीत होता है कि ग्रान्ध देश में उस समय मुसलिम हुकूमत भली भाँति जम चुकी थी। पद्य यो है :

"राजा यदि मंदमति हुआ तो उसका बोवान  
 राय वेगा : श्रायियों को देना मत कोई वान !  
 मुग्धी कहेगा एक, बहरी कहेगा धान !  
 तथा करेगा मजूमवार तोजी चतरान !  
 सिर दुता सिरिदतेवार करेगा सिफारिश एक,  
 कर जोड़ के घकीत वेगा दलीसों की टंक  
 प्राप-हृष्य देशपांडे बाँव से कहेगा कुछ  
 कान में मुसद्दी मन्त्र फूँकता रहेगा कुछ"....."

'वेणुगोपाल रातक' के एक पद्य में कुछ श्रायियों का, विशेषकर उनकी पोशाक का वर्णन है। सम्भव है यह वर्णन राचवारी राजाओं का हो :

"बड़ी-बड़ी घुटिया पर पाग, पग-पावुकाएँ,  
 उजली धुती धादर श्री धोती सांगदार,



मे गोलकोंडा के इर्द-गिर्द हीरे की कहीं कोई खान नहीं थी। यावनिपेर नामक पारचात्य यात्री ने लिखा है कि : "गोलकोंडा से दक्षिण की ओर पाँच दिन का रास्ता चल चुकने के बाद कृष्णा नदी के तट पर 'रावल-कोंडा' नामक एक स्थान मिलता है। वहाँ पर हीरो की खानें थीं।" वह लिखता है कि उस समय वहाँ पर ६०,००० मजदूर काम करते थे। सन् १५६५ ई० में कृष्णा-तट पर ही एक ओर स्थान कोल्हूर में हीरों का पत्ता लगा। कोल्हूर वहाँ से निकला था। एक ही शताब्दी के अन्दर कोल्हूर की हीरे की खान समार-भर में प्रसिद्ध भी हुई और फिर बंद भी हो गई। हीरो के कारण कोल्हूर का वैभव इतना बढ़-चढ़ गया था कि कोल्हूर के खड्डहरो पर एक गाया ही चल पड़ी थी। 'कोल्हूर की जगमग' एक कहावत ही बन गई थी। क्या पों है—

कोल्हूर में एक देवता का प्रादुर्भाव हुआ। उस देवता की विशेषता यह थी कि यदि कोई व्यक्ति अपने पेशाब में अनाज निगोकर उस देवता की मूर्ति पर चढ़ाये, तो सारे दान हीरों में बदल जाते थे। सभी लोगो ने यही क्रिया दुहरानी शुरू की और बड़ी-बड़ी कोठियाँ खड़ी कर लीं। शहर में एक गरीब ब्राह्मण भी रहता था। उसकी ब्राह्मणी यह रट लगाये रहती थी कि तू भी हीरे बना ले और मुझ से जीवन बिताया कर ! पर ब्राह्मण तनिक भी न मानता। वह कहता कि चाहे कुछ हो जाय, मैं तो ऐसा निवृत्त कार्य कदापि न करूँगा। एक दिन आधी रात के समय एक बूढ़ ब्राह्मण ने बाहर से आकर उसका किवाड़ खटखटाया। गरीब ब्राह्मण ने किवाड़ खोल दिया। बूढ़ा उसे अपने साथ शहर के बाहर ले गया और अंधेरी रातों में जगमगाते कोल्हूर शहर को दिखाकर खुद गायब हो गया। यह थी कोल्हूर की जगमग। बिन कहे ही क्या बता रही है कि यह केवल कोल्हूर के हीरों की कहानी है। ब्राह्मण-ब्राह्मणी की नहीं।

हैदराबाद और मनूलीपटम् की सड़क पर बन्दरगाह से पचास मील पर 'परिदाला' नाम का एक स्थान है। परिदाला ने और पास ही

उत्तिपल्ली में भी कभी हीरो की खानें थीं। हैदराबाद से १०० मील दूरी पर 'नरकोंडा' नामक स्थान पर ही 'निजामूहीरा' था वह तोल में ३७५ केरट था, और दाम उसका दो लाख पौंड था। इनके अतिरिक्त कर्नूल जिले के रामल्लाकोट में भी खानें थीं। 'रब्बा' (नग) हीरे को ही कहते हैं। यह रामल्ला रब्बलाकोट अर्थात् हीरों का दुर्ग कहलाता था। रामल्ला सीमा एक गाँव बय्यकूर है। यहाँ भी हीरे निकलते थे। बय्यकूर आज भी वर्षा होने के बाद जहाँ-जहाँ से पानी की धारा बही वहाँ हीरो की खोज करते हैं और कुछ पा भी जाते हैं। मुत्तौ मुत्तिमदुगु में भी हीरे की खानें थीं। परन्तु आजकल कहीं भी खुदाई नहीं होती। 'विष्णुगोपाल-रातक' में एक पद्य आया है उद्दू शब्दों का वाङ्मय है। इससे प्रतीत होता है कि ग्रान्ध के समय मुसलिम हुकूमत भली भाँति जम चुकी थी। पद्य यों है :

“राजा यदि मंदमति हुआ तो उसका बोवाण  
 राय देगा ; अर्थियों को देना मत कोई दान !  
 मुन्शी कहेगा एक, बरशी बहेगा धान !  
 तथा करेगा मजूमवार तीजी चतरान !  
 सिर झुला सिरिस्तेवार करेगा सिफारिश एक,  
 कर जोड़ के वकील देगा दलीलों की टोक  
 प्राप-हड़प देशपांडे बाँध से कहेगा कुछ  
 फान में मुसद्दी मन्त्र फूँकता रहेगा कुछ.....”

'विष्णुगोपाल रातक' के एक पद्य में कुछ धर्मियों का, विशेषकर उनकी पोशाक का वर्णन है। सम्भव है यह वर्णन राचवारी राजाओं का हो :

“बड़ी-बड़ी घुटिया पर पाण, पण-पादुकाएँ,  
 उजली धुली धावर भी धोती सांगवार,

छाया पड़ी। उसका अक्षर साहित्य पर भी पड़ा। कविता में फारसी शब्द भरने लगे। 'विशुगोपाल शतक' का ऊपर उद्धृत पद्य इसका प्रमाण है।

इस प्रकार सन् १७०० तक पहुँचते-पहुँचते तेलुगू भाषा का सम्पूर्ण पतन हो गया। उनके बाद रह गए केवल फुटकर छोटे-छोटे सरदार। उनका स्वभाव जित्त हृद तक रहा, उसी हृद तक हमारी बलामों की मर्यादा भी रही!

यह है सन् १६०० से १७५७ की हमारी सामाजिक स्थिति का स्पष्ट रूप।

### इस अध्याय के आधार

१—वेमना पद्य—वेमना के नाम से बहुत सारे श्लोक पद्य हैं। मान्य होता है कि अपने से अनबन रखने वालों की दूषणा करने के उद्देश्य से बहूतों ने वेमना की छाप (भण्डिता) अपनाकर—'कहे वेमना' या 'मुन वेमा' की टोक लगाकर कहकर पद्य रच-रच लिये। रसबादों को कविताबद्ध करके या 'विश्वताभिराम वेमों' कहकर भी बहुत लोगों ने तुकबन्दीयाँ कर डाली। मूठ-मूठ बात बनाकर गाली-मतीब करने वाले कवियों ने अपना नाम तक देने का भी साहस नहीं किया और बेचारे वेमना को बदनाम किया। मेरे विचार से वेमना ने सभी पद्य 'भाट किल्ली' में लिखे हैं। यति स्थान का पूरा ध्यान रखकर सुन्दर कविता लिखी है। उन सभी पद्यों की छानबीन करके पुनः प्रकाशित करना चाहिए।

२—बेकटाव्वरि—मूल 'विरवगुरादर्शनम्' संस्कृत में है। तेलुगू अनुवाद उतना अच्छा नहीं है।

३—योगुनपाटि क्रमनाथ—'सिंहादिनाथनिह शतक'।

४—भल्लापेर कवि—'भशदि शतक' (तीसरे और चौथे नम्बर के) ये दोनों शतक मुसलमानों के अत्याचारों के वर्णन से भरे पड़े हैं।

५—चन्द्रोत्तर शतक—कवि ने अपना नाम वही नहीं दिया है।

उसके लिए राजाओं ने चावरें पसार दीं ...”

इसी मूर कवि ने प्राचीन परम्पराएँ मिटते देखकर अपने मनस्ताप भड़काये हैं।

कवि ने कहा है :

“अग्रहार मिट गये, मिटी माटी में भाफी माटी,  
बंद पंडितों की श्रावक श्रौं भस्तो की परिपाटी,  
मर्षाशन न रहे, बंधक पड़ते हैं हाथी-घोड़े,  
धर्मस्थल बीरान, कबीश्वर भाग्य-भरोसे छोड़े,—  
कठिन-हृदय होता न नृपति तो ये सध होते थोड़े ?”

सन् १६०० से ग्रान्ध का राजनीतिक पतन आरम्भ हुआ। ही तजावर में रघुनाथ राय के राज्य-काल में ( सन् १६१४ से १६३३ ई० तक) ग्रान्ध जाति की कुछ प्रतिष्ठा अवश्य बनी रही। रघुनाथ राय के समय मुसलमानों के आक्रमण अथवा अत्याचार नहीं चल सके। उसने मुसलमानों को हराकर ग्रान्ध संस्कृति को कुछ दिन तक गिरने से बचा लिया। उसके शासन-काल में तेलुगु यक्ष-गानों की अच्युती उन्नति हुई। नाटक, नृत्य और संगीत-कलाएँ समुन्नत हुईं। ग्रान्ध-देश के धन्याय्य अचल अपनी पूर्वाजित सम्यता तथा संस्कृति से वंचित हो गए, किन्तु तजावर ने पुराने दुर्गों की रक्षा ही नहीं की, बल्कि नये-नये दुर्ग भी बनाये। स्वयं रघुनाथ राय ने एक सुन्दर दुर्ग, राज-भवन तथा सुन्दर कलापूर्ण मन्दिरों का निर्माण करवाया। संगीत-कला का वह अद्भुत ज्ञाता था। उसने स्वयं एक वीणा तैयार की थी, जो 'रघुनाथ मिला' के नाम से प्रसिद्ध थी। दक्षिणी भाषाओं में 'मिला' संगीत-मङ्गली को कहते हैं। ग्रान्ध-सरस्वती ने तजावर के मोती महल में नृत्य किया था। इस प्रकार यहाँ कविता, संगीत, नृत्य, शिल्प इत्यादि ललित कलाओं की यथेष्ट उन्नति हुई, परन्तु रघुनाथ के मरने के बाद उसके बेटे के राज्य-काल में तजावर की स्वतंत्रता भी मटियामिट हो गई।

इन डेढ़ सौ वर्षों के भीतर तेलुगू जाति पर मुसलमानों की गहरी

छाया पड़ी। उसका अन्तर साहित्य पर भी पड़ा। कविता में फारसी शब्द भरने लगे। 'बिस्तुगोपाल शतक' का ऊपर उद्धृत पद्य इसका प्रमाण है।

इस प्रकार सन् १७०० तक पहुँचते-पहुँचते तेलुगू जाति का सम्पूर्ण पतन हो गया। उसके बाद रह गए केवल फुटकर छोटे-छोटे सरदार। उनका रतवा बिच हृद तक रहा, उसी हृद तक हमारी कलाओं की मर्मादा भी रही !

यह है सन् १९०० से १७५७ की हमारी सामाजिक स्थिति का स्थूल रूप।

### इस अध्याय के आधार

१—वेमना पद्य—वेमना के नाम ने बहुत सारे सौपक पद्य हैं। मानूम होता है कि अरबों से अनबन रखने वालों की दूषणा करने के उद्देश्य से बहूतों ने वेमना की छाप (भण्डिता) अन्नाकर—'कहे वेमना' या 'मुन वेमा' की टंक लगाकर कहकर पद्य रच-रच लिये। रसवादी की कविताबद्ध करके या 'बिन्दताभिराम वेमा' कहकर भी बहुत लोगो ने तुक्कन्दियाँ कर डाली। नूठ-नूठ बात बनाकर गाली-मलौब करने वाले कवियों ने अणना नाम तक देने का भी साहज नहीं किया और वेचारे वेमना को बदनाम किया। मेरे विचार से वेमना ने सनी पद्य 'घाट विल्डी' में लिखे हैं। यति स्वान का पूरा ध्यान रखकर सुन्दर कविता लिखी है। उन सभी पद्यों की ध्यानवीन करके पुनः प्रकाशित करना चाहिए।

२—बेकटाध्वरि—मूल 'विश्वगुणदशनम्' संस्कृत में है। तेलुगू अनुवाद उतना अच्छा नहीं है।

३—गोमुनपादि कूर्मनाथ—'सिद्धान्दिनायनिह शतक'।

४—भत्तापेर कवि—'भद्रादि शतक' (तीसरे और चौथे नम्बर के) ये दोनों शतक मुसलमानों के अत्याचारों के वर्णन से बने पड़े हैं।

५—अन्नोद्धर शतक—कवि ने अणना नाम कहीं नहीं दिया है।

पुस्तक हास्य-रस से भरी हुई है। नेल्डूर प्रात के ग्रामीण शब्दों के अर्थ सबके लिए अगम्य हैं। ऐसे शब्दों की टीका के साथ पुस्तक पुनः प्रकाशित की जानी चाहिए।

६—अज्ञितम सूर कवि—‘रामलिंगेश्वर शतक’।

७—वेणुगोपाल शतक।

८—भास्कर शतक।

प्रस्तुत समीक्षा में अन्तर्भूत काल के लिए हमें केवल शतकों पर निर्भर करना पड़ा। अर्थात् इस युग में अच्छे कवियों का सृजन भी नहीं हो सका। हमारे इतने शीघ्र पतन का यह भी एक कारण है।

## सन् १७५७ से १८५७ तक

शोरंगजेव को मृत्यु सन् १७०७ ई० में हुई थी, और तिराजुद्दौला की १७५७ में। इन पचास वर्षों के भीतर मुगल-साम्राज्य धीरे-धीरे गिरता गया। इस बीच भारत में मराठा-शक्ति ही बढ़ी-चढ़ी थी। सन् ११६६ में मुसलमानों ने केवल १८ सवारों को लेकर बंगाल को जीता था। सत्तार में इससे बढ़कर विचित्र घटना दूसरी कोई नहीं है। साढ़े पाँच सौ साल के बाद वही मुसलमान पलासी की लड़ाई में मुँह के बल गिरे। अंग्रेजों की यह जीत सन् ११६६ ई० की मुसलमानों की जीत के समान ही एकदम सस्ती पड़ी थी। इतनी सरलता से हिन्दुओं को परास्त करने वाले मुसलमानों की ऐसी दुर्गति क्यों हुई? हिन्दुओं ने चार-पाँच साल के अनुभव के बाद भी इससे शिक्षा नहीं ली। मराठों ने सह्याद्रि पर्वतों की पाटियों में छुड़सवारों को लेकर कठोरता से, वृद्धनीति से, चतुराई से और चालबाजी से मुसलमानों को तुर्क-व-तुर्क जब्त दिया था। किन्तु भारत को जीतकर बाबर के हवाले किया था राजपूतों ने ही। मतलब यह कि उनमें स्वाभिमान तथा देशाभिमान का अभाव था। मुसलमान भी भोग-विलास में मग्न रहने लगे। कमजोर पड़ गए। तभी अंग्रेज आये। मुसलमान जब हिन्दुस्तान आये थे, तब वे अपने समुन्नत युद्ध-तन्त्र तथा अपने नवीन धर्म के लिए घोर आसक्ति-जैसे गुणों को और इन गुणों के सह्यामी जूझन, घोला आदि दुर्गुणों को भी अपने साथ

लिये हुए आए थे। ये गुणावगुण उनमें पलासी की लड़ाई तक बराबर बने रहे। पर अंग्रेज उनके भी गुरु बनकर आये। अंग्रेज यह सोचकर भारत आये थे कि यहाँ पर पेड़ों पर दीनार लगते हैं, भाड़-भूडकर सोने की चिड़िया उडा ले जायेंगे। यूरोप में उच्चकोटि की तोपे-बन्दूकों बन चुकी थी। ये इन नये अस्त्रों में सुसज्जित होकर भारत-भूमि पर उतरे थे। हिन्दू-मुसलमानों ने सन् १४०० में ही तोपों से काम लेना शुरू कर दिया था, किन्तु वे घटिया दरजे की तोपें थीं। बन्दूकों को भी यहाँ वालों ने अभी-अभी हाथ लगाया था। किन्तु तेलुगु-माहिदय में बन्दूक का उल्लेख 'शुक-सप्तति' के समय से ही चला आ रहा है। कदिरिपति के कामदेव भगवान् ने प्राचीन तीर-कमान फेंककर नये प्रकार की "तम्मि रम्मी फिरंगी" का अपना लिया था। एक रेड्डी बहू के वर्णन में कवि ने कहा है

"तम्मि-रम्मी-फिरंगी दोरा तुरगो विलास" अर्थात् तोप के समान चाल चली।<sup>१</sup>

यह 'रम्मी' तोप रुम की बनी हुई बन्दूक या तोप नहीं थी? उस समय खेत-तोप का शब्द बन्दूक के लिए प्रसिद्ध तो नहीं था? अस्तु। अंग्रेजों के अस्त्र-शस्त्र बढ़िया थे। हिन्दुस्तानी सेना में बयायद-परेंड में शिक्षित सिपाही नहीं थे। अंग्रेजों की सेना में सैनिकों को युद्धोपयोगी बरती पहनाकर उनको अच्छी शिक्षा दी जाती थी। अंग्रेजों ने मरुवा को उतना महत्त्व नहीं दिया जितना कि अच्छी सैनिक-शिक्षा को। मरुवा का इतिहास ऐसी घटनाओं में भरा पड़ा है, जिनमें मरुवा की बंदूगो फौज को अच्छी तरह शिक्षित कुछेक हजार सिपाहियों ने ही बढ़िया अस्त्रों के प्रयोग से महज परास्त कर दिया है। अंग्रेज अपने साथ एक और अस्त्र भी ले आए थे : 'धोला' ! यही उनका प्रमनो हथियार था। जिम् चतुराई से अंग्रेजों ने हमारे ही बीच में देग-द्रोहियों को तैयार किया, वह चतुराई मुसलमानों में नहीं थी। देश के मन्दर मनगिनत छोटे-बड़े

१. 'शुक सप्तति', कथा १५।



राज्यों का होना, हिन्दुओं और मुसलमानों का परस्पर बैमनस्य, मुगल साम्राज्य का पतन, ये सारी बातें अंग्रेजों के लिए अनुकूल ही पड़ती थी। इस देस में एक राजा को दूसरे से भिटाकर और फिर किसी एक का साथ देकर अंग्रेज हमारे इलाके-पर-इलाके हड़पने लगे। मीर जाफर के देश-द्रोह और अपनी बातबाजी से उन्होंने बंगाल को हथिया लिया। इन विशेषताओं को समझकर यदि हम इतिहास पढ़ें तो देस की राजकीय परिवर्तनों की कहानी सहज ही समझ में आ जायगी। मुसलमानों ने जुल्म-जबरदस्ती करके, तलवार के जोर पर भारत में अपने मजहब का प्रचार किया, तो अंग्रेजों ने उपाय के साथ प्रेम से लाखों हिन्दुओं को ईसाई बना लिया। सन् १६५२ ई० में ही दक्षिण के मलाबार में सेंट थामस नामक पादरी ने ईसाई-धर्म का प्रचार प्रारम्भ कर दिया था। उस समय के बने हुए सीरियन क्रिस्तान स्राज भी मलाबार में पाये जाते हैं। इस प्रकार ईसवी शती के आरम्भ से ही हमें ईसाई धर्म की बू-बास लग चुकी थी पर, बहुत कम। बाद में जब पुर्तगाली उतरे तब उन्होंने भी मुसलमानों के समान ही भारत के पश्चिमी तट पर मलाबार और तमिल प्रान्त में बन्दूकें दिखा-दिखाकर ईसाई बनाये। फ्रांसीसियों ने भी यही किया। ध्वेज्वाय नामक फ्रांसीसी पादरी तो हिन्दुओं की तरह धाँती पहनकर तमिल परबों में धूमता और उन्हें ईसाई बनाता फिरता था। उसने हिन्दू धर्म की दूषणा करते हुए एक बड़ी पोथी ही लिख डाली। मानना पड़ेगा कि नाना जाति-सम्प्रदायों से भरा हुआ, पुमापूत की बीमारों से ग्रस्त हुआ, तमिल देस तो ऐसी पोथी का अधिकारी था ही। ये बीमारियाँ जैसे तो आज पूरे भारत-भट में ही फैली हैं, पर दक्षिण में और विशेषकर तमिल देस में उनका रूप अत्यन्त ही भयंकर था; और है। पर हम है कि ठोकरें-पर-ठोकरें खाकर भी न नई (धच्छी) बात सीखते हैं, और न पुरानों (बुरी बात) छोड़ते हैं। ईसाई पादरियों को देखिये, जो ५००० मील से जहाजों पर सात समुद्र पार करके छ-छः मास तक तफर करके, पराये देस में बसकर, पराई भाषाएँ

सीखकर, शहरी, देहाती और जंगली बोलियों तक का अभ्यास करके, यहाँ के मूँके-कुर्बले लोगों को गले लगाकर, उनके लिए स्कूल-अस्पताल आदि खोलकर अपने धर्म का प्रचार करते हैं। यह दृश्य हम आज इतने वर्षों से देखते आ रहे हैं, पर क्या हम भारतीयों को उनका दशाश या दानाश भी करने की प्रेरणा होती है ? अस्तु ! पलासी की जीत के बाद ईसाई धर्म के प्रचार में अधिकाधिक बढ़ावा मिलता गया।

### आर्थिक स्थिति

पलासी की लड़ाई के बाद देश बड़ी तेजी से अंग्रेजों के अधीन होने लगा। सन् १११० में १७०७ तक के ६०० वर्षों की लम्बी अवधि में सब-कुछ करते हुए भी मुसलमान सारे भारत को अपने अधीन नहीं कर पाए थे, किन्तु अंग्रेजों ने भी साल के ही भीतर भारत में अपना आधिपत्य जमा लिया। अपने शासन के इस दौर में अंग्रेजों को हम भारतीयों की सुविधाओं का विचार तब तक भी नहीं था। अपने देश के तैयार माल के लिए भारत को अपना बाजार बनाने के उद्देश्य से उन्होंने यहाँ के उद्योग-धन्धों का सत्यानास कर दिया। लोग यहाँ के मरने कि जियेंगे, इसकी चिंता भी परवाह न करके उन्होंने अधिकाधिक कर वसूल किये। आज से सौ साल पहले डिंगची नामक एक अंग्रेज ने स्वयं लिखा था कि उनके राज में हिन्दुस्तान में अकाल बहुत पड़े। मुसलमानों ने भी हिन्दुओं को सूटा था, पर तूट का माल इन देश के भीतर ही रहा, बाहर नहीं गया। किन्तु अंग्रेजों ने व्यापार के रूप में, करों के रूप में, मरकाती नौकरियों के रूप में और अन्त में प्रत्यक्ष तूट के द्वारा जो कुछ भी बटोरा वह सारा-बा-सारा सात समुद्र पार भेज दिया। हमारी यह सम्पदा सदा के लिए इंगलिस्तान चली गई और यही हमारे आर्थिक पतन का कारण हुआ।

सन् १८०० में पहले ही आर्य देश के रायल सोमा के चारों डिले कडवा, कर्नूल और अनन्तपुर तथा गुदूर के छाव-साय उत्तर सरकार का

इलाका भी अंग्रेजों के कब्जे में आ चुका था। सन् १८५७ ई० में तो सारा भारत ही अंग्रेजों के कब्जे में आ गया। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि तब तक मान्य का सारा इलाका भी उनकी दखलदारी के नीचे आ चुका था। उत्तर सरकार बहलाने वाले विशाखापट्टन पूर्व एवं पश्चिम गोदावरी और कृष्णा जिलों में जमीन के मालिक बड़े-बड़े जमींदार थे। ये जमींदार बड़ी पुराने सरदार थे, जो मुगलों को कर-माय देकर अपने-अपने इलाकों के अन्दर राजाओं के समान राज करते थे। राजा साहब पेंड्रापुर मुगलों को तीन लाख तत्पर हजार रुपया वार्षिक कर देने थे। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने उससे पाँच लाख साठ हजार वसूल किया। इसी प्रकार दूसरे जमींदारों पर भी कर बढ़ा दिये गए। उत्तर सरकार में ३१ जमींदारियाँ थीं। उत्तर सरकार के जिलों के पुराने नाम थे— बिकाकोल अथवा श्रीकाकुलम्, राजमदरी, एल्लूर, कांडापल्ली। उन्हें १७६५ में अंग्रेजों ने मुगलों से ले लिया था। कम्पनी ने उत्तर सरकार की बाँव-बग़्ताल के लिए एक कमेटी नियुक्त की। कमेटी ने सन् १७८८ ई० में अपनी रिपोर्ट दी। उस रिपोर्ट से कुछ बातों की तफ़्तील मिली। मान्य हुआ कि उन जमींदारों में से कुछेक उड़िया राजाओं की सनान थे। उन जमींदारों के निजी सौरात भी थे, जिन्हें हवेली कहा जाता था। हर गाँव में बारह घायनार होते थे। रेड्डी (पटेल), करराम् (पटवार), चौकीदार, तोटी, नेरही (पानीदार), पुरोहित, अघ्यायक, जोशी, बड़ई, लुहार, कुम्हार, धोबी, नाई, बेंच और वेष्टा। इन सबकी मिलती घायनारों में थी। हर खेत की पैदावार से इन्हें निश्चित भाग मिला करता था। इस प्राचीन पद्धति को कम्पनी ने खत्म कर दिया। उत्तर सरकार तथा बंगाल में कम्पनी ने दबामी बन्दोबस्त की व्यवस्था की। सौरात जमींदारों को दिये तो सही, लेकिन उनके लिए भी नीलाम बोल-बोलकर पहले बड़ी-बड़ी रकम वसूल कर ली।

मद्रास के अहाते में उत्तर सरकार को छोड़कर अन्य जिलों के अन्दर रैनतवारी पद्धति चानू की गई। इसका श्रेय विशेषतया धानस मनरो

की है। उस जमाने के भूप्रेजों में वह सबसे अच्छा धादमी माना जाता था। मनरो ने मद्रास के इलाके में २४ साल तक काम किया था। अन्तिम वर्षों में उसने रायल सीमा के लिए बड़ा परिश्रम किया। अन्त में कर्नूल जिले के अन्तर्गत पत्तिकोडा में हैजे से उसका देहान्त हो गया। रायल सीमा की प्रजा उससे बड़ा स्नेह रखती थी। कई हिन्दुओं ने तो अपने बच्चों के नाम 'मनरोप्रिया' रखे और इस प्रकार उसकी याद को ताजा रखा। आज भी पट्टेदारी पद्धति वास्तव में मनरो की पद्धति ही है। पहले जमीनों टंके पर दी जाती थी। गाँव-के-गाँव नीलाम बाँलकर टंके पर दे दिये जाते थे। कादतकारों का सरकार से सीधा सम्पर्क नहीं था। टंकेदार उनसे मनमानी रकमें लगान में वसूल करते थे। मनरो के कारण कादतकारों का सरकार से सीधा सम्बन्ध हो गया और वे अपनी जमीन के मालिक भाप हो गए। अब वे अपने खेत को चाहे जिसके भी हाथ बेच या खरीद सकते थे। अब वे अपना सालाना लगान सीधे सरकार को देने लगे। मनरो ने करो में भी काफी कमी कर दी थी।

तेलुगु इलाक़ों की इस रीयतवारी पद्धति के सम्बन्ध में उस समय के साहित्य में हमें अधिक जानकारी मिल नहीं पाई। रमेशचन्द्र दत्त ने इसे रीयतवारी पद्धति कहा है।

१८६० के कलक्टर ने कोयूर की रीयतवारी पद्धति की जाँच कराई। सन् १८९८ ई० में जमीनों की पैमाइश की गई। लिखाई वाले खेतों पर २०) खंडी की दर से लगान बिठाती गई। इस हिसाब से बन्दो-बस्त किया गया कि जमीनों की उपज से कुल ३४३७४ ६० की रकम आई। निराई वगैरह पर सबा की तरह सबा धुः ५० संकड़ा के हिसाब से किसानों को फटीती बी गई। इस हिसाब से कुल २२३४ ६० का पार्श्व काटकर बाकी ३२१३६ ६० का बंटवारा सरकार और किसानों के बीच करना था। हर २० में से ६ हिस्से अर्थात् संकड़े ४५ ६० किसान को और ग्यारह हिस्से अर्थात् संकड़े ५५ ६० सरकार को दिये गए। इस

प्रकार कोचूर में सिचाई वाली जमीनों से किसानों को १४४६२ एकर सरकार को १७६६७ रुपये मिले। इसी प्रकार सूखी (बिना सिचाई वाली) जमीनों पर २८ रु० के हिसाब से बाजार-भाव लगाने पर सरकार को ७६८ रु० की आय हुई। कुल मिलाकर कोचूर ग्राम से सरकार को १५०० रु० की आय हुई।" अर्थात् पैदावार में से शायी सरकार ने ले ली।

गाँव के बारहो कामदारों को कितना हिस्सा दिया गया, इसके सम्बन्ध में तेलुगु साहित्य में कोई मसाला नहीं मिलता। किन्तु बुकानन नामक एक व्यक्ति ने सन् १२०० ई० के बंगलूर के एक गाँव की तफसील दी है। हम उसीको यहाँ दे देते हैं। इसी दर से हम तेलुगु-देश का भी अनुमान लगा सकते हैं :

गाँव की कुल पैदावार	२४०० सेर
कामदारों या आश्रितों का हिस्सा	—
पुरोहित	५ सेर
दानधर्म	५ "
जोशी	१ "
ब्राह्मण	१ "
नाई	२ "
कुम्हार	२ "
तुहार	२ "
धोबी	२ "
सरपि ( नाज नापने वाला )	४ "
बाँडल	७ "
रेड्डीपटेल	८ "
पटवारी	१० "
चौकीदार	१० "
देशमुख	४५ "

देसाई	४५ सेर
नेरड (पानीदार)	२० "
	<u>कुल खर्च १६६ सेर</u>

ऊपर के व्योरे से स्पष्ट है कि पैदावार में से सवा पाँच संकड़ा हिस्सा ब्राह्मणों के हिस्से में निकल जाता था। १० हिस्से ठेकेदार ले लेता। बाकी की सरकार और किसानों के बीच बराबर-बराबर बाँट दिया जाता था। रमेश दत्त की पुस्तक में तेलुगु-देश का व्योरा तो नहीं है, किन्तु मधुपुर, मलावार और तमिल देश का व्योरा पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है।

सन् १८१३ ई० में इंग्लिस्तान की पार्लियामेंट की तरफ से हिन्दुस्तान में जाँच कमेटी बैठी। उसमें मनरो ने बयान दिया था कि - "भारत में खेत पर काम करने वाले मजदूरों को माहवार २ से ३ ६० तक मजदूरी मिलती है। प्रत्येक मजदूर को खाने-पीने पर साताना खर्चा नौ से साढ़े दोरह ६० तक का खर्च पड़ता है। लोग मोटे कम्बल छोड़कर गुजारा करते हैं। विलायती कम्बल खरीदने की शक्ति उनमें नहीं है। हिन्दुस्तानी अच्छे दस्तकार होते हैं, अच्छी सम्भ्र-वृम्भ रखते हैं। अच्छे श्रमप्रेमी उद्योगी का भी वह अनुसरण कर सकते हैं।" यह पूछे जाने पर कि क्या भारत की स्त्रियाँ दामियों की-सी नहीं होती? मनरो ने जवाब दिया : "हमारे घरों में जितनी स्वतन्त्रता स्त्रियों को दी जाती है, वह भारतीय स्त्रियों की भी प्राप्त है।" जब उससे यह समाधान पूछा गया कि हमारे व्यापार से तो हिन्दू ( भारतीय जनता की ) सभ्यता निश्चय ही उन्नत हो सकती है। तब मनरो ने माफ़े का जवाब दिया - "हिन्दू सभ्यता से आपका मतलब क्या है? विज्ञान में, राजनीति में, तथा विद्या में वह हमसे कम अछर हैं, किन्तु यदि सभ्यता के लक्षण उत्तम कितानी, अनुपम निर्माण-कला, जीवन की सुख-सामग्रियों के जुटाने, गाँव-गाँव में पाठशाला चलाने, दान-धर्म तथा प्रतिष्ठि-सत्कार, नारी के प्रादर आदि को माना जाय, तब तो भारत वाले यूरोप वालों से कितनी

भी माने में पीछे नहीं हैं। अगर हिन्दुस्तान और इंगलिस्तान के बीच सन्ध्या का ही सौदा होवे, इंगलिस्तान हिन्दुस्तानी सन्ध्या की ध्यायत से लाभान्वित ही होगा।" मनरो ने अपने एक ऊनी दुशाले को दिखाते हुए कहा कि : "यह सात साल पुराना हो चुका है, पर आज भी नया लगता है। यह हिन्दुस्तान का बना है। आज यदि कोई मुझे इंगलिस्तान का नया दुशाला ला दे और उसके बदले में यह पुराना दुशाला मांगे तो मैं हरगिज नहीं दूंगा।"

स्ट्रासी नामक व्यक्ति ने उसी जाँच कमेटी के सामने बयान दिया था : "हम लोगों ने हिन्दुस्तानी उद्योगों को तबाह किया है। अब भारतवर्ष का जीवनाधार केवल भूमि ही है। आज (सन् १८१३ ई०) हिन्दुस्तानी रेशम यहाँ पर हमारे यहाँ की कीमतों से ६०% कम दामों पर बिकता है। किन्तु हमारी सरकार उस पर ७० या ८० प्रतिशत कर लगाकर अबवा उसकी बिक्री को मनाही करके हिन्दुस्तान को घोर हानि पहुँचा रही है। यदि ऐसा न किया जाता तो हमारे कल-कार-खानों में ताते पड़ जाते।"

मनरो ने कहा था : "भद्रास के अहाते में कम्पनी वालों ने जुलाहों को बुलाकर मजबूर किया कि वे सस्ते दामों पर कपड़ा तैयार कर दें। बुनाई में देरी हो जाने पर कम्पनी के नीकर जुलाहों पर पहरा बिठा दते थे और एक घाना रोज के हिसाब से उनसे जुर्माना वसूल करते थे। फिर उन्हें बँत लगवाते थे।"

१७५७ में पचासी को लड़ाई में अंग्रेजों की जीत हो चुकने के बाद भी हमारे व्यापारी हिन्दुस्तानी माल को हिन्दुस्तानी अहाजों पर लाद कर इंग्लैण्ड ले जाते थे। जब हमारे अहाज लदन की टेम्स नदी पर पहुँचे तो अंग्रेज उन्हें देखकर ऐसे धक्का उठे मानो नदी में भाग लग गई हो। उन्होंने कहा : "ये हिन्दुस्तानी हैं। हमारे गुताम हैं। क्या हमारे दाल ही हमारे देश में आकर व्यापार में हमसे होड़ लगावेंगे?" इस

उनका इतना सोचना भर था कि देखते-ही-देखते हमारा व्यापार भी और हमारे जहाज भी गधे के सींग की तरह छूपतर हो गए। अब रही केवल जमीन। उसमें भी आधी से अधिक उपज तो कम्पनी ही हड़प कर जाती थी।

सन् १७६४ से ६६ ई० तक अंग्रेजी माल का व्यापार लगभग बाईस लाख तीस हजार रुपये के मोल तक हॉ जाता था। सन् १७८० में तीस लाख पचास हजार का हुआ। सन् १७८१ में इग्लैंड में वाष्प-बल का प्रादुर्भाव हुआ। उस साल पचासी लाख पचास हजार का माल भारत में उतरा। सन् १७८० तक उनका व्यापार एक करोड़ बीस लाख तक बढ़ गया। सन् १८०० ई० में उसका चौगुना हो गया। सन् १८०६ में दस करोड़ चौरासी लाख का माल यहाँ भेजा गया। १७६३ में पार्लमेण्ट में रिपोर्ट पेश हुई थी, जिसमें बताया गया था कि आज हिन्दुस्तान में हर-एक दुकान के अन्दर इगलिस्तान की मलमल ही बिकती है। और वह बिकती है देशी माल के चौथाई दाम पर।<sup>१</sup>

यूरोप की औद्योगिक क्रान्ति अंग्रेजों का भारत में आना, हमारे उद्योग-धंधों का पतन आदि सभी इसी घंटी की घटनाएँ हैं। यह ऐसी मार थी कि जिसमें हम संभल नहीं पाये। अंग्रेजों ने हमें कभी संभलने ही नहीं दिया। सभ्य-काल में भारत के लिए पुराने मुगल-शास्राज्य की अपेक्षा नया अंग्रेजी राज्य ही अधिक भयकर था।

### आचार-विचार

सन् १७५७ के बाद से भारत में अंग्रेजी राज्य जमने लगा। देश के अन्दर बड़े-बड़े परिवर्तन होने लगे। मुसलमानों का प्रभाव घटने लगा। देश पर और देश-वासियों के आचार-विचारों पर अंग्रेजों का प्रभाव बढ़ने लगा।

कूचिपुडि निम्मा कवि सन् १७५७ के बाद हुए है। 'कुवकुटेश्वर शतक'  
१. रत्नम क विनिपम तृतीय कृत 'हिन्दू भाँग इण्डिया', पृष्ठ १३२-३१।



मे उनको कुछन इस प्रकार प्रकट हुई है :

“निगमागम और पुराणों की पढ़िताई कौड़ी-मोल नहीं, उपहासजनक विद्याओं की कौड़ी ही चलती सभी कहीं। नानाविध गद्य-पद्य-रचनाएँ सब-की-सब बेकार हुईं, कि कयाएँ अहीर-गडरियों की अब जनकंटों के हार हुईं। देशी भाषाओं को पूछे अब कौन ? फारसी चलती है, आचार-विचार न बंधण-शंक, कि दोंग पर जाति मचलती है।”

एक मतक ‘गुब्बल चन्ना’ के नाम से है। कुछ का कहना है कि यह कवि कोई गडरिया था। सम्भवतः यह कवि सोलहवीं शताब्दी सत्रहवीं शताब्दी के सचि-कान का है। बाबिल्ला मद्रास के प्रकाशन में यही मत प्रकट किया गया है।

इस शतक के एक पद्य पर यह अनुमान लगाया गया है कि इसका लेखक गडरिया था। दूसरे पद्य पर यह अंशका है कि वह ब्राह्मण नहीं था और रायल सीमा का निवासी नहीं था। एक और पद्य में बकील के लिए ‘प्लोडर’ और गिरवी के लिए ‘उनसा’ शब्द का प्रयोग इस बात का प्रमाण है कि यह गुब्बल-चन्ना उत्तर प्रदेश का निवासी था, और सन् १८००-२० ई० का था।

उपरोक्त पद्यों के भाव इस प्रकार हैं :

“जिसके माता-पिता गुवारा करते होय,  
कहीं गडरिये या बनिये के घर पर।  
वहाँ मैं कि मंदिर तक की हूँ देख न पाता,  
ऐसा हूँ बकील कि रहता नसें फुलाकर।”

स्पष्ट है कि कवि गडरिया नहीं है। अपने-आपको इस तरह नहीं लिख सकता। इसी प्रकार नीचे के पद्यों से प्रतीत होता है कि वह ब्राह्मण भी नहीं है।

“लहसन का छौंक गोंगुरे का खट्टा-सा साथ सराहे कौन भला ?  
गोंगुरे का मजा सभी है, तेल मिलाकर खूब उल्लेख खूब गला।”

शायद घड़ियाल दोख जाय कहीं बस्ती मे !”<sup>१</sup>

बड़े शहरो मे घण्टे नही, बल्कि ‘घड़ियाँ’ बजाई जाती थी। इनका वर्णन पहले आ चुका है। घड़ी को पहले ‘गड़ियारम्’ घड़ियाल कहते थे। नाम तो वही है, पर आजकल की घड़ी-घड़ी नही, बल्कि घण्टे बजाती है।

नारायण कवि के समय में मन्दिरों और भक्तानों पर में विविध रंगों से भित्ति-चित्र बनाये जाते थे :

“हरित श्रौं हरिद्र कृष्णरक्तम, श्रयदात, शबल,  
धूम्र वर्णं, श्याम वर्णं, कपिल वर्णं, धा पाटल  
भाति-भाति वर्णों की तूलिका से चित्रधन,  
मन्दिर में विविध-चित्र चित्र कर रहे अकन” !<sup>२</sup>

डेढ़ सौ साल पहले ग्रान्ध जाति में जिन खेलों का प्रचार था, उनकी एक लम्बी सूची कवि ने देल रखी है। किन्तु खेद है कि आधे से अधिक खेलों के तो आज अर्थ भी नहीं लगाये जा सकते। यदि कोई परिश्रम करके उन खेलों का खोरा तैयार कर दे और उस पर एक छोटी-सी पुस्तिका यदि लिख डाले, तो बहुत ही अच्छा हो। कवि के वर्णित खेलों के नाम यो है :

‘बूचि, जाबिल्ली, बूचि कन्नुल कच्चि  
गुडिगुडि, कुञ्जम्, कुन्देन गिरि चोकटि मोकटि  
कायें, चिन्ताकु चेन्दुनु, पुत्तियाटें, चिट्तलें पोत्तलें,  
त्ररण तुड्डा, तूनिग तानिग, चट्टुगुट्टु, मोके  
माटा, चिल्ला कट्टे, बागिलमता, तनुपिल्ला,  
यावकी, गुप्पट गुरिगिज, कोंडा कोति,  
चिक्कज बिल्ला, जल्लेमागोडुगु, बिल्लादिय,  
लविकु जिक्क वंडें, गडुर बोडी, घोक्कसि कोक्कु.

१. ‘हस्तविमर्श’, ३-१५६।

२. वही, ३-८।

वरिगाय पोदु, गोनगिजा, बोंगरमु ।”<sup>१</sup>

ऐसे बहुत सारे खेत्तो के वर्णन भी दिये हैं। उत्साहीजन मूल पुस्तक में देख लें।

प्रायः लोग अपने आंगन में चट्टानों पर शेर-बकरी की पटिया खुदवा लेते थे।<sup>२</sup> आज भी इसकी प्रथा देहातो में पाई जाती है।

मुर्गवाजी में आन्ध्र जाति की रुचि अत्यन्त प्राचीन है। तेलुगु साहित्य में केतन कवि से लेकर नारायण कवि तक अधिकांश कवियों ने मुर्गवाजी का वर्णन किया है। इसका एक शास्त्र ही बन चुका था। कवि नारायण का एक पद्य है :

“काचिपात्र, मुष्ट, ताग गिरहबंद,  
जल-मटके, बूटी, मन्त्र छुरीछन्द,  
रवतरोक-रस आदि ले-लेकर  
मुर्गवाज पहुँचै रंगस्थल पर !  
कुक्कुट हूँ पंचजाति : नेमिली,  
काकि, डेक, कोडि तथा पिगली !  
मुदी-बदी रातो के देख सगुन,—  
नौद, भरण, राज, भोग और गमन……”

इसी प्रकार के और भी चार-पाँच पद्य नारायण कवि ने इस विषय पर लिखे हैं।<sup>३</sup>

गैबो में बीरभद्र की घाली रखने की प्रथा थी।<sup>४</sup>

तावीरों के प्रति लोगों की श्रद्धा अधिक थी। इसमें पहले इसकी चर्चा आ चुकी है। नारायण कवि ने भी इसका उल्लेख किया है।<sup>५</sup>

१. 'हंस विजाति', ३-१४७।

२. वही, ४-१२३।

३. वही, ३-२१३।

४. वही, ३-१८८।

५. वही, ५-६६।

लड़कियों के खेलों में भी नाचना सोमयाजी से नारायण कवि तक गुठ्ठे-गुठियों की घादी, खाने की पगत, धरोदे आदि खेलों के वर्णन बराबर मिलते हैं।<sup>१</sup> उत्साहीजन पूरा पद्य मूल में देखें। इसमें सभी खेलों का समावेश है। यह पद्य बड़े महत्त्व का है।

चरखा तब भी मूय चलता था। 'हमविदाति' में कताई का वर्णन कई जगह है।

धनी-मानी लोग गमियों के दिनों में रास्तों पर जहाँ-नहीं प्याऊ बनाकर पुण्य कमाते थे। उन प्याऊधो में ठण्डा जल नहीं, बल्कि मट्टा पिनाया जाता था और साथ ही यह भी मुन लीजिये।

"नमक, सोंठ, जंबीर-नीर-परिपूरित दही-मट्ठे से भरे अति-विशाल घट शीतल निर्मल जल के मटकों में मिसरी और इलायची की स्वादु घुलावट जीरक, 'परिषेपाङ्ग',<sup>२</sup> चन्दनादि से गंधित देवपेय बने हुए गटके, संघव तथा पलाङ्गु से तडुल-तंडक-युत भाङ्ग-काङ्ग-भरे माङ्ग-मटके!"

अन्तिम चरण (मूल तेलुगु का ही) देखिये :

"गंध बहिष्ट तामज्जक प्रयस्त कायमान मुहुर्मुहुर्जायमान,  
मन्व पवमान धन मार घृन्द वेदि कालय धितान पानीय शाला।"

पर्याप्त "पस तथा चन्दन की पुसवू सुब-सुब भरे रहने के कारण प्याऊ की वेदिका से मुगंधित हवा निकल रही थी।"

उन दिनों के ब्राह्मण मस्त्रुत का विशेष रूप से अभ्यास करते थे। ब्राह्मण विद्याधियों को 'मेष संदेश', 'कुवलयानन्दमु', 'प्रबोध-चन्द्रोदय', 'मणिमार', 'सिद्धान्त कौमुदी', 'रस मंजरी', 'काव्य-प्रकाशिका' आदि पुस्तकें पढ़ाई जाती थी।<sup>३</sup>

पिछले माठ वर्षों के भीतर ही हम भारतवासी अंग्रेजी की शिक्षा की धार अधिक बूके हैं। नारायण कवि के समय देशी पाठशालाएँ विधि

१. 'हस विदाति', ५-२४७।

२. तेजपात।

३. 'हस विदाति', २-१४२।

पूर्वक चालू थी। कवि ने उस समय की पाठशालाओं का सजीव चित्र दिया है :

“गुरुजी कहते कि बर्णमाला पर हाथ फेर,  
 सुनते ही रो उठता पेट-द्वंदं टेर-टेर।  
 ‘गुपित’<sup>१</sup> के लिखने को बुलाया यदि जाता मे,  
 अंगुलि-संकेत कर ‘लघुशंका’, भग जाता मे।<sup>२</sup>  
 चटिये घसीट लाते, पटिया ले बंठता,  
 ‘खरिया नहीं है’ यह बहाना ले, बंठता !  
 खिसियाते गुरुजी श्री मन देते दोनों गाल,  
 जांघो में चिकोटी ले, कर देते चारों ताल।  
 ‘कादंडम्’<sup>३</sup> के ऊपर टांग देते छत मे,  
 ऐसी मार मारते कि रहता न गत मे।  
 बांहें बांध सुबह-सांभ छड़ियों से पीटते,  
 दूट-दूट जातों वे, फिर घर घसीटते।  
 उंगली भकभोर कर घर देते अक्षर पर,  
 में काहे को दोनूँ, मुँह तकता बकर-बकर।  
 घड़ी-भर को छुट्टी को दिन-भर मनाता मे,  
 भरी सांभ तक चरवाहो-संग बिताता मे।  
 मंया मनाती कि पड़ पूता, पड़ बालक,  
 सुनकर में रो पड़ता तिसक-तिसक फफक-फफक।  
 तेल पीत-पीत देता पटिया के ऊपर में,  
 या पपडियां ही उड़ा देता छुरच-बुरच कर में।

१. स्वर-जोड़, वाराखड़ी।

२. कानी उंगली का संकेत माने लघुशंका, दो उंगलियों का दीर्घशंका, तीन का नाक पीछना, चार का पानी पीने जाना, यही पाठशालाओं में छुट्टी के लिए संकेत-भाषा थी।—अनु०

३. फलक।

बाल-रमायण दिया रखता कि दूँदो तो न मिले,  
छड़ी तोड़ देता मानो सर किये बुझन के किले ।  
घड़ा फोड़ देता और डोरो तोड़ देता मैं,  
खरिया चबा-चबा बहाना जोड़ लेता मैं ।"

×            ×            ×            ×  
"एक दिन कराई गई मुन्हसे उठक-बँठक,  
पात लगाये मैं भी रहा दाँव को तक-तक ।  
दुपहर हुई, गुरुजी इमली के पेड़-तले,  
जा सोये, सोते ही खुराटे भर चले ।  
चुपके से बाल भूका चुटिये से चाँध गिररह,  
जग-जगें तब तक हो गया मैं नौ-शो-ग्यारह ।  
और उधर गुरुजी महाराज चिल्लाते रहे,  
पेड़ से टंगे लटके हुए चिल्लाते रहे ।"<sup>१</sup>

×            ×            ×            ×

गाँव की पाठशालाओं में गुरुजी दिन के समय बँठक की घटाई पर ही बैठकर खराटे भरा करते हैं । गर्मियों में पाठशाला इमली की धनी छाँव में चलती थी । पटिया लकड़ी की होती थी और परिया-बत्ती सेलम मिट्टी की ।

तम्बाकू का रिवाज बढ़ गया था । लोग कपड़े की छोटी-सी धँली में तम्बाकू भरकर सदा साथ रखते थे ।<sup>२</sup> गाँव के पटवारी (बाह्यण) भी तम्बाकू के चुट्टे (हरे पत्ते में तम्बाकू) भरकर धुएँ के बड़े-बड़े कस खींचा करते थे । पटवारी की पोगार पर नारायण कवि ने लिखा है -

उजली पगिया, 'चोपका', घंटी में तम्बाकू का गटुप्रा,  
कलकवार चाबर काँधे, मुँह के 'चुट्टे' से उठे धुमा,

१ १-१४४ ।

२. २-७६ ।

१७५७ से १८५७ तक

सुन्दर घोड़ी और जूतियां पहने धी पटवारी की  
बिजे हुई; राजा नल से उद्योत न शान सवारी की !”<sup>१</sup>

‘चोक्का’ असल में अरबी शब्द ‘चोगा’ का ही रूपान्तर है, पर अब  
यह शुद्ध तेलगु शब्द माना जाता है ।

स्त्रियां भी पान-मुपारी के साथ तम्बाकू खाने लगी थी ।<sup>२</sup> ‘शुक सतति’  
श्री नारायण कवि के बीच के नम्बे समय में स्त्रियों के आभूषणों में  
कोई विशेष अंतर नहीं आया । नारायण कवि ने भी आभूषणों की लम्बी  
नूची दी है :

“कुप्पे एगडीवित्ता, कूंकुम रेखा पापेटा बोट्ट,  
कम्मलु, बावलीलु, नितिसूर्य चन्द्रवंकलु, सूसकमु  
केम्पुरध्वला, पल्लेर पुव्लु, रावि रेखें एवं बुगडा,  
नानदीगें, मेडानुल, कुत्ति कंटु, सर्पला, गुण्डल्लेपेर,  
सरिगे, मुक्करा, वन्नासरम्, सुतं डालु, कंकण, तट्लें,  
कडियम्, संवि बंड, बड्डालान, मुद्रिकें तथा हंसकम्मुलु,  
ओयुगज्जालु, घोवतकोयलु, गिलुरु मेट्टे ।”<sup>३</sup>

आदि ।

अभिलेखों के समान आभूषणों में भी हमारे पूर्वजों की बहुत-  
सी चीजें हमारे लिए अज्ञेय हैं । इस सम्बन्ध में विशेष रचि रखने वालों  
का कर्तव्य है कि उन आभूषणों के चित्र देकर तथा पहनाई का ब्योरा  
देकर एक छोटी-सी पुस्तक लिख डालें । विशेषकर शब्द-कोशों में तो ये  
शब्द अवश्य ही दिये जाने चाहिएँ । अर्थ देने के बदले ‘आभूषण-विशेष’  
कह देने से भी काम नहीं चलेगा । वहाँ उस आभूषण का चित्र भी दिया  
जाना चाहिए ।

एनुगुन वीर स्वामी नान के एक सज्जन भद्रात शहर में ईस्ट इंडिया

१. ३-६२ ।

२. ४-१५२ ।

३. २-३६१ ।

कम्पनी की नौकरी में किसी अच्छे पद पर थे। उस समय भारत में रेलें नहीं चली थीं। उन्होंने परिवार के साथ काशी जी की तीर्थ-यात्रा करनी चाही। १८३०-३१ ई० में वे पालकियों में सवार होकर यात्रा पर चल पड़े। कठपा, कनूँल, जटपोल, बनपती, महबूबनगर (पालमूर), हैदराबाद, निजामाबाद आदि होते हुए वह काशी पहुँचे थे और वापसी में उत्तर सरकार के रास्ते बिशाखा, राजमदरी आदि होते हुए मद्रास लौटे थे। यात्री के नाते उन्होंने सारे आंध्र का भ्रमण किया था और अपनी दैनिकी में रोज की बातें त्यो-की-त्यो लिख डाली थीं। अतः दैनिकी के रूप में छपा उनका 'काशीयात्रा चरित्र' मन् १८०० से १८५० ई० तक के आंध्र-देश की परिस्थितियों की जानकारी के लिए अत्यंत उपयोगी पुस्तक है।

उस समय आंध्र-देश अंग्रेजों के अधीन हो चुका था। हैदराबाद का तेलगाना क्षेत्र निजाम के राज्य में था। अंग्रेज अभी अपने राज्य को जमाने की फिक्र में थे। देश में शान्ति-रक्षा का प्रबन्ध ठीक न था। फिर भी अंग्रेजों के अधीनस्थ आंध्र के अन्दर निजाम राज्य के तेलुगु-प्रान्त से वही अधिक शान्ति तथा सुखवस्था थी। वीर स्वामी के 'काशीयात्रा चरित्र' तथा श्री बिलग्रामो की अंग्रेजी पुस्तक 'हिस्टोरिकल एण्ड डिस्कृप्टिव स्केचज ऑफ हैदराबाद स्टेट' दोनों ही से हमें यह विदित होता है।

वीर स्वामी के 'काशीयात्रा चरित्र' में नीचे दी हुई बातें मालूम होनी हैं :

आन्ध्र-देश के अन्दर धरों की बनावट अलग-अलग प्रान्तों में अलग-अलग थी। रायल सीमा में किमानो के घरों में मनुष्य और पशु एक ही छत के नीचे बस करते थे। यह बुरी प्रथा अभी तक चली आ रही है। बड़ी आत्माकूर पहुँचकर वीर स्वामी लिखते हैं कि किसान अपने रहने-सहने के घरों की मरपशा अपने बैलों के लिए अच्छे कोठे बनाने हैं और पशुओं की अच्छी देख-रेग रखते हैं। गो का दूध नहीं निकालते।



प्रायः मंत्र के दूब-दही-धी से ही जान चनाया जाता है।<sup>१</sup> रामल जीना के बेल न तो तब अच्छे होते थे और न अब हैं। यहाँ नेल्सूर प्रान्त से बनों के श्यापारी मारा करते हैं और जहाँसे यहाँ के लोग अपने बँन खरीदने हैं। एक बँल दस-बाँल बरहा में मिल जाता है।<sup>२</sup>

कनूँस जिन में चावल को बहूत कमी है। गरीब खार मयवा कोशे के भात से गुजारा करते हैं।<sup>३</sup>

कृष्णा जिन में जिन अच्छे बँन हैं वैसे दक्षिण भारत-भर में जितने दूबरी जगह देखने में नहीं पाते।<sup>४</sup>

ममूलीपट्टन के बारे में वह लिखने हैं :

“यहाँ के लोग उतने स्वस्थ और सुहृद नहीं होने। स्त्रियाँ तब-धज-कर सुन्दर दिखाई देती हैं। कानों में तम्बो-तम्बो सांकर्ले पहनकर उन्हें ऊपर बालों में, माँग के निकट, काँट से झटका लेती हैं। यहाँ के स्त्री-पुस्य नील के धुले कपड़े पसंद करते हैं।”<sup>५</sup>

“यहाँ के लोग साधारण महकिल को भी मेखबानी कहते हैं।” (मेखबानी धारजी शब्द है, तेलुगू नहीं। किन्तु तेलुगू में अपना निवा गया है विशेष अर्थ में। ‘मेखबानी’ के लिए वेदपार्ण अनिवार्य है।) धावकन भी वेदनाप्रो के नाव को ‘मेखबानी’ कहते हैं।

“कृष्णा नदी के उत्तर में पूर्वा समुद्र तक लोगों की बोलियाँ राग-पुस्त होती हैं, अर्थात् वे शब्दों की ध्वनि को खींचकर बोलते हैं। स्त्रियाँ इतनी बड़ी नयें पहनती हैं कि पूरा मुँह दिय जाता है।”<sup>६</sup>

‘नेल्सूर-निवासी स्त्री-पुस्य भी शरीर के गठे होते हैं। खयवान

१. पृ० ११।
२. „ १४।
३. „ २३।
४. „ २५८।
५. „ २५०।
६. „ २५३-४।

भी । उनके चेहरे कुछ गोल ही होते हैं, किन्तु रंग अधिक साँबला होता है । उनका स्वभाव साधारणतया कपट-रहित होता है ।”

“राजमन्त्री और घबलेद्वर प्रान्तों को 'कोन सीमा' कहते हैं । इसमें गोदावरी नदी का डेल्टा है । इसलिए इसे सप्त गोदावरी कहते हैं । यहाँ के ब्राह्मणों के पास काफी जमीन भी है । वे अध्ययन और यज्ञादि सत्कार्यों में अच्छी धड़ा रखते हैं ।\* उड़ीसा के अन्तर्गत ग्रान्ध बेलमें है, जो तेलगा कहलाते हैं ।”<sup>३</sup>

“छोटे गंजाम और समुद्र-तटवर्ती प्रदेशों में नमक तैयार किया जाता है । नमक बनाने वालों को उप्परा (लोनिया) कहते हैं । इनकी स्त्रियाँ नारु में दोहरी नथें पहनती हैं ।”

“पुरी जगन्नाथ के मन्दिर में मुसलमानों के समान जोगी-जंगमों आदि शंकों का प्रवेश भी मना है । हिन्दुओं में भी घोबियों और चमारों का मन्दिर-प्रवेश निषिद्ध है ।”

इन दो बातों का सम्बन्ध ग्रान्ध से नहीं है ! ये तो उड़ीसा की प्रथाएँ हैं ! फिर भी चूँकि उड़ीसा ग्रान्ध के सीमान्त पर है, इसलिए यह जानकारी अच्छी ही है । यह बात ध्यान देने योग्य है कि उड़ीसा में घोबी को चमार के ही समकक्ष समझा जाता है । ग्रान्ध में घोबी की गिनती घूदों में तो है, पर घलूनो में नहीं !

तमिल प्रान्त में घूदों को विशेषकर चमार आदि को, अपमानित करने की रीति तथा उन्हें छूने और देखने तक की मनाही होने के कारण हजारों लोग ईसाई बन जाते हैं । गेदा पातेम और मंलापुर के गिरजाघरों में देसी ईसाइयों की भीड़ हम अपनी धाँसों से देख सकते हैं ।

विशाखापट्टन (बैजाग) के लोगों के सम्बन्ध में वीर स्वामी ने लिखा है -

१. पृष्ठ ३४३ ।

२. पृष्ठ ३४४ ।

३. पृष्ठ ३४४ ।

“यहां की स्त्रियों की नाक और छांते बड़ी सुन्दर होती हैं। इतले वे बड़ी सज्जती दिखाई पड़ती हैं। तहेंने के ऊपर केसरिया परिधान पहनती हैं, और पंरों में कड़े डानती हैं।”<sup>१</sup>

### हैदराबाद के सम्बन्ध में

“निजामाबाद ज़िने में घारनूर ने छ मोत की दूरो पर एक गाँव जानसोंडा है। हैदराबाद शहर छोड़ने के बाद गाँव-गाँव में तम्बतियों के घर दूध-बही मूब भित्ने लगा है। इत प्रांत में तम्बतो दूध-बही और कन-कून मुहैया करते हैं तथा मन्दिरों और शादी-ब्याह में डोल बजाते हैं। नाई मनात जताते हैं।”<sup>२</sup>

तेलगान में धोवों मगान जताने हैं। यहाँ के धोबियो ने ही गाइयों को यह काम दिया है।

### भाषा के सम्बन्ध में

कडपा छोड़ने के बाद तमिल बोलने वाले बहुत कम मिलते है। तेलुगू बोनी को ही राग के साथ नुर खीचकर बोलते है। उत्तर-सूचक वाक्यों को भी प्रश्न-सूचक बनाकर बोलते है। हिन्दुस्तानी शब्दों को मिलाकर तेलुगू बोलते हैं।<sup>३</sup>

वे बावें रायल सीमा के सम्बन्ध में कही गई हैं। उनकी राय में कडपा आन्ध्र की दक्षिणी सीमा है। हैदराबाद के अन्तर्गत “आरिस्ताबाद से उत्तर की ओर दस भीत पर ‘मेकल गढ़ो’ के नाम से एक पहाड़ी घाटी है। उसके बाद बरधा नदी पड़ती है। यही हैदराबाद की सरहद है। बरधा नदी के बाद नागपुर का इलाका शुरू होता है। नागपुर के सरहदी गाँवों में तेलुगू भी कुछ-कुछ बोली जाती है।”<sup>४</sup>

१. पृष्ठ ३३५।

२. पृष्ठ ४६।

३. पृष्ठ ४८-४९।

४. पृष्ठ ५६।

वैजाग प्रान्त के लोगों के सम्बन्ध में वीर स्वामी ने कहा है कि साधारणतया यहाँ की तेलुगू अच्छी है। लोग राग-युक्त बोली बोलते हैं। चुपके-चुपके भी बोलने का स्वभाव है। लिखावट शिकस्ता लिखते हैं। (तेलुगू में इसे सकल लिपि कहते हैं। अर्थात् अक्षरों और शब्दों को परस्पर सकल की तरह मिलाने जाते हैं।) बोली इनकी मीठी है। दिल में बुराई पर भी तुल्य हों, फिर भी मुँह पर मीठी ही बात करेंगे।<sup>१</sup>

“गजाम जिला घान्ध की एक और मोमा है। गजाम के बाद कर्नाट अर्थात् उत्कल आरम्भ होता है। आभूपण, सजावट, सगुन आदि की परिपाटियाँ भी दक्षिण से मिलती-जुलती हैं। छोटे-छोटे घरों के सामने भी दरवाजों पर चबूतरे बने होते हैं। यहाँ प्रत्येक स्त्री नाक में ‘बुलाक’ और ‘नय’ लगाती है। पास ही में मालन नामक एक ग्राम है, जहाँ पर सभी लोग तेलुगू बोलते हैं।<sup>२</sup> ऐसी तेलुगू जो किसी को नहीं आती।” (अर्थात् बिगड़ी भाषा बोलते हैं।)

“दक्षिण में नेल्लूर घान्ध की एक और सीमा है। नेल्लूर में तमिल भाषा सुनने में आती है। इस इलाके की बोली में पश्चिम से कन्नड भाषा आ मिली है, दक्षिण से तमिल, और उत्तर में तेलुगू। यह दक्षिण-देश का मध्य-देश है। यहाँ पर तेलुगू, कन्नड़ और तमिल तीनों ही भाषाएँ धुल-मिल गई हैं। यहाँ के निवासी तीनों भाषाओं में दूटी-कूटी बातचीत कर सकते हैं।”

परिणाम यह है कि जब उन-उन भाषाओं के बोलने वालों से इनका सम्पर्क होता है, तो वे इनकी हँसी उड़ाते हैं।<sup>३</sup>

मद्रास शहर और उसकी भाषाओं के सम्बन्ध में वीर स्वामी लिखते हैं :

“दो सौ वर्ष पूर्व (१६३० ई० के लगभग) चन्द्रगिरि में विजय-

१. पृष्ठ ३३५।
२. पृष्ठ ३१६।
३. पृष्ठ ३६३।

नगर के अधीश रंगराय का शासन था। उसी समय डे नामक अंग्रेज ने इस समुद्र-तट पर एक शहर बसाने के उद्देश्य से विजयनगर के राजा से इस इलाके के जमींदार दामल वेंकटाद्रि नायडू के नाम सनद प्राप्त की। वेंकटाद्रि से डे की दोस्ती थी, इसलिए उसकी इच्छानुसार वेंकटाद्रि नायडू के पिता चेन्नप्पा नायडू के नाम पर शहर बसाने का निश्चय किया गया। उनके जमींदार होने के कारण शुरू दिन से ही इस शहर का नाम 'चेन्नापट्टणम्' पड़ा। इससे पहले अंग्रेज इस बन्दरगाह को 'मदिरास' कहा करते थे। मदिरास के बन्दरगाह पर अंग्रेजों ने शहर बसाने के लिए इमारतों लकड़ी लाकर उसका पहाड़-सा लगा रखा था। उन दिनों हार्लण्ड वाले लकड़ी के ढेर को अपनी उच्च भाषा में मदार कहते थे। इसलिए इस जगह का नाम 'मदारस' पड़ा। वही बाद में 'मदिरास' हुआ।”

“मदिरास के लोग स्वभाव से चालाक तो हैं, पर साहसी नहीं! धारम्भ में ही यहाँ पर तेलुगू, कन्नड़ और तमिल-भाषी लोग मिल-जुलकर रहते आए हैं तथा संस्कृत सबकी धार्मिक भाषा है, जिसके कारण तथा पहले मुसलमानों का, और अब अंग्रेजों का शासन होने के कारण यहाँ के लोग सभी भाषाओं का स्पष्ट उच्चारण कर सकते हैं! यहाँ की स्त्रियाँ घमण्डो होने पर भी पुरुषों के हृदयों में जगह पाने की चेष्टा करती हैं! वे ऊररो बनाव-सिंगार के प्रति थड्ढा दिखाती हैं। भीतर से उनमें सचाई या साहस की ग्यूनता दिखाई देती है।”<sup>२</sup>

### तेलंगाणा

हैदराबाद राज्य के तेलुगू-अचल तेलंगाणे के सम्बन्ध में वीर स्वामी ने अपने 'बाशीयाशा चरित्र' में रास्ते के गांवों और शहरों के सम्बन्ध में जो दैनिक टीपें लिख छोड़ी हैं, उन्हें देखते हुए तेलंगाणे पर अलग से

१. पृष्ठ ३६६।

२. पृष्ठ ३७३।

लिखना जरूरी हो गया है।

हैदराबाद के अन्दर समस्थान कोल्हापुर तथा बनपर्ती के राजा आपस में एक-दूसरे से लड़ते रहते हैं। एक-दूसरे के गाँव पर हत्ला बोलकर और लूट-गाट मचाकर वे गाँव-के-गाँव तबाह किये जा रहे हैं। ऐसे भगड़ो पर एक-दूसरे से मेल-मिलाप करवाने के बदले हैदराबाद के दीवान चन्दूलाल आदि आपसी भगड़ो को उल्टा बढाकर तमाशा देण रहें हैं।<sup>१</sup>

यहाँ के जमींदार अपने ग्रामों और जमीनों के पूर्ण स्वामी हैं, वे उन जमीनों के काश्तकारों से ऐसा बुरा बर्ताव करते हैं मानो काश्तकार उनकी ब्याही बीवियाँ हो।

बीर स्वामी को ये शब्द लिखे सवा सौ साल बीत गए, किन्तु जागीरों के किसानों को दशा धव भी यही है। जागीरों की रैयत 'रैयत' नहीं 'सर्वे रहित' है। उन्हें रैयत नहीं, बल्कि 'रहित' बहना चाहिए। जागीरदार इन 'रहितों' पर ऐसा दबदबा रखते हैं कि कोई पति अपनी पत्नी पर बया रखेगा।

जागीरदारों के अत्याचारों के बारे में बिलग्रामी ने लिखा है।

“हर गाँव में जागीरदार ध्यापारियों को सता-सताकर महमूल बमूल करते थे। परिलाम-स्यहप सन् १८००-५५ के बीच सारा ध्यापार बँठ-सा गया था।”

बीर स्वामी ने लिखा है :

‘हैदराबाद के सब लोगो ने हाथ में हथियार लेकर बेबारे कमबोरों पर मार-काट मचा रखी है।<sup>२</sup> हैदराबाद शहर के अन्दर भी यदि कोई किसी को मार डाले, तो कोई पूछने वाला नहीं। यदि कोई व्यक्ति कोई पेड़ लगाये तो उसके फल पाने वाले यही होंगे, जो हथियारों को धपना धानूपण और अत्याचार को धपनी ह्याति का कारण बनाये हुए हैं।

१. पृष्ठ २४-५।

२. पृष्ठ ३४।

शान्तिपूर्ण शासन के अधीन रहने वालों के लिए हैदराबाद शहर में ठहरना या राज्य के अन्दर यात्रा करना खतरनाक होगा।”<sup>१</sup> (अन्त में रजाकारों ने जो कुछ किया वह सब इसी पुरानी नीति का परिणाम था।) “नागपुर के निवासी कृत्रिम स्वभाव के जरूर हैं, परन्तु हैदराबाद वालों की तरह बात-बात पर हथियार उठाने वाले नहीं हैं।”

विनयाम्नी साहब लिखते हैं : “उत्तर सरकारों ने निज़ाम की जो जागीरें हैं, उनमें प्रजा पर बड़े अत्याचार किये गए हैं। पिंडरियों और मराठों के दल देश को लूट-मारकर बराबर कर देते थे।”<sup>२</sup>

“हैदराबाद राज्य के अन्दर प्रतिदिन चोरियां होती थीं। डाके पड़ते थे। रहेलों के दल और चोरों की टोलियां गांव-के-गांव लूट डालती थीं। डाके डालने वाले अधिकांश रहेले ही होते थे।”<sup>३</sup>

हैदराबाद राज्य की इस दुःस्थिति के कारण व्यापार एकदम ठप पड़ गया था। जागीरदारों के अत्याचारों से खेती तबाह हो गई थी। परिणाम यह हुआ कि अकाल-पर-अकाल पड़ने लगे और लोग मवित्तियों की तरह मरने लगे।

जाने ब नाने—फ़ारसी में जान प्राण या प्राणी को कहते हैं और नान रोटी को। अर्थात् एक रोटी देने पर एक प्राणी मिल जाता था। सन् १६२६-३० ई० में बहुत बड़ा अकाल पड़ा था। उसी समय यह कहावत चल पड़ी थी। अर्थात् माता-पिता अपने प्यारे बच्चों को एक-आध रोटी के बदले बेच डालते थे। कुत्ते का गोश्त बकरे के गोश्त के नाम पर विक्रता था। अकाल से लोग इतने मरने थे कि उनको जलाने या गाड़ने वाला तक नहीं मिलता था। लोग मुरदों की मूखी हड्डियों को पीसकर उसे घाटे में मिला-मिलाकर बेचा करते थे। कहीं-कहीं तो मनुष्य ही मनुष्य को मारकर खा जाया करते थे। सन् १६५६ और

१. पृष्ठ ३६।

२. पृष्ठ २२-३।

३. पृष्ठ २-१६६।

१६६१ ई० में फिर अकाल पड़ा।<sup>१</sup> सन् १७०२, १७१३, १७४६, १७६६, १७८७ और १७९३ ई० में तेलगाछे में भारी-भारी अकाल पड़े। अकेले हैदराबाद शहर में ६०,००० भूखे अकाल के कोर बन गए। इतने तो गिनती के मरे। घरों के भीतर जो मरे उनकी किसी ने गिनती नहीं की। रायचूर में २००० जुलाहों के घर थे। अकाल मान्त होने पर उनमें से केवल ६ प्राणी बचे थे। सारा देश आदमी की खोपड़ियों से भरा पड़ा था। इसका नाम ही खोपड़ी-अकाल पड़ गया था।<sup>२</sup>

सन् १८०४ में फिर अकाल आया। उस समय रागी का अनाज, जो रुपये में साठ सेर बिकता था, रुपये का ढाई सेर बिकने लगा। कुछ न तो मानव-मांस भी खाया।<sup>३</sup>

१८३१ में फिर अकाल पड़ा। माताओं ने मुट्ठी-भर अनाज के लिए अपने बच्चों को बेच-बेच डाला। लोग पेड़ों की पत्तियाँ खा-खाकर प्राण बचाने लगे।<sup>४</sup> अकाल प्रत्यक्ष बाल बनकर आया। गनी-गनी में, रास्तों और सड़कों पर लाशें पड़ी रहती थीं।

अकालों के फलस्वरूप लोग भारी कर्जों में फँस गए। बर्ज देने में मारवाड़ी आगे थे। मारवाड़ियों के भी बाबा दूसरे लोग हैं, पर न जाने क्यों, कोई उनका नाम भी नहीं लेता। अरब और रहेले हैदराबाद के अन्दर २५० साल से लोगों को कर्ज देकर इतना अधिक छपया व्याज पर बमूल करते हैं कि किसी ने कहीं देखा-सुना भी न होगा। आज भी वे ४०० सैकड़े के हिसाब से मूद बमूल करते हैं। कर्जदार कर्ज न चुकाये तो जम्बिया भोरकर बमूल किया जाता था।

मारवाड़ी सैठ वास्तकारों से अनाज खरीदते और अपने दही खोटों में भर रखते थे। अबसर पाकर उसे जैचें दामों में बेचने ल। उन दिनों

१. २-१६-७।
२. २-२५।
३. २-२६।
४. २-२६-४०।



मारवाड़ियों के सम्बन्ध में कहावत ही चल पड़ी थी कि लोटा-डोर लेकर मारवाड़ी नर्मदा पार करता, हैदराबाद पहुँचता और मूद-पर-सूद बाँधकर घोड़े ही दिनों में वह इतना अधिक धनी हो जाता था कि बँलगाड़ी पर सोना लादकर अपने देश मारवाड़ लौटता था।<sup>१</sup>

हैदराबाद के एक पुराने दीवान राय राजा राम्बा ने एक बार अरबों से कर्ज लिया। राजा राम्बा कर्ज न चुका सके। अरबों ने उन्हें इतना त्रास दिया कि राजा राम्बा निजाम की ड्योड़ी में जा छिपे।<sup>२</sup> अरब जिसे कर्ज देते, उसे वसूली में कठोर यातनाएँ देते थे। बाकीदारों को वे अपने घरों के भीतर भूखे-प्यासे बन्द रखकर कर्ज वसूल करते थे। अरबों और पठानों ने जागीरदारों को कर्ज देकर ८० लाख की जागीरें अपने अधीन कर रखी थी।<sup>३</sup> पुराने जमाने में अदालत नहीं थी। बनिये-बक्काल भी अपने कर्ज वसूल करने के लिए अरबों और पठानों को वसूली पर भेजते थे और वे जम्बिया तलवार दिखाकर वसूल कर लाते थे, अथवा कर्जदार को ही घसीट लाते थे। रहेल और अरब अपने कर्जदारों पर चट्टानें लाद-लादकर शरीर पर गरम लोहे से दाग देते थे। बाकीदार कहीं भाग न जाय इस विचार से उस पर दो-चार पहरेदार बिठा देने थे और उससे कई गुना अधिक वसूल करते थे।<sup>४</sup>

हैदराबाद के अन्दर बच्चों को बेचने तथा सती की प्रथाएँ भी थी। सन् १८५६ ई० में बच्चों के व्यापार को कानून से रोक दिया गया। सती की प्रथा भी सन् १८४८ में बन्द कर दी गई थी।

तेलगाना में जमीनों को ठेके पर देने की प्रथा थी। ठेकेदार वास्तुकारों में मनमानी रकम वसूल करते थे और सरकार का हिस्सा देकर बाकी अपने पास रख लेते थे। जमीनों पर कोई निश्चित कर नहीं था।

१. २-५६।

२. २-५६।

३. २-११८।

४. २-१६३।

देशपाडे और देशमुख बसूली के जिम्मेवार थे। वे भूमि-कर के साथ-साथ करघा-कर, देहरी-कर, भेड़पट्टी, डेढ़पट्टी, जाति-कर, व्याह-कर, मीत-कर, चाम-कर, हाट-बाजारी, आदमपट्टी (गैर-मुसलिम दस्तकारी में) आदि कोई २७ प्रकार के फुटकर कर प्रथा से वसूल करते थे।<sup>१</sup>

तेलगाणे की कई अरानी दस्तकारियाँ थीं। अंग्रेजी माल के कारण तथा देश की अराजकता के कारण १८००-५० के लगभग देशी दस्तकारियों का पतन शुरू हुआ। वरगल की दरी-कालीने काकतीयो के पतन के बाद से ही प्रसिद्ध थी। बीदर की बीदरी दस्तकारी वहाँ के मुलतानो के उमाने से ही फलती-फूलती आई थी। तेलगाणा खासकर वारीक सूती माल के लिए मशहूर था। वरगल की महारानी रुद्रभादेवी के समय पुर्तगाली यानी मार्कोपोलो वहाँ का सूती कपडा देखकर भ्रम में पड़ गया था कि यह मकड़ी का जाला तो नहीं है। वरगल की कालीने १८५१ में लन्दन की प्रदर्शनी में रखी गई थी। हैदराबाद राज्य में लोहा गलाकर फौलाद तैयार किया जाता था। वरगल, बूनसमुद्र, दिदुति, कोमरपल्ली, निर्मल, जगत्याल, अनन्तगिरि, लिंगमपल्ली, निजामाबाद आदि स्थानों पर लोहे का काम होता था। निर्मल के निकट बूनसमुद्र में इस्पात तैयार किया जाता था। एलगदल इब्राहीम पटम, कोनापुर, वित्तलपेट आदि स्थानों में भी पक्का लोहा बनता था। बूनसमुद्र में जिस कोटि का फौलाद तैयार होता था, उसके लिए ईरान वालों ने भी प्रयत्न किया, पर वे पार नहीं पा सके। हैदराबाद, गदवाल, बनपर्ती और कोल्हापुर में १८६० तक तलवारें, कटारें आदि तैयार की जाती थी। एक तलवार की कीमत पाँच से लेकर पन्द्रह रुपये तक होती थी। सम्मम जिले के जगदेवपुर में तलवारों पर सोने का पानी चढ़ाया जाता था। गदवाल में बन्दूकें भी तैयार होती थीं। बनपर्ती, गदवाल तथा निर्मल में रूहली बन्दूकें तैयार की जाती थीं। एक बन्दूक का दाम २० से लेकर ६० रुपये तक होता था। सूत व रेशम दोनों

निजाऊर नधू नान के पान टेंगर जिने जाते थे । ये कबिकर हैदराबाद और मदकान में टेंगर होते थे । टकर-रेखन बरतन, कारानखुपेट, मठवाडा हुजमन्ती, करेननपर, नाचवानुर आदि ने टेंगर होडा था । इन्दूर (निजामाबाद) आदि मेदक हैदराबाद, कोण्टमुन्ना (नह्बुवनगर) में देसी कागड बनडा था ।<sup>१</sup>

वार स्वामी अपनी 'काशीयात्रा' में लिखते हैं :

“कडपा जिले में एक गाँव दुम्बूर है । दुम्बूर से चाये हर गाँव में कौडाकरना जाति के लोग कच्चे लोहे के कंकरों से लोहा तैयार करते हैं ।”<sup>२</sup>

‘गुप्पूर जिले के वेडा पातेन में एक हजार जुताहे रहते थे । ये पाररें, रुमाल, साड़ियाँ, धोतियाँ आदि तरह-तरह के कपड़े बुनकर सभी प्रदेशों को भेजा करते थे ।”<sup>३</sup>

‘वेगुलवाडे के निक्टवडों एक ग्राम बालकोडा में गंजीफे (ताश) के पत्ते आदि तैयार करके हैदराबाद भेजते हैं । इस गाँव में धनेक जीमगरी के घर हैं ।”<sup>४</sup>

“निर्मल के चण्डी-निमान आदि बरतन देश-भर में प्रसिद्ध हैं । इस गाँव में बहुतेरे कनेरों के घर हैं ।”<sup>५</sup>

आगे निखते हैं :

“हैदराबाद में सभी बड़े-बड़े लोग पान खाया करते हैं । बालकोडा में पान के बगोचे हैं । कडपा से, निजामाबाद से आगे गोवापरी गरी तक, कच्ची मुपारी बिकती है । इस प्रांत के गरीब लोग तो धीमक पान नहीं खाते, पर मुपारी-मात्र खाते रहते हैं । धूर्बों के हाथ का हुक्का

१. बिलग्रामो १—पृष्ठ ३६५-४२५ ।

२. पृष्ठ ६ ।

३. ‘काशी यात्रा’, ३५५ ।

४. वही, ४६ ।

५. वही, ५० ।

अन्य लोग भी पिया करते हैं। हैदराबाद शहर में फल मिसते तो हैं, पर मद्रास से तिगुने दाम देने पड़ते हैं। इसी तरह सब्जी-तरकारी भी यहाँ महंगी है। पर है बड़ी स्वादिष्ट।”<sup>१</sup> “जहाँ तक सब्जी-तरकारियों का सम्बन्ध है, मैं कहूँगा कि मैं इतने प्राणों में घूमा, पर कहीं भी हैदराबाद के समान स्वादिष्ट सब्जी नहीं खाई।”<sup>२</sup>

“प्राजकाल हिन्दू-मन्दिरों और स्वयं हिन्दुओं की दशा घृति शोचनीय है। हिन्दुओं में जात-पात का भाव पागलपन की सीमा तक पहुँच चुका है।” मद्रास शहर के सम्बन्ध में वह कहते हैं कि “यहाँ चारों ओर के लोग आकर बस गए। उनमें दक्षिण और दाम के नाम से दो पक्ष हो गए हैं।” ये पक्ष अंग्रेजों के हक में कटुशायी बने।<sup>३</sup> “मन्दिरों की आय को अंग्रेज और मुसलमान नवाब अपने-अपने इलाकों के अन्दर घास ही ले लेते हैं। बालाजी वेकटेश्वर भगवान् की भक्तों की ओर से नोट-स्वल्प जो धन मिलता है, उससे ईस्ट इंडिया कम्पनी को लगभग एक लाख रुपये सालाना की आमदनी होती है।”

“बालाजी पर्वत पर चाहे कोई भी शुभ कार्य करे, सरकार को कर देना पड़ता है।”<sup>४</sup> “‘अहर विलस’ में उत्सव के अवसर पर ४०० वरता (डोनार) की बयूली होती है। कन्दूर के नवाब वह सारी रकम ले लेता है, किन्तु मन्दिर की मरम्मत के लिए कुछ नहीं करता।”<sup>५</sup> “इसी प्रकार श्री शंलेश्वर मन्दिर से सालाना २५००० रुपये कन्दूर के नवाब को मिल जाता है। पर वह देता तक नहीं कि मन्दिर की क्या दशा हो रही है।”<sup>६</sup>

१. ‘काशी यात्रा’, पृष्ठ ३४।

२. वही, २-७४।

३. वही, ३७०।

४. वही, ४।

५. वही, १०।

६. वही, २०।

“हैदराबाद शहर के चारों ओर बड़े-बड़े टीले बने हैं। हर टीले पर एक मसजिद जरूर बनाई गई है। हिन्दुओं के मन्दिर नहीं हैं। यदि हैं भी, तो उनकी उन्नति हो नहीं पाती।”<sup>१</sup>

इंवलवाई पहुँचा। वहाँ रामचन्द्र जी का मन्दिर है। इस नवाबी राज्य में यह जगह मानो भ्रंगीठी में पंदा हुए कमल-जंसी है। बालाजी तिरुपति छोड़ने के बाद राजोपचार के साथ पूजा-धाराधना की व्यवस्था बाला मन्दिर एक यही देखने में आया है। मेरे विचार से ऐसे मन्दिर और कहीं हैं ही नहीं।<sup>२</sup> “इस प्रकार अंग्रेजों और कर्नूल तथा हैदराबाद के नवाबों के कारण हिन्दुओं की दशा गिरती ही गई। उसके साथ स्वयं हिन्दुओं में ही जाति-बहिष्कार, ऊँच-नीच और नये-नये दुराचारों का बोल-बाला है। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के आचार्य और मठाधीश आजकल पता नहीं कहीं छिपे बंटे हैं। शंकर, रामानुज, माध्व आदि आचार्यत्रय के बाद उनकी गढ़ियों पर विराजमान होने वाले का नाम तक मुनाई नहीं पड़ा, काम की कौन कहे। ऐसे घोर अन्धकार के युग में भी कुछेरु तत्त्वज्ञानियों ने समाज-मुधार की भरसक चेष्टा की। ब्रह्मानन्द योगी, कम्बगिरि, इन्द्रपोनी ब्रह्मन्नें चिन्नूर नरसिंहदास, वरनारायणदास, परशुराम नरसिंहदास, आदिकेशव वीरस्वामी, शिवयोगी, ताटे गजेन्द्र अगप्पा आदि ने इस अन्धकार से पीड़ित जनता में तत्त्व-ज्ञान का प्रचार किया।”

“कर्नूल के नवाबों ने धार्मिक पक्षपात के बशोभूत होकर अनेक मन्दिरों को मसजिदों में परिवर्तित कर दिया था। उस कर्नूल में बड़े-बड़े मन्दिर-मसजिद बना दिये गए। कुछ हिन्दुओं को भी बलात् मुसलमान बनाया गया। शिवाजी ने महाराष्ट्र में कई मुसलमान ही चुके हिन्दुओं को शुद्ध करके फिर से हिन्दुओं में मिला लिया। सन् १७५६ में बसावतजग ने चिन्नातिम्मन्नें को ‘पतिकोंडा’ जागोर में दे दिया। कर

१. ‘काशी यात्रा’, पृष्ठ ३५।

२. वही, ४३।

चुकाने की शक्ति न होने के कारण तिमर्णों ने अपनी पत्नी तथा पुत्रों को बसालतजंग के यहाँ (धरोहर) छोड़ रखा। बसालतजंग ने उस स्त्री तथा बच्चों को जबरदस्ती मुसलमानों के हाथ का खाना खिलाया और मुसलमान बना दिया। जब यह खबर मराठा पेशवा को मिली तब पेशवा ने उन्हें वापस मँगवाया। तब भी बसालतजंग की बेगम ने एक बच्चे वासप्पा को अपने ही पास रख लिया। उसका नाम बदलकर रहमत मालीखी रखा और उसे अपने बेटे का दीवान बना दिया।”<sup>१</sup>

इस्लाम का प्रचार भव घटने लगा था। ईसाई धर्म बढ़ने लगा था। ईसाइयों ने मुसलमानों की तरह तलवार या बन्दूक से धर्म का प्रचार नहीं किया। इसके लिए उन्होंने विविध उपाय जरूर रखे। ईसाई पादरी नियुक्त किये, जो गाँव-गाँव घूमकर धर्म का प्रचार करते थे। ये पादरी भारत-भर में फैले हुए थे। जो जिस प्रान्त में रहता वह वहाँ की भाषा सीखता और अपनी 'इजील' का उस भाषा में अनुवाद करता। इस प्रकार सभी भारतीय भाषाओं में 'इजील' के अनुवाद छप चुके थे। लोगों में उन्हें भुगत वांट दिया करते थे। पादरियों ने जंगलों के अन्दर भील, सयाल, मुण्डा, गोंड, कोया, तोडा, नागा आदि जातियों के साथ रहकर, उनके साथ पुन-मिलकर, उनकी भाषाएँ सीखकर, अपने धर्म का प्रचार किया। उन्होंने उन जंगली भाषाओं के ध्याकरण तथा पाठ्य-पुस्तकें तैयार की। इस प्रकार उन जातियों के साथ-साथ उनकी भाषाओं का भी उद्धार किया।

इन मिशन वालों ने शुरू से ही हिन्दुओं के धर्म तथा आचार-विचार के प्रतिदूल प्रचार किया। हिन्दुओं की जात-पात में, विशेषकर छून-छात से ईसाइयों ने पूब लाभ उठाया। जातों अछूतों को ईसाई बना लिया। इसमें उनका क्या दोष? यह तो हिन्दुओं का ही दोष है कि उन्होंने सुपाछूत अपनाकर अपने पैरों पर घाय मुल्हाड़ी मार ली। पाप का फल तो भोगना ही होगा। भोग रहे हैं। ईसाइयों ने यह दुस्प्रचार



सके । राजपूतो से दोस्ती के बजाय उन्होंने लड़ाई मील ली । इन प्रकार श्रीरो को भी दुर्बल किया और ग्राम भी कमजोर पड़ गए । इन तमाम कारणों से १८१३ के बाद मराठे मैदान खाली कर गए । मराठा सेना के बहुत सारे सैनिक अपनी परम्परा के अनुसार लूट-मार को अपनाये रहे । यही पिडारी कहलाये । ये पिडारी इधर तेलगाला, उधर रायन सीमा और उत्तर सरकारो तक एक-सी लूट-मार का बाजार गरम बिये रहे । दो-दो सौ की टालियों में लेकर पाँच-पाँच हजार की भीड़-सी पलटनें बनाकर टिड्डी-दल की तरह बस्तियों में घुम पड़ते और उनका विध्वंस करके नौ-दो ग्यारह हों जाते ! वे लादने-दोने की भ्रष्टो से बरी थे । रुपया-पैसा सोना-चाँदी-जैसी कीमती चीजों पर ही हाथ मारते थे । बरसात की तरह हर साल उनका दौरा हुमा करता था । फसलें कब तैयार होगी, इसका पता किसानों से पहले पिडारियों को हो जाता था । ठीक कटाई पर पहुँच जाते और सारा ममेटकर चपत हो जाते ।

अंग्रेज बंगाल-बिहार की लूट-मार में मग्न थे । जब तक पिडारी अंग्रेजो दवाकों से दूर रहे, तब तक उन्हें इनकी चिन्ता न थी । पिडारी पूरे पचास साल तक बे-खटके लूट-पाट करने रहे । प्रजा की मुँह लेने वाला कोई न था । जहाँ जंगे जिसकी ममक में धाया, गाँव वाले मिल-मिलाकर अपनी-अपनी रक्षा करने की चेष्टा करते रहे । भ्रान्ध के ग्रामों का पुराना रूप ही बदल गया । गाँव के चारों ओर बुर्ज बनाकर उनके बीच बड़ी-बड़ी दीवारें खड़ी करके एक गद्दी-सी बना लेते और एक जगह गाँव का बड़ा फाटक बना लिया जाता । फाटकों और बड़े दरवाजों में लोहे की पट्टियाँ और नुकीले सीमचे जड़कर अन्दर की ओर बड़ा-मा लोहे का अड़गडा लगा दिया जाता । घंघेरा होने-होते ढोल-नगाडा बजता, और लोग गाँव की चहार-दीवारी के अन्दर अपने-अपने घरों में पहुँच जाते । फिर फाटक बन्द कर दिया जाता । फाटक पर रात-भर तलार (चीन्नीदार) पहरेदार बेगार में-सिधो रतजमे करके पहरा देते । पिडारे ताँ दिन-दहाड़े धाया चोचने थे । बुर्ज इसीलिए बने थे कि उन पर



दिन में भी पहरेदार रहने थे। दूर से ही नदें उटती देखी नहीं कि नगाडा बजा दिना। नांग वेडों से कान छोड़कर गांव में आ जाने और घाटक बन्द कर दिना जाता। कुर्बों के ऊपर से और दीवारों के पीछे से वे निहारियों का मुकाबला करते।

सन् १=१४ ई० में निहारियों के पास २१००० कुटुम्बदार, ११००० पैदान और छद्मगृह ताँगे थे। १=१६ ई० में उन्होंने उत्तर सरकार में नाईं प्यारह दिनों के अन्दर ३३६ गाँवों को मूट किया था। छँ-छात हवार ब्यक्तियों को मार-पीटकर अन्नरा करके छिपाने हुए वन का पत्रा लगाया था। उनको मार बिक्रेपकर मुद्दुर पर पडी थी। निहारियों को क़रता को सहने की ताब न हो उचने के कारण नैकडों बगने अन्नो भ्येनडियों में आन लगाकर धान ही अन्न बाण-बच्चों मुनेत्र जन मरे थे। मुँकडों स्त्रियाँ निहारियों के बनात्कार को सहन न करके कुर्बों में दूदकर डूब गयी थीं। तीन-तीन चार-चार बुबनियों को एक साथ गटुठ बाँधकर निहारों घोडों की पीठ पर ने डहने और उन्हें दानी बनाकर बेचते। चंद बच्चे जो वन निकले उगोने अश्विन बहादुर को इनको खबर नियो।<sup>१</sup>

निहारों त्रियों का मान-मन स्वयं उनके पतिवों की झानों के आने कर डानते थे। जो नाम अन्नने नाथ ने जा मुकते, से जाते; पर जो उनके काम का न होना, उसे भी नष्ट-त्रष्ट करके बेकार कर डानते थे। जो व्यक्त अन्ना छिपाना हुआ वन गुरल न बनाता, उसके मुँह पर गरन-गरन राख को दैनी बाँध देते और कुटुम्बड गुरु कर देते। इन कुटकर मरने ने जो बच जाते, वे भी अन्निक दिन जाँवित न रहते। नांगों को जनांग पर वित्र निडाकर गाँने पर ठले बड़ाकर उसपर कई निडाती नडे हो जाते और दूरा-दाँदा करते थे। इस प्रकार उनके अमानुषिक कृत्यों का कोई अन्त न था। निहारियों ने अविचनर मण्डे ही थे। वेस मुकनों को सेनाधों ने हटे हुए जिनाही भी उनमें शामिल हो नर थे।

मके । राजपूतों से दोस्ती के बजाय उन्होंने लड़ाई मोल ली । इस प्रकार घोरों को भी दुर्बल किया और घाय भी कमजोर पड़ गए । इन तमाम कारणों से १८१३ के बाद मराठे मैदान खाली कर गए । मराठा मैदान के बहुत सारे सैनिक अपनी परम्परा के अनुसार लूट-मार का धरनाये रहे । यही पिडारी कहलाये । ये पिडारी इधर तेलगाणा, उधर रावल सीमा और उत्तर सरकारों तक एक-सी लूट-मार का बाजार गरम बिये रहे । दो-दो मी की टोलियों से लेकर पाँच-पाँच हजार की भीड़-सी पलटने बनाकर टिट्टी-दल की तरह बस्तियों में घुस पड़ते और उनका विध्वंस करके नौ-दो ग्यारह हो जाते ! वे लादने-डोने की झुंझों से बरी थे । रुपया-पैसा सोना-चाँदी-जैसी कीमती चीजों पर ही हाथ मारते थे । बरसात की तरह हर साल उनका दौरा हुआ करता था । फसलें कब तैयार होगी, इसका पता किमानों से पहले पिडारियों को हो जाता था । ठीक कटाई पर पहुँच जाते और मारा समेटकर चपत हो जाते ।

अंग्रेज बंगाल-बिहार की लूट-मार में मग्न थे । जब तक पिडारी अंग्रेजी इलाकों से दूर रहे, तब तक उन्हें इनकी चिंता न थी । पिडारी पूरे पचास साल तक बे-गुटके लूट-पाट करते रहे । प्रजा की मुर्ख होने वाला कोई न था । जहाँ जैसे जिनकी समझ में आया; गाँव वाले मिल-मिलाकर अपनी-अपनी रक्षा करने की चेष्टा करते रहे । ग्राम्य के ग्रामों का पुराना रूप ही बदल गया । गाँव के चारों ओर बुर्ज बनाकर उनके बीच बड़ी-बड़ी दीवारें खड़ी करके एक गद्दी-सी बना लेने और एक जगह गाँव का बड़ा फाटक बना लिया जाता । फाटकों और बड़े दरवाजों में लोहे की पट्टियाँ और नुकीले सीसके जड़कर घन्दर की घोर बड़ा-सा लोहे का घड़गड़ा लगा लिया जाता । अंधेरा होने-होते दौल-नगाहा बजता, और लोग गाँव की बहार-दीवारी के घन्दर अपने-अपने घरों में पहुँच जाते । फिर फाटक बन्द कर दिया जाता । फाटक पर रात-भर तलार (चौकीदार) पहरेदार बेगार मेल-संधी रतजगे करके पहरा देते । पिडारे तो दिन-दहाड़े धामा बोलते थे । बुर्ज इमीलिए बने थे कि उन पर

दिन में भी पहरेदार रहते थे । दूर से ही गर्द उड़ती देखी नहीं कि नगाडा बजा दिया । लोग खेतों से काम छोड़कर गाँव में आ जाते और फाटक बन्द कर दिया जाता । बुजुर्गों के ऊपर से और दीवारों के पीछे से वे पिडारियों का मुकाबला करते ।

सन् १८१४ ई० में पिडारियों के पास २१००० घुडसवार, १५००० पैदल और अठारह तोपें थी । १८१६ ई० में उन्होंने उत्तर सरकार में साढ़े म्यारह दिनों के अन्दर ३३६ गाँवों को लूट लिया था । छँ-सात हजार व्यक्तियों को मार-पीटकर अधमरा करके छिपाये हुए धन का पता लगाया था । उनकी मार विक्षेपकर गुप्तर पर पड़ी थी । पिडारियों की क्रूरता को सहने की ताब न हो सकने के कारण सँकड़ों घराने अपनी भोपड़ियों में आग लगाकर आप ही अपने बाल-बच्चों समेत जल मरे थे । सँकड़ों स्त्रियाँ पिडारियों के बलात्कार को सहन न करके कुम्हों में कूदकर डूब मरी थी । तीन-तीन चार-चार युवतियों को एक साथ गट्टुड बाँधकर पिडारी घोड़ों की पीठ पर ले उड़ते और उन्हें दासी बनाकर बेचते । चढ़ बच्चे जो बच निकले उसीसे अंग्रेज बहादुर को इसकी खबर मिली ।<sup>१</sup>

पिडारी स्त्रियों का मान-भग स्वयं उनके पतिव्रतों की आँखों के आगे कर डालते थे । जो माल अपने साथ ले जा सकते, ले जाते; पर जो उनके काम का न होता, उसे भी नष्ट-भ्रष्ट करके बेकार कर डालते थे । जो व्यक्ति अपना छिपाया हुआ धन तुरन्त न बतलाता, उसके मुँह पर गरम-गरम राख की थँनी बाँध देते और कुटम्मस शुरू कर देते । दम घुटकर मरने से जो बच जाते, वे भी अधिक दिन जीवित न रहते । लोगों को जमीन पर चित्त लिटाकर सीने पर तस्ते चढ़ाकर उस पर कई पिडारी खड़े हो जाते और कूदा-फाँदा करते थे । इस प्रकार उनके अमानुषिक कृत्यों का कोई अन्त न था । पिडारियों में अधिकतर मराठे ही थे । वैसे मुगलों की सेनाओं से हटे हुए सिपाही भी उनमें शामिल हो गए थे ।

१. R. Villams पृष्ठ १४१-३

मुसलिम पिडारियों को बीधियाँ भी उनके साथ चलती थी। उनकी पोशाकें हिन्दू स्त्रियों की-सी होती थी और वे हिन्दू-देवताओं की पूजा करती थी। वे बुरका नहीं ओढ़ती थी। सम्भवतः वे पहले हिन्दुओं की ही पत्नियाँ थी, जिन्हें मुसलमानों ने हथिया लिया था। नहीं तो वे ऐसी हिन्दुप्रानियों की सत्तानें थी। वे घोड़ों पर सवारी करती थी और मुत्ती धूमती थी। उनके गठे शरीर मर्दों को भी मात करते थे। वे साक्षात् लकिनी-सी थी। पुष्प पिडारियों से भी वे पिडारिनियाँ अधिक कठोर होती थी। उनके दिलों में दया-धर्म का लेसा भी नहीं था। स्त्रीजनोचित गुण तो उनमें नाम-भाग्य को भी नहीं थे। इसलिए उन स्त्रियों को देखते ही मच्छे-मच्छे मर्द काठ के पुतले बनकर गड़े-के-गड़े रह जाते थे। बाटी तो घून नहीं।

फिर पिडारियों ने अंग्रेजी इलाकों पर हाथ डालने शुरू किये। उस समय के गवर्नर लार्ड हेस्टिंग्स ने एक लाख बीस हजार की सेना को एक साथ चलाकर पिडारियों को चारों ओर से घेर-घेरकर मारा।

पिडारियों से पिङ्ग छूटा, पर एक और बला घा पड़ी। यह बला ठगों की टोलियों की थी। यह भी एक पुराना पेशा जान पड़ता है। तेरहवीं सदी में फीरोजशाह खिलजी ने एक हजार ठगों को सजाएँ दी थी। तेलुगू में एक शब्द 'टवरूरी' है, जिसका पुराना प्रयोग सन् १३०० ई० के लगभग नाचना सोमना की रचना में मिलता है। मराठी में यही 'ठक' है। दोनों भाषाओं के इन तीनों शब्दों के बीच कुछ परस्पर सम्बन्ध तो नहीं। पर इन शब्दों के इतिहास का पता नहीं। परन्तु, यह पुराने पापी घञ भी जीवित थे। वे स्वयं नहीं तो उन्हीं पापियों के पोते-परपोते ही तो थे। देश में अराजकता फैली तो फिर ये फिर उठाने लगे। इनमें हिन्दू-मुसलमान सभी होने थे। सब-के-सब काली माता की पूजा करते थे। नये भरती होने वालों को घापन में इशारों से बातचीत करने की शिक्षा दी जाती थी। भेष बदल-बदलकर वे यात्रियों के साथ ही जाते और बीच जंगल में जाकर नूट लेते थे। उनके पास कोई विशेष हथियार

नहीं होते थे। दो हाथ की एक फँतरी ही उनकी सब-कुछ होती थी। मले में फटा डालकर खीचना कानी था कि दो सेकड़ के घदर ही प्राण-पखेरू उड़ जाते। कहा जाता है कि कभी बहुत बड़े नामों फकीर हजरत निजामुद्दीन औलिया भी सन् १४०० में किसी ठग-टोली में शरीक थे। धनी महाजनों और जमींदारों से इनका नेल-जोल रहता था। मिल-जुलकर अपने हिस्से बाँट लेते थे। ठगों का उपद्रव उत्तर भारत में अधिक था, किन्तु दक्षिण भी उनसे बचा न था। आंध्र के एपल सीमा के अंचल में, और उनसे भी बढ़कर हैदराबाद के कारवान सराय, चन्नरायनगुट्टा शालीबदा आदि में ठग बसा करते थे, और मुसाफिरो का पीछा करके उन्हें मार डालते थे। निजामाबाद और आदिलाबाद की तरफ उनकी धाक और भी अधिक थी। मेडोज टेलर ने 'कनफेसस ऑफ ए ठग' नाम से ठगों का वृत्तांत लिखा है। उसने लिखा है कि अकेले अमीरधनी ठग ने ७१६ जानें ली थीं। यह ठगों का सरदार था। १८३१-३७ में स्लीमन नामक एक अंग्रेज ठगों की जाँच करने के लिए नियुक्त होकर भारत आया था। उसने ३२६६ ठगों को गिरफ्तार कर लिया और उनमें से अधिकतर को फाँसी पर लटका दिया।

ठग भी नये। पर मुद विलग्रामी ने लिखा है कि तेलगाणे में डाकुओं और चोरों का बोल-बाला था। रोहेलो और अरबो ने तो इसे अपना पेशा ही बना रखा था। इसलिए अंग्रेजी राज में अमन हो जाने-मात्र से हैदराबाद के आंध्र को शान्ति नहीं मिली।

### पंचायत-सभाओं का विनाश

राज्य मिटें, साम्राज्य बदलें, पुराने राजवश जायें, नये राजा अपना नया राज कायम करें, ऊपर चाहे कुछ हो; पर नीचे के ग्रामवासियों को उनकी चिन्ता नहीं थी। उनकी पंचायतें बनी रहें, बस यही उनके लिए काफी था। पंचायत राज ही उनके लिए रामराज था। पंचायतों में कभी कुछ प्रत्याय भी होता था। यदि ऐसा न होवे तो पंचायत और

स्वर्ग में अन्तर ही क्या रह जाता ? किन्तु उससे गाँव की व्यवस्था अस्त-व्यस्त नही होती थी । मानव-मात्र में त्रुटि होती है । पचायतो में दोष रहना कोई आश्चर्य की बात नहीं है । फिर भी पचायतों अग्रजों की अदालतों से हजार गुनी अच्छी थी । तमिल देश के अदर गाँव-गाँव में साल-साल में ग्राम-पचायतों के पंचों का चुनाव होता था । यही पंच सभी फौजदारी और दीवानी के झगड़े तय करते थे । मासगुजारी वसूल करते थे, गाँव की सफाई रखते थे, नाटक-भगीत आदि के आयोजनों का प्रबन्ध करते थे । अग्रज हमें दूरकर समझाने लगे कि हम असभ्य है, जंगली है, हमारी विद्या निकम्मी है । हमारा धर्म, आचार-विचार सब पाखंड है । इतना ही नहीं, अपनी हकूमत के साथ-साथ अपनी सभ्यता, अपनी शिक्षा और अपने पाश्चात्य विधान को भी हमारे सिरो पर थोप देने का निश्चय उन्होंने कर लिया । इसलिये सबसे पहले तो उन्होंने हमारी ग्राम-पचायतों को तोड़ दिया और उनकी जगह अपनी छोटी-बड़ी अदालतों और सर्वोच्च न्यायालय खड़े किये । अदालतों के साथ टिकट-स्टाम्प, गवाही-साखी, सफर और नफर-खर्च, धर्म और ज्वील और उनकी दलील, कानून और उसकी बारीकियाँ, फीस और पूत आदि सब पुराईयाँ आई और खूब बढ़ी । पर न्याय नाम-मात्र को भी नहीं रहा । पचायतों के साथ हमारा न्याय-धर्म भी नष्ट हो गया । पचायतों में जहाँ झगडा होता, वही उसकी मुनवाई होती थी । सबके सामने होती थी । इसलिए झूठ, धोखा या बेईमानी की गुञ्जाइग कम थी । झूठी कसमें खाने पर लोगों की बल-भाज का डर लगा रहता । पचायत के आसन पर बैठते ही पंच ममकते मानो भगवान् के सामने बैठे हैं । 'पंच परमेस्वर' कहावत ही बन गई । अब ग्राम-पचायतों को पुनर्जीवित करने का चिंता तो की जा रही है, किन्तु जब समाज का संगठन ही बदल गया है । अब इन पचायतों को उन पुरानी पचायतों की तरह सफलता मिल सकेगी, इसकी आशा हमें बटून कम है ।

जमींदारी और रयतदारी विधान से भी गाँव की सामुदायिक रूप

का ह्रास हुआ। मेन नामक अंग्रेज लेखक ने हमारी प्राचीन सामुदायिक व्यवस्था पर सुन्दर ग्रन्थ लिखी है।

हैदराबाद के अन्दर तेलगाना और मराठवाडा में भी गाँव-के-गाँव नीलाम बोलकर ठेके पर दिये जाते थे। ठेकेदार ही रकम वसूल करके सरकार का हिस्सा दे देता और बाकी अपने लिए रख लेता था। इन्हीं ठेकेदारों ने वनपती-जैसे समस्थान (जागीर) बने हैं। फिर १८४० में सालार जग अब्दुल ने मौजूदा जिलाबन्दों की दागवेल डाली।

अराजकता के कारण इस युग में आन्ध्र चित्र-कला तो लगभग समाप्त हो गई। प्राचीन चित्र अब उपलब्ध नहीं हैं। वेपाती की खुदाई में कुछ शिल्प-कलाएँ शिथिलावस्था में प्राप्त हुई हैं, जो अति सुन्दर भी हैं। उनकी अपनी विशेषता भी है। काकतीय तथा विजयनगर के कोई चित्र हम तक पहुँचे ही नहीं। मुसलमानों ने अपनी विजय के साथ ही उन्हें नष्ट कर डाला। वेमना के पथों से ज्ञात होता है कि उस समय के चित्रकार 'इगलोक' की सहायता से चित्रों के लिए रण तैयार करते थे। प्राचीन चित्रकारों के नाम तक हम नहीं जानते। चित्रकार-घराने भी राजघरानों के साथ गिरते गए। बचे-खुचे चित्रकारों ने बचे-खुचे छोटे राजा-जमींदारों के पास आश्रय लिया। मुगल चित्र-कला-पद्धति ही भारत-भर में फैल गई। तेलुगू चित्रकारों ने भी उसीका अनुसरण किया। बंकट-प्पय्या नामक एक चित्रकार ने समीक्षित काल में द्वितीय निज़ाम के दरबार को चित्रित किया है, जिसमें विविध प्रकार के रंगों पर सोने का पानी चढ़ा दिया गया है। उसकी मूल प्रति नवाब सालार जग के म्यूजियम में है। यह चित्र एक अंग्रेजी मासिक पत्र 'पिकटोरियल हैदराबाद' में छपा था। उस पर बंकटप्पय्या का नाम लिखा है। नाम से ही प्रकट है कि वह आन्ध्र था। उन्हीं दिनोंकुछ आन्ध्र चित्रकार कन्नूल के नवाबों के पास भी रहने लगे। उनके चित्रों को देखकर चित्र-कला के आधुनिक विशेषज्ञों ने उसे 'कन्नूल कला' का नाम दिया है। सन् १८३५ ई० से कन्नूल के नवाबों का पतन हो गया। साथ ही उस चित्र-कला तथा उन चित्रकारों की भी समाप्ति हो गई। गद-

चौड़ी रिपोर्ट पेश की कि अंग्रेजों को अनिवार्य करना चाहिए। गवर्नर जनरल विटिंग ने उसे स्वीकार किया। सन् १८५५ ई० में कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में तीन यूनिवर्सिटियाँ खुली। भारतीयों ने फारसी को अलविदा करके अंग्रेजी का 'वेलकम' (स्वागत) किया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने हमारी विद्याओं को किस प्रकार नष्ट-भ्रष्ट किया था, इसकी जानकारी मेजर वमु की पुस्तक 'एजुकेशन अंडर दि ईस्ट इण्डिया कम्पनी' से मिल सकती है।

इगलिस्तान में भाँति-भाँति के वाष्प-यन्त्र बने। यल पर रेलें और जल में जहाज चलने लगे। डाक-नार का प्रमत्त शुरू हुआ। लेकिन इन सबको अंग्रेजों ने भारत में कोई तुरन्त चालू नहीं किया। काफी समय बाद ही ये चीजें आईं। वे इन चीजों को लाये भी, तो अपने व्यापार तथा सैनिक सुविधाओं को ही ध्यान में रखकर। "अनगो बलीव पतितो" की मूक्ति के आधार पर हिन्दुओं ने देसी ईसाइयों का मोरूसी हक में वचित रखा। अंग्रेजों ने देखा कि इससे उनके ईसाई-धर्म के प्रचार में बाधा पड़ती है। तब उन्होंने सन् १८५६ में हुक्म जारी करके भारतीय ईसाइयों को मोरूसी हक दिलाया। कुछ सड़कें बनवाईं, कुछ नहरें खुदवाईं। सन् १८५३ ई० में तार के खम्भे गाड़े। उनसे कुछ पहले डाकघर खुले। बड़े लाट डलहौजी ने रेलें चलावाईं। सन् १८५६ ई० तक रेल की २०० मील लम्बी सड़क बन चुकी थी।

सती की क्रूर प्रथा हिन्दुओं में प्रचण्ड रूप धारण विवे थी। बिहार, बंगाल और राजस्थान में उसे घोर मान्यता थी। आंध्र में इसका दतना प्रकोप नहीं था। राजा राममोहनराय के प्रयत्नों से १८२६ में सती की प्रथा को कानून बनाकर निषिद्ध कर दिया गया। सभी प्रान्तों में जिनों का विभाजन हुआ। जो जिले पहले से ही बने थे उन्हें बनाये रखा। इस प्रकार धीरे-धीरे हम लोग आधुनिक युग में पग धरने लगे।

सन् १८५६ में उन्होजी इग्लैंड लौट गया। हिन्दू-मुगलमान, विशेषकर मुगलमान समझने लगे कि उनके सभी अधिकार छिन गए हैं।



राज गया, धर्म गया, रीति-नीति को आघात पहुँचा। इन सबके परिणाम-स्वरूप सन् १८५७ में भारतवासियों ने अंग्रेजों के विरुद्ध घोर विद्रोह किया। हिन्दुस्तान की यह पहली जने-माजादी थी। हमारा साहित्य, हमारी कला, हमारी दस्तकारी, हमारे रोजगार सभी चौपट हो चुके थे। सन् १८५७ के विप्लव की विफलता ने अंग्रेजों को स्थायी रूप से सारे भारत का सम्राट् बना दिया। यह विद्रोह भारतीय इतिहास की मुख्याति-मुख्य घटना है। यही से हम आधुनिक युग में पदार्पण करते हैं।

### इस अध्याय के मुख्य आधार

- (१) ग्रन्थलु राजुनारायणकवि-कृत 'हस विशति'—इसमें आरम्भ से अठ तक 'शुक ससति' का अनुकरण किया गया है। फिर भी कुछ नवीन विषयों का समावेश है। यह कवि सन् १८०० के लगभग हुए है। मद्रास के बाबिल्ला वालो ने इन्हे नेल्सूर-निवासी बताया है और राज मन्त्री की शृंगार ग्रन्थ-मडली वालो ने कर्नूल-निवासी। दोनों में से एक ने भी कोई प्रमाण नहीं दिये हैं। शृंगार-ग्रन्थ-मडली की भूमिका श्रेष्ठ है। बाबिल्ला वालो की भूमिका इतनी अच्छी नहीं है।
- (२) गडलूर नारसिंह कवि-कृत 'भाष्य दंडकम्'—यह कवि सन् १८०० ई० के लगभग कर्नूल प्रान्त में हुए हैं। भाषा कर्नूलो देहात की है। इस कविता में हास-परिहास के साथ गाली-गलौज भी है। इसे 'रामा एण्ड कम्पनी' ने प्रकाशित किया है। लेखक के पास ८० वर्ष पुरानी एक मुद्रित पुस्तक है। इस संस्करण में कई अज्ञात अक्षर हैं। पाठ-भेद भी हैं। दोनों का समन्वय करके टीका-सहित प्रकाशित करना जरूरी है।
- (३) रमनचंद्र दत्त-कृत 'इंडिया ग्रंडर अलॉ विटिश हल'।
- (४) विलियम स्मिथ-कृत 'आक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया'।
- (५) कूचिमचि तिममा कवि-कृत 'कुक्कुटेश्वर शतक'—इस कवि ने कई ग्रन्थ लिखे हैं। सभी पुरानी शैली के हैं। एक शतक हमारे कुछ

काम का है ।

- (६) 'गुल्बल चम्ना शतक' बड़ी उपयोगी रचना है ।
- (७) 'काशी यात्रा चरित्र'—एनुगुल वीर स्वामी ने तेलुगु साहित्य में नवीन पाश्चात्य पद्धति का प्रवेश कराया । उन्होंने अपनी काशी-यात्रा को डायरी के रूप में लिखा है । उनकी भाषा सौ वर्ष पूर्व की मदरासी तेलुगु है । यह पुस्तक हमारे सामाजिक इतिहास के लिए परमोपयोगी है ।
- (८) बिलग्रामी-वृत 'हिस्टोरिकल एण्ड डिस्कूप्टिव स्केचेस ऑफ़ बी निजाम्स डोमीनियन्स' दो खण्ड । यह बड़ा ही मूल्यवान ग्रन्थ है ।

: ८ :

## हिन्दुस्तानी तलवार

सन् १७५७ ई० के पलासी-युद्ध में हिन्दुस्तानी तलवार भुकी भर थी। सन् १८५७ ई० के सग्राम में वह टूट ही गई। सन् १९४७ में, हमारी वह पुरानी तलवार फिर सहो-सलामत होकर हमारे हाथ लौट आई है। सन् १८५७ ई० के बाद अंग्रेजी साम्राज्य सारे देश में सुदृढ हो गया। १८५७ की घटना भारतीय इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। तब से हम आधुनिक यत्र-युग में प्रवेश कर गए हैं। पिछले सौ बरसों के इतिहास से हमारा शिक्षित समाज भली भाँति परिचित है। इसीलिए हमने इस अध्याय को बल्कि इस पुस्तक को १९०७ पर समाप्त करना ही उचित समझा। अर्थात् हम सन् १८५७ ई० के बाद से ५० वर्ष के सामाजिक इतिहास को इस अध्याय में संक्षिप्त रूप से कह डानने की चेष्टा करेंगे।

इससे पहले हिन्दुस्तान में इस्लाम का जो प्रसार हो रहा था, वह १८५७ के गदर के बाद रुक गया। अब अंग्रेज हमारे शासक थे। ईसाई होने के कारण वह अपने ईसाई धर्म के प्रचार के लिए प्रयत्नशील रहे। जहाँ-जहाँ सुविधा देखी, उन्होंने ईसाई सस्थाएँ (मिशन) खड़ी कर दी। पादरी विविध प्रकार के सेवा-कार्यों द्वारा लोगों को अपनी ओर आकर्षित करने में लगे रहे। वे स्कूल-अस्पताल आदि खोलकर लोगों को मुफ्त पढ़ाने तथा दवाएँ बाँटने लगे। भारत की सभी भाषाओं में 'इजील' का अनुवाद किया और छपी हुई सुन्दर बाइबिलें लोगों में मुफ्त बाँटी। अधिकतर अछूत ईसाई बनते गए। आध्र देश के अन्दर दो सौ वर्ष पूर्व

से ईसाई धर्म का प्रचार हो रहा था। उच्च जाति के जो लोग ईसाई बन जाते थे, वे स्वजाति और स्वधर्म को भुला नहीं पाते थे। गुदर में हजारों रेड्डी ईसाई हो गए, किन्तु ईसाई बनकर भी वे आज तक अपने माले-मादिग (चमार-पासी) ईसाई भाइयों से रोटी-बेटी का नाता जोड़ नहीं सके हैं। मजा तो यह है कि हिन्दू रेड्डी भी अपनी लड़कियों का विवाह ईसाई के साथ कर डालते हैं, पर ईसाई रेड्डी अपनी लड़की की शर्तों कितनी हिन्दू के घर नहीं करता।

ईसाई पादरी और मिशनरी ईसाई-धर्म-प्रचार से ही सतुष्ट न रहकर हिन्दुओं के जाल-पतल के विभेदों, उनके ग्रन्थ-विश्वासों और उनके घनाचारां और पाषण्ड की पोल खोलकर स्वयं हिन्दुओं के अन्दर अपने धर्म और जाति के प्रति घनादर तथा अश्रद्धा की भावना उत्पन्न करने लगे। परिणाम यह हुआ कि अश्रेणी-शिक्षित हिन्दुस्तानी अपने धर्म से दूर होने गए और वे अपनी जातीय परम्पराओं के लिए लज्जा का अनुभव करने लगे। ऐसे निविड-अन्धकार-निमग्न भारतीय गगन पर एक महापुरुष श्रीमद्दयानन्द सरस्वती जगमगाते सूरज की तरह प्रत्यक्ष हुए। दयानन्द सरस्वती अश्रेणी का एक अक्षर नहीं जानते थे। वे संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे। उन्होंने वेद-शास्त्रों का गहन अध्ययन किया था। प्राधुनिक युग के अपूर्व द्रष्टा थे। उन्होंने आर्य-समाज की स्थापना करके हिन्दुओं में आत्म-गौरव तथा धार्म-विश्वास का बीज बोया। उन्होंने बताया कि हिन्दुओं में जो पाषण्ड फैला हुआ है, वह प्राचीन नहीं है। हमारी रुद्रियों का वेदों में कोई सम्बन्ध नहीं। साथ ही उन्होंने इस्लाम तथा ईसाई धर्म की चुटियों को भी गोल-गोल कर बनाया। उनकी धार्मिकता के लोभलेपन को मिट्ट किया। परिणामस्वरूप हिन्दुओं के अन्दर स्वाभिमान की भावना जाग उठी। वे समाज-मुधार में जुट गए।

परन्तु आर्य-समाज का प्रचार ग्रन्थ में, बल्कि सारे दक्षिण भारत में, नहीं के बराबर था। आर्य-समाज से पहले ही राजा राममोहन राय के ब्रह्म-सनातन की शान्ताई वृष्णा-मोदावरी के प्रांतों में स्थापित हो

चुकी थी। ब्रह्म-समाज का प्रचार बढ़ा तो नहीं, किन्तु उसकी भावनाएँ लोगों के दिलों में घर कर गई थी। आन्ध्र देश के अन्दर ब्रह्म-समाज को अपनाते वालों में श्री कन्दुकूर वीरेशलिंगम् एक असाधारण व्यक्ति थे। प्रकाण्ड विद्वान् और महान् अनुभवी थे। 'वीराः पंडितकवयः' के न्यायानुसार उन्होंने हिन्दुओं के मूढ़ विश्वासों, पातण्डी रूढ़ियों तथा वेद-विरुद्ध मूर्ति-पूजा के ऊपर चोटों पर चोटें कीं। सिनयो पर होने वाले अत्याचारों को रोककर, विधेयकर विधवा-विवाह के विरुद्ध मोर्चा लेकर उन्होंने अनेक विधवाओं के पुनर्विवाह करा दिये। अनेक विधवाश्रम खुलवाये। उनके प्रचार से आन्ध्र के अन्दर अपूर्व जागृति उत्पन्न हुई। पुरातनवादियों के लालचों और दुर्व्यवहारों की परवाह न करके अपनी लक्ष्यसिद्धि के लिए वे अविराम प्रयास करते रहे।

हिन्दुओं के अन्दर पिछले एक हजार वर्षों से अर्थात् भारत में मुसलमानों के पदार्पण के बाद से, अनेक अनाचार फैल गए थे। बाल-विवाह का प्रचार, विधवा-विवाह का निषेध, सती-प्रथा, समुद्र-यात्रा पर रोक, जाति-बहिष्कार, भाग्य पर भरोसा, शुभाशुभ सगुणों का विचार, अछूतों पर अत्याचार, दृष्टि-दोष (खाने की वस्तु पर अन्य जाति की धाँस पड़ने से छूत लग जाना), तान्त्रिक वामाचार इत्यादि सँकड़ों प्रकार की ऋटियाँ हिन्दू-समाज में जड़ें जमा चुकी थीं। इन्हीं ऋटियों के कारण हमने परस्पर-वैमनस्य उत्पन्न हुआ, सभ्यता-संस्कृति की अवनति हुई तथा रचनात्मक शक्तियाँ कुण्ठित हो गईं। अन्त में राजनीतिक पतन भी हो गया। विद्वान् विचारकों ने सोचना शुरू किया कि राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए सामाजिक सुधार ही असली साधन है। इससे देश-भर में समाज-सुधारक संस्थाओं की स्थापना होने लगी।

सामाजिक क्षेत्र में एक ओर यह सब तो हो ही रहा था, दूसरी ओर अर्थात् राजनीतिक क्षेत्र में, १८५५ में नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई। कांग्रेस का जन्म एक महत्वपूर्ण घटना है। जिस दिन कांग्रेस का जन्म हुआ, उसी दिन भारत के अन्दर आधुनिक राष्ट्रीयता का जन्म

हुआ। भगवान् ने भारत की अपनी कोई अनुमथान-शाला तो नहीं बना लिया है। तरह-तरह के धर्म-मजहब, भाँति-भाँति की जाति-उपजातियाँ और भिन्न-भिन्न भाषाएँ यही तो पाई जाती हैं। वैदिक काल से लेकर भारत में अखण्ड राष्ट्रियता की भावना ने कभी भी ऐसा रूप नहीं लिया था। इसलिए कांग्रेस की स्थापना को वास्तव में भारतीय राष्ट्रियता का शिला-न्धास समझा जाना चाहिए। जिस प्रकार यूरोप में, जर्मनी में महान् फ्रेडरिक द्वारा, इटली में गेरीवाल्डी मँजनी द्वारा, फ्रांस में १७८९ ई० की क्रान्ति से और संयुक्त अमरीका में सन् १७७६ से राष्ट्रियता का उद्भव माना जाता है, उसी प्रकार भारत में कांग्रेस के जन्म से राष्ट्रियता का उदय हुआ। आरम्भ में कांग्रेस समाज-सुधार के कार्यक्रम से प्रलग रही। प्रत्येक कांग्रेस-प्रतिवेदनो के साथ-साथ सामाजिक सम्मेलन भी प्रलग में हुआ करते थे।

ब्रिटिश शासन से भारत की आर्थिक हानि अत्यधिक हुई। हमारे उद्योग-धन्धे मिट गए। नये उद्योगों को विदेशियो ने यहाँ उगने ही नहीं दिया। परिणाम यह हुआ कि जनता का सारा बोझ खेती पर जा पड़ा, देश में अकाल पड़े और उनके कारण पचास लाख आदमी मरे। १८६० से १८७९ तक १६ अकाल पड़े और एक करोड़ बीस लाख जनता का हनन हुआ। १८६८ में दादाभाई नौरोजी ने अपने अनुसंधानों से सिद्ध किया कि मद्रास प्रान्त में लोगों की आय केवल १८ रुपये सालाना है। उत्तर अरकाट के कलक्टर ने लिखा था कि उस जिले में दरिद्रता का तात्पर्य-नृत्य हो रहा है। नल्गूर के कलक्टर ने लिखा था : "जिले के डॉक्टर ने अपने विचार दिये हैं कि बहुत अपराधी जेल में रहकर अधिक स्वस्थ होते जा रहे हैं, क्योंकि उन्हें बाहर छाने को नहीं मिलता।"

धनात्र तथा खाद्य-पदार्थों की कीमतें बहुत कम थी। कुष्णानिवासी एक वकील पेह्ले बोटर्न वीरप्य ने लगभग २७ साल पहले 'ग्रान्थ-पत्रिका' में लिखा था :

"घात्र से ६० वर्ष पूर्व का एक ऐसा पत्र मेरे देखने में आया है,

जिसमें ममूतोपटम की बाजार-दर लिखी हुई है। सन् १८६० ई० में मद्रतीबंदर में एक विवाह-समारोह के लिए सामग्री की खरीद के लिए जो चिट्ठा बना था, वह इस प्रकार है :

नाम वस्तु	दर	प्रमाण (तौल)
चावल	१--०-०	३२ सेर
घरहर	१--०-०	३१ सेर
मूंग	१--०-०	२२ सेर
उड़द	१--०-०	१६ सेर
मिचं	१--६-०	एक मन
घी	४--२-०	एक मन
रेडो का तेल	१--०-०	४ सेर
तेल	१--०-०	४ सेर
इमली	०-१३-६	एक मन
गुड़	०-११-६	एक मन
हल्दी	१--०-०	५ सेर
जीरा	१--०-०	६ सेर
मेथी	१--०-०	एक मन
नारियल	०--३-०	१० नारियल
लोकी	०--२-०	३ लोकी
लकड़ी	०--३-०	१५० कुन्दे
पत्तल	०--१-४	१००
पान	०--१-६	१०००
खीरा-ककड़ी	०--२-०	एक मन
बेंगन	०--२-०	एक मन
हींग	०-०-१०	एक तोला
चिबड़ा	१--०-०	१६ सेर
सूप	०--१-६	४ सेर

ताड़पात के डलिये ०—०—३

६

इस चिट्ठे से पता चलता है कि सन् १८६० ई० के लगभग आध्र जनता की आर्थिक स्थिति कैसी थी। सन् १८७६ तथा १८७२ ई० में मद्रास और बम्बई के प्रांतों में अर्थात् मारे दक्षिण-भारत में घोर अकाल पड़े। उसकी मार बिदोषकर आध्र पर जबरदस्त पड़ी थी। आज भी ८०-६० मात के बूढ़े लोग उस 'घाता' सम्बन्ध के भीषण अकाल की बातें सुनाते हैं। कहते हैं कि उसी साल दिन में आकाश के तारे टूटें थे। अर्थात् आध्र में उस साल सर्वप्रथम सूर्यग्रहण लगा था। उसी साल नाल आधी चली थी। आकाश-भर में साल गदें भर गई थी। उस अकाल में आध्र के अन्दर लाखों नर-नारी विकराल काल के घास बन गए थे। कन्नूल के अंतर्गत कोपनकुट्टा के निकट उच्चालवाडा नाम के स्थान पर बुड्ढाबेकट रेड्डी नाम का एक व्यक्ति 'अपर कर्ण' होकर उतरा था। उसने अपना सर्वस्व लोगों की खिला-पिला दिया और फिर कर्ज ले-लेकर नया चदे उगाह-उगाहकर अभूतपूर्व अन्न-दान किया और इन प्रकार हजारों अकाल-पीड़ितों की प्राण-रक्षा की। आजकल भी उसका नाम घमर है। उसके नाम के गीत आजकल भी लोग गाया करते हैं।

"बुड्ढाबेकट रेड्डी—रहते उम्यालवाडें।"

इस प्रकार के गीत गाते हुए गरीब लोग आज भी घर-घर भीत घूमने फिरते हैं। ऐसे व्यक्ति और भी जम्बर रहे होंगे। स्थानीय लोग यदि सहायता करें तो मस्मरण एकत्र किये जा सकते हैं। स्वयं अंग्रेज इतिहासकारों ने लिखा है कि इस अकाल में अकेले दक्षिण में पचास लाख से अधिक लोग मरे थे।

उप्रीसर्बों सती के उत्तरार्द्ध में भारतीयों के रहन-सहन तथा मा-य-ताओं में अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ। मुसलमानों ने अब भी हिन्दुओं में भेदन-बोल नहीं किया। हिन्दू भी मुसलमानों से दूर-ही-दूर रहे, लेकिन अंग्रेजों ने अपने नवीन विचारों में हिन्दुओं और मुसलमानों को काफी प्रभावित किया। परिवर्तन मुसलमानों की अपेक्षा हिन्दुओं में ही अधिक



हुए। चोटी उड़ गई, 'बाबरी' (अंग्रेजी डंग पर कटी दुल्फ) रखी जाने लगी, बन्ददार चोगे और अंग्रे उठ गए तथा उनकी जगह कोट-कमीज ने ले ली। पुरानी पगड़ी गई, नई-नई टोपियाँ आईं। पहले समुद्र-पार जाने वालों को बिरादरी से बाहर कर दिया जाता था। अब प्रायश्चित्त कराकर लौटा लिया जाने लगा। फिर सारी रोक-टोक खत्म हो गई। जात-पात के बंधन ढीले पड़ गए। बराबर का खान-पान चलने लगा। होटलों ने भी इनमें मदद की। रेलों ने भी सुआच्छूत के बंधन को ढीला किया। जान-बिरादरी ने बाहर ब्याह भी होने लगे। विधवा-विवाह होने लगे। धीरे-धीरे बाल-विवाह बंद होने लगे। अंग्रेजी शिक्षित लोग अंग्रेजों की तरह मूट-बूट, कालर आदि धारण करने लगे। कुछ ने तो अंग्रेज महिलाओं से नादियाँ भी की। अधिकतर ने अंग्रेजों का रहन-सहन अपनाया।

अंग्रेज जाति जनता के दबाव के सामने झुकती है। समाज-नुषारकों की बात मानकर सरकार भी जब-जब बाल-विवाह की आयु में वृद्धि करती गई। पहले विवाह की अवस्था १० वर्ष निश्चित हुई। सन् १८६० ई० में उसे १२ वर्ष की अवस्था तक बढ़ा दिया गया। सन् १८५० ई० में डाकघर की व्यवस्था की गई। १९५३ में तारपर खुले। धीरे-धीरे ये दोनों खूब बढ़े। सन् १८८५ में लॉर्ड रिपन ने स्थानीय स्वायत्त-शासन के अधिकार दिये।

डाक-तारघर और रेलों के साथ-साथ पत्र-पत्रिकाएँ भी बढ़ने लगीं। आध्र में अंगवारों की सहायता बहुत ही कम रही। उन्नीसवीं शती के बीच में बल्लारी से 'श्रीयक्षिणी' नामक साप्ताहिक निकलने लगा। तेलुगू भाषा का पहला पत्र यही है। महाराष्ट्रों के गढ़ बम्बई से साप्ताहिक 'आध्र-पत्रिका' के चानू होने की बात सुनकर सभी को आश्चर्य होगा। बाद में यह मद्रान पहुँचा। काशीनाथ नागेश्वरराव ने उसे दैनिक बना दिया। यह दैनिक पत्र अब तक बराबर आध्र-जनता की सेवा करता आ रहा है। सन् १९०२ में साप्ताहिक 'कृष्ण पत्रिका' का जन्म हुआ। वह भी बराबर

चालू है।

अंग्रेजों का प्रभाव आन्ध्र-भाषा पर अत्यधिक पड़ा। यह एक विचित्र-सी बात है कि तेलुगु में मध-गान-विधान के अतिरिक्त और कोई नाटक नहीं था। सन् १६०० के बाद तो तेलुगु कविता एकदम नीरस हो गई। 'अप्य कवीयम्' नियमों से भाषा बँध-सी गई थी। काव्य के अप्रसन्न वर्णन उलटे-सीधे कूटने-पीसने के गीतों से मिल-जुलकर भी बीभत्स रूप ले चुके थे। केवल दम्बाडम्बर-मात्र रह गया था। एकाग्रनाथ के 'प्रताप-चरित्र', विजयनगर तथा सामन्तों की कर्मियों तथा तजोर के गद्य महाभारत आदि के अतिरिक्त गद्य-काव्य में और कुछ था ही नहीं। अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त आधुनिक विद्वान् श्री कंदकूर वीरेसालिगम्, कोमर-राजु लक्ष्मणराव, गाडी चरला हरि सर्वोत्तमराव, कट्टामचिराम, तिर्गे-रेड्डी, गिड्डुगुमूर्ति आदि ने आन्ध्र-साहित्य की धारा ही बदल दी। कट्टामचि की 'कवित्व तत्त्वविचार' ने तो मानो पुरातन साहित्य-दुर्ग पर बम-वर्षा-सी कर दी। उन्होंने सन् १९०० में 'बुद्धिया की मृत्यु' के दीर्घक से एक उच्चकोटि की त्यागमय कथानिका एकदम नवीन पद्धति पर लिखी। सचमुच नवीन भाव कवित्व के लिए 'बट्टमचि' को ही मार्ग-दर्शक मानना चाहिए। वीरेसालिगम् की सर्वतोमुखी प्रतिभा ने समाज के प्रत्येक भग पर अपना पूरा प्रभाव डाला। उन्होंने नाटक लिखे, उत्तम गद्य-काव्य लिखे, व्यंग लिखे, कवियों की जीवनियाँ लिखीं, आत्म-कथा लिखी, व्याकरण तथा बालोपयोगी पाठ्य-पुस्तकें लिखी तथा अंग्रेजी तथा संस्कृत साहित्य से उत्तमोत्तम विषयों का अनुसरण करते हुए मातृभाषा तेलुगु की सेवा की। कोमरराजु लक्ष्मणराजु एक असाधारण व्यक्ति थे। उनके घटल विद्वत्त्व, कर्मठता, गद्य-शक्ति, कार्य-शैली, विषय-ज्ञान, सरल बोधशैली आदि गुण कहीं और बिरले ही दिखाई देते हैं। लक्ष्मणराव, गाडीचरला हरिसर्वोत्तम राव, हैदराबाद-निवासी राविवेण्कट रंगाराव अर्थात् उत्तर सरवार रायल सीमा और तेलंगाणा के प्रतिनिधियों ने मिलकर १९०७ में हैदराबाद के अन्दर

‘विज्ञान चन्द्रिका ग्रन्थमाला’ की स्थापना की। इस ग्रन्थमाला का पहला प्रकाशन या गाडीचरलों-लिखित ‘अब्राहम लिंकन चरित्र’ कोमराजु ने उसकी भूमिका लिखी। कई विषयों में हम पिछड़े हुए थे, पर महाराष्ट्री और बंगाली काफ़ी आगे बढ़ चुके थे। इनका दिग्दर्शन उन्होंने बड़ी योग्यता के साथ कराया। उन्होंने लिखा :

“भाषा की अभिवृद्धि के लिए गद्य-रचना नितान्त आवश्यक है। इस तथ्य को सबसे पहले चिन्तनया मुरी ने पहचाना था। उन्हें ‘गद्य-नन्या’ कह सकते हैं। कंदुकूर थोरेशांतगम् दूसरे नम्बर पर हैं। कंदुकूर ‘गद्यतिक्कना’ है। ‘पुस्त्यायं प्रदायिनी’, ‘आन्ध्र भाषा संबोधनी’, ‘मदार-मंजरी’, ‘चिन्तामणि’, ‘धो वंजयन्ती’ इत्यादि पहले के मासिक पत्रों तथा वर्तमान ‘सरस्वती’, ‘मंजुवाली’, ‘मनोरमा’, ‘स्वएं लेखा’, ‘सावित्री’, ‘हिन्दू सुन्दरी’, ‘जनाना पत्रिका’, ‘आन्ध्र प्रकाशिका’, ‘शशिलेखा’, ‘कृष्ण पत्रिका’, ‘आयं मत-बोधिनी’, ‘सत्यवादी’ आदि समाचार-पत्रों ने निश्चय ही एक प्रकार से उपयोगी साहित्य का सृजन किया है। किन्तु तेलुगु को एक सुसंस्कृत भाषा कहलाने योग्य बनाने के लिए अब तक जो कुछ किया गया है वह उस प्रयास का सहस्रांश भी नहीं है, जो हमें धामे करना है।” उन्होंने अपनी चिन्ता प्रकट की कि तेलुगु में त्रीवनिर्वा, उपन्यास, कहानियाँ, वैज्ञानिक साहित्य आदि कुछ भी नहीं है। उनकी यह भूमिका नितान्त मूल्यवान है। उन्होंने हमारी भाषा की जिन वृद्धियों की ओर संकेत किया है, उन्हें दूर करने के लिए इस ग्रंथमाला ने सफल चेष्टा की। परन्तु दुर्भाग्यवश सन् १९२२ में ही उनका देहान्त हो गया। उनके बाद यह ग्रंथमाला दिन-पर-दिन कृंग होती हुई, अन्त में लुप्त हो गई।

१९०० में तेलुगु में सभ्रंशों तथा संस्कृत-विधानों का अनुसरण करते हुए नाटक, उपन्यास, गद्य-काव्य, जीवनिर्वा, आलोचनाएँ, सप्तकाव्य आदि अर्च्छी सख्या में प्रकाशित होने लगे।

१. नन्या, तिकन्ना तथा एरप्रगडा यह तीनों आन्ध्र महाभारत के रचयिता तथा कविग्रय कहलाते हैं।

चातू है।

अंग्रेजों का प्रभाव ग्रन्थ-भाषा पर अत्यधिक पड़ा। यह एक विचित्र-सी बात है कि तेलुगु में यक्ष-गान-विधान के प्रतिरिक्त घोर कोई नाटक नहीं थे। सन् १६०० के बाद तो तेलुगु कविता एकदम नीरस हो गई। 'अप्य कवीयम्' नियमों से भाषा बँध-सी गई थी। काव्य के अष्टादश वर्णन उलटे-सीधे कूटने-पीसने के गीतों से मिल-जुलकर भी बोधस्व रूप ले चुके थे। केवल शब्दाडम्बर-मात्र रह गया था। एकाग्रनाथ के 'प्रताप-चरित्र', विजयनगर तथा सामन्तों की कैफियतों तथा तजोर के गद्य महाभारत आदि के प्रतिरिक्त गद्य-काव्य में घोर कुछ था ही नहीं। अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त आधुनिक विद्वान् श्री कदकूर वीरेशलिगम्, कोमर-राजु लक्ष्मणराव, गाडी चरला हरि सर्वोत्तमराव, कट्टामचिराम, लिगे-रेड्डी, गिड्डुगुमूर्ति आदि ने ग्रन्थ-साहित्य की धारा ही बदल दी। कट्टामचि की 'कवित्व तत्त्वविचार' ने तो मानो पुरातन साहित्य-दुर्ग पर बम-बर्पा-सी कर दी। उन्होंने सन् १९०० में 'बुद्धिमा की मृत्यु' के शीर्षक से एक उच्छ्रोत्रि की स्वागमय कथानिका एकदम नवीन पद्धति पर लिखी। सचमुच नवीन भाव कवित्व के लिए 'कट्टामचि' को ही मार्ग-दर्शक मानना चाहिए। वीरेशलिगम् की सर्वतोमुखी प्रतिभा ने समाज के प्रत्येक भग पर अपना पूरा प्रभाव डाला। उन्होंने नाटक लिखे, उत्तम गद्य-काव्य लिखे, व्यंग लिखे, कवियों की जीवनियाँ लिखी, आत्म-कथा लिखी, व्याकरण तथा बालोपयोगी पाठ्य-पुस्तकें लिखी तथा अंग्रेजी तथा संस्कृत साहित्य से उत्तमोत्तम विषयों का अनुसरण करते हुए मानवभाषा तेलुगु की सेवा की। कोमरराजु लक्ष्मणराजु एक असाधारण व्यक्तित्व थे। उनके अटल विश्वास, कर्मठता, मघटन-शक्ति, कार्य-शीली, विषय-ज्ञान, सरल बोधशैली आदि गुण कहीं घोर विरले ही दिखाई देते हैं। लक्ष्मणराव, गाडीचरला हरिसर्वोत्तम राव, हैदराबाद-निवासी राविवेदूर्ल रंगाराव अर्थात् उत्तर सरदार रायल सीमा घोर तत्तगाणा के प्रतिनिधियों ने मिलकर १९०७ में हैदराबाद के अन्दर

विद्वान् चन्द्रिका ग्रन्थनामा' की स्फारणा की। इस ग्रन्थनामा का पहला प्रकाशन या साक्षात्करणों-निर्दिष्ट 'अष्टाह्न निम्न चरित्र।' कोनराज ने उसकी मूद्रिका लिखी। कई विद्वानों ने हन निम्नके दूर थे, पर महाराष्ट्री और बंगालों काटों आने बड़े बड़े थे। इनका दिग्दर्शन उन्होंने बड़ी योग्यता के साथ किया। उन्होंने लिखा :

“भाषा की अनिवृद्धि के लिए पद्य-रचना निम्नतम आवश्यक है। इस तत्त्व को सबसे पहले चिन्ता मुरी ने पहचाना था। उन्हें 'पद्य-नन्द्या' कह सकते हैं। कंबुहूर वीरेभनिम्न दूसरे नम्बर पर हैं। कंबुहूर 'गद्यतिरिक्तता' हैं। 'पुस्त्याय प्रदायिनी', 'आन्त्र भाषा संज्ञावनी', 'मदार-मंत्रा', 'चिन्तामलि', 'श्री बंजयन्ती' इत्यादि पहले के भाषिक पत्रों तथा वर्तमान 'सरस्वती', 'मंजुवाली', 'मनोरमा', 'स्वले लेखा', 'सावित्री', 'हिन्दू मुन्दरी', 'बनाना पत्रिका', 'आन्त्र प्रकाशिका', 'भारतलेखा', 'कृष्ण पत्रिका', 'भार्य मन्त्र-बोधिनी', 'सत्यवादी' आदि समाचार-पत्रों ने निरक्षय ही एक प्रकार से उपयोगी साहित्य का मूजन किया है। चिन्नु तेनुगु को एक सुसंस्कृत भाषा कहलाने योग्य बनाने के लिए अब तक जो कुछ किया गया है वह उस प्रयास का सहस्रांश भी नहीं है, जो हमें आगे करना है।" उन्होंने अपनी चिन्ता प्रकट की कि तेनुगु में जीवनिषा, उपन्यास, कहानियाँ, वैज्ञानिक साहित्य आदि कुछ भी नहीं है। उनकी यह मूद्रिका निम्नतम मूल्यवान है। उन्होंने हमारी भाषा की जिन दुष्टियों की ओर संकेत किया है, उन्हें दूर करने के लिए इस प्रयत्नात्ता ने सफल चेष्टा की। परन्तु दुर्भाग्यवश अब १९२२ में ही उनका देहान्त हो गया। उनके बाद यह प्रयत्नात्ता दिन-पर-दिन कम होती हुई, अन्त में लुप्त हो गई।

१९०० से तेनुगु में अंग्रेजी तथा संस्कृत-विद्याओं का अनुसरण करते हुए नाटक, उपन्यास, मध-काव्य, जीवनिषा, आलोचनाएँ, लन्दकाव्य आदि अर्द्ध-मूल्या में प्रकाशित होने लगे।

१. नन्द्या, तिक्तता तथा एराप्रगटा यह तीनों आन्त्र महाभारत के रचयिता तथा रचित्रय कहलाते हैं।

लार्ड कर्जन ने बंगाल का विभाजन किया। हिन्दू-मुसलमानों में वैमनस्य पैदा करने के लिए ही अंग्रेजों ने बग-भग का यह कुचक्र रचा था। उससे बंगाल में राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत हुई। 'वन्दे मातरम्' राष्ट्रीय नारा बन गया। बंगालियों ने हिंसात्मक उपायों द्वारा अंग्रेजों के प्रति अपना रोष प्रकट किया। बंगाल से जो हवा चली वह समुद्र-तट से होती हुई ग्रान्थ देश के उत्तर सरकारों तक पहुँच गई। इसी सिलसिले में स्वदेशी का आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। उसी अवसर पर ममूती-पटम में जातीय कलाशाला (राष्ट्रीय कालेज) की स्थापना हुई। ग्रान्थ के लिए यह घटना विशेष महत्त्व रखती है। पादचार्यों की प्रत्येक बात को श्रेष्ठ और अपनी प्राचीन परम्पराओं को निकृष्ट मानने वाले शिक्षित समाज की विचार-धारा में कुछ परिवर्तन हुआ। इस राष्ट्रीय महत्वा ने यह सिद्ध किया कि अपनी प्राचीन संस्कृति की रक्षा करते हुए काल-सरणी के अनुसार उसमें परिवर्तन-परिवर्धन करने जाना ही अन्धा है। चित्र-कला को पुरानी प्रणाली बदल गई। रंग भी बदले, विचार भी बदले। तेलुगु प्रान्त के अन्दर नवीन चित्र-शैली को प्रोत्साहित करने का ध्येय इसी कलाशाला को प्राप्त है।

गोलकोंडा के मुलतानों में सँ अकेले इशार्हीम बुजुवशाह और उसके एक ओहदेदार अमीनखान के सिवा किसी मुसलिम शासक ने तेलुगु भाषा को कोई सेवा नहीं की। आसफ़जाही शासकों ने तेलुगु का घादर तो किया ही नहीं, उल्टे उमरी उन्नति में अनेक रिश्न टाले। अंग्रेजों ने ऐसा नहीं किया। देश के भीतर विगरे पड़े ताड़-गन्ध-ग्रन्थों को एकत्र करके मद्रास में हस्तलिखित प्राच्य पुस्तकों का एक बड़ा पुस्तकालय स्थापित किया और इन प्रकार टिमटिमाकर बुझने-बुझने की हो रहे मूल्यवान् माहित्य की रक्षा की। अनेक अंग्रेजों ने हमारी भाषाएँ सीसी। उनमें ब्रोन प्रधान है। बुजुवशाही तथा आसफ़जाही के तमाम मुलतानों को तराजू के एक पलड़े में रखें और अकेले ब्रोन का दूगर में बिठा दें तो ब्रोन का पलड़ा ही भारी रहेगा। उन्होंने ताड़-गन्ध-ग्रन्थों को एकत्र किया,

वेमना के पद्यों को पसन्द करके उनका अंग्रेजी में अनुवाद किया तथा तेलुगु के दो शब्द-कोश तैयार किये । उनमें से एक व्यावहारिक शब्द-कोश है, जो आज भी बड़ा उपयोगी सिद्ध हो रहा है । मँकेजी नामक एक और अंग्रेज ने पुराने शासकों के रिकार्डों को इकट्ठा किया । कार्लडवेल ने 'द्रविड भाषा शास्त्र' के नाम से दक्षिणी भाषाओं का व्याकरण लिखा । सामूहिक दृष्टि से देखने पर तेलुगु भाषा पर अंग्रेजी का पूरा प्रभाव पडा । तेलुगु का चौमुखी विकास होने लगा । अंग्रेजों ने भाषा के साथ प्राचीन शिल्पो की भी रक्षा की है । जबकि मुसलमानों ने उनका ध्वस किया था, अंग्रेजों ने उनका उद्धार किया । हम्पी के खडहरो की, अमरावती के स्तूपों की, प्राचीन मन्दिरों तथा किलों की मरम्मत करवाई । कहीं कुछ निजाम मिलने पर खुदाई करके शिथिलावस्था में पड़े हुए शिल्पाशों को बाहर निकाला और इस प्रकार हमारे पूर्वजों की कला-सम्पत्ति की रक्षा की । अंग्रेजी इलाके में जब यह सब हो रहा था, तब निजाम के हैदराबाद में भी ऐसे काम आगे बढ़ने ही थे । वरंगल के खडहरो, रामप्पमन्दिर, पिकलमरी, पानगल आदि शिल्पावशेषों की रक्षा होने लगी ।

१८५७ के बाद उत्तर सरकारों में ही अधिक उन्नति हुई । रायल-सीमा उनसे बहुत पीछे था । किन्तु हैदराबाद का तेलंगाणा रायलसीमा में भी गया-गुजरा था । हैदराबाद का शासन ही तेलंगाणों की अवनति का कारण था ।

ग्रन्थ जाति के नौ सौ वर्षों के इतिहास का यहाँ सक्षिप्त रूप ही बनाया गया है । लिखने योग्य बातें और भी बहुत सारी हैं । योग्य विद्वानों की कृष्टि से सामाजिक इतिहास का हमारा यह अभाव दूर हो जायगा ।

परिपूर्ण-पूत-पुण्यावु-भंगि-उद्वेग गौतमो<sup>१</sup> के गम्भीर गमन वाली,  
आलमपुर के नन्दनाराम-विभ्राजि कलाधिराज मलगोबा<sup>२</sup> के  
मुस्वादु रस-घन वाली

१. गौतमो = गोदावरी नदी ।

२. मलगोबा = त्पादिष्ट ग्राम ।

लाहं कर्जन ने बंगाल का विभाजन किया। हिन्दू-मुसलमानों में वैमनस्य पैदा करने के लिए ही अंग्रेजों ने बंग-भंग का यह कुचक्र रचा था। उसमें बंगाल में राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत हुई। 'बन्दे मातरम्' राष्ट्रीय नारा बन गया। बंगालियों ने हिंसात्मक उपायों द्वारा अंग्रेजों के प्रति अपना रोष प्रकट किया। बंगाल से जो हवा चली वह समुद्र-तट से होती हुई ग्रान्ध देश के उत्तर सरकारों तक पहुँच गई। इसी सिल-सिले में स्वदेशी का आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। उसी अवसर पर ममूली-पटम में आर्तीय कलाशाला (राष्ट्रीय कालेज) की स्थापना हुई। ग्रान्ध के लिए यह घटना विशेष महत्त्व रखती है। पाश्चात्यों की प्रत्येक बात को श्रेष्ठ और अपनी प्राचीन परम्पराओं को निकृष्ट मानने वाले शिक्षित समाज की विचार-धारा में कुछ परिवर्तन हुआ। इस राष्ट्रीय नस्था ने यह सिद्ध किया कि अपनी प्राचीन सस्कृति की रक्षा करते हुए काल-सरणी के अनुसार उसमें परिवर्तन-परिवर्धन करते जाना ही अच्छा है। चित्र-रत्ना को पुरानी प्रणाली बदल गई। रत्न भी बदले, विचार भी बदले। तेलुगु प्रान्त के अन्दर नवीन चित्र-शैली को प्रोत्साहित करने का श्रेय इसी कलाशाला को प्राप्त है।

गोलकोडा के मुसलमानों में से अकेले इबाहीम जुनुबसाह और उसके एक छोटेदेदार अमीनखान के सिवा किमी मुसलिम शासक ने तेलुगु भाषा की कोई सेवा नहीं की। घामऊजाही शासकों ने तेलुगु का आदर तो किया ही नहीं, उल्टे उसकी उन्नति में अनेक रिध्न जाले। अंग्रेजों ने ऐसा नहीं किया। देश के भीतर अन्दरे पड़े ताड़-वृक्ष-ग्रन्थों को एकत्र करके मद्रास में हस्तलिखित प्राच्य पुस्तकों का एक बड़ा पुस्तकालय स्थापित किया और इन प्रकार टिमटिमाकर बुझने-बुझने की हो रहे मूल्यवान् ग्रहित्य की रक्षा की। अनेक अंग्रेजों ने हमारी भाषाएँ सीखी। उनमें ब्रौन प्रधान हैं। जुनुबसाही तथा घामऊजाही के तमाम मुसलमानों को तराजू के एक पत्रके में रखें और अकेले धीन को दूमरे में बिठा लें ताँ धीन का पनड़ा हो भारी रहेगा। उन्होंने ताड़-वृक्ष-ग्रन्थों को एकत्र किया,



बेना के पदों को पन्द्र करके उनका अंग्रेजी में अनुवाद किया तथा तेलुगु के दो शब्द-ज्ञान नगर किने । उनसे एक व्यावहारिक शब्द-कोश है, जो आज भी बड़ा उपयोगी सिद्ध हो रहा है । मंकेजी नामक एक और अंग्रेज ने पुराने शासकों के रिवाजों को इट्टा किया । काउडवेल ने 'इविड नाया शास्त्र' के नाम से दक्षिणी भाषाओं का व्याकरण लिखा । सामूहिक दृष्टि से देखने पर तेलुगु भाषा पर अंग्रेजी का पूरा प्रभाव पडा । तेलुगु का चौमुखी विकास होने लगा । अंग्रेजों ने भाषा के साथ प्राचीन जिलों की भी रक्षा की है । जबकि मुननमानों ने उनका ध्वस्त किया था, अंग्रेजों ने उनका उद्धार किया । हुन्नी के नडहरों की, अनरावती के न्गों की, प्राचीन मन्दिरों तथा किनों की नरम्भत करवाई । कहीं कुछ निगान निगने पर मुदाई करके गिधितावस्था में पडे हुए शिल्पाणों को बाहर निकाला और दस प्रकार हनारे पूर्वजों की कला-सम्पत्ति की रक्षा की । अंग्रेजों इनके ने जब यह सब हो रहा था, तब निजाम के हैदराबाद में भी ऐसे काम आगे बढ़ने ही थे । बरगन के नडहरों, रामप्पमन्दिर, निवकनरों, पानगन आदि जिल्लावगणों की रक्षा होने लगी ।

१८५७ के बाद उत्तर सरकारों में ही अधिक उन्नति हुई । रायल-सीमा उनसे बहुत पीछे था । किन्तु हैदराबाद का तेलगारा रायलसीमा में भी गया-गुजरा था । हैदराबाद का गानन ही तेलगारे की अवनति का कारण था ।

अन्ध प्रति के ती ती वर्षों के इतिहास का यहाँ सुक्षिप्त रूप ही बनाया गया है । निगने योग्य बातें और भी बहुत सारी हैं । योग्य विद्वानों की दृष्टि से सामाजिक इतिहास का हनारा यह अभाव दूर हो जायगा ।

परिपूर्ण-शुत-पुष्पाबु-भंगि-उद्वेग गीतमो<sup>१</sup> के मन्नीर ममन वाली,  
 प्रातमपुर के नन्दनाराम-विभ्राजि फलाधिराज मलगोबा<sup>२</sup> के

मुस्वाडु रस-धन वाली

१. गीतमो = गोदावरी नदी ।

२. मलगोबा = स्यारिष्ट ग्राम ।

भ्रान्धी-कुमारिका-सभायुक्त परिपूत तुङ्गभद्रा पयस्विनी के मधु-  
 तुल्य पयस् वाली,  
 खंडसार-जाति-खजूर-द्राक्ष-गोक्षीर आदि के रसरंजन मधुरस  
 वाली,  
 वत्सकी-मुधानिष्यदि-ह्लाद, रागिनी-दिव्य सम्मोह-राग वाली  
 माता  
 मधु के मनहरण प्रवाह-तुल्य वाग्धार हमारी तेलुगु श्लोशाली  
 माता !

